Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नीति विवेचन

A MANUAL OF ETHICS

दीवान चन्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Prof. Sundar Das ji M.A.
With best compliments
Diwan Chand

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नीति विवेचन

A MANUAL OF ETHICS

दीवान चन्द

एम० ए०, डी० लिट्०

पूर्व प्रिन्सिपल, दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज, कानपुर

पूर्व वाइस चान्सलर, आगरा विश्वविद्यालय

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya 301

नारायण एण्ड कम्पनी,

मेस्टन रोड, कानपुर

पहला संस्करण १९५५ ६)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyala
301

मुद्रक—
पी० सी० कपूर
सिटीजन प्रेस, कानपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तावना

भारत के विधान में हिन्दी को राज्य-भाषा स्वीकार किया गया है। यह घोषणा भी की गयी है कि १५ वर्षों के अन्दर राज्य का कार्य, जो अब अंग्रेजी में होता है, हिन्दी में होने लगेगा।

इस निश्चय ने राज्य और जनता के लिये कई महत्वपूर्ण समस्याएं प्रस्तुत कर दी हैं। प्रत्येक देश में राष्ट्र का काम शिक्षित वर्ग के हाथों में होता है। भारत में भी ऐसा ही है, और ऐसा ही रहेगा। अभी तक अंग्रेजी उच्च शिक्षा का माध्यम रही है। देश के जिन प्रांतों में हिन्दी बोली जाती है, उन्हें भी अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को देने में कुछ कठिनाई होगी, परन्तु कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना तो जीवन का काम ही है। उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में, इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विश्वविद्यालयों और कालेजों में पढ़ाने के लिये उपयोगी पुस्तकें तैयार की जायँ। केन्द्र और राज्यों की ओर से भी इस की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है।

जो लोग उच्च शिक्षा का कार्य करते हैं, वा करते रहे हैं, वह इस त्रुटि को पूरा कर सकते हैं, और उन्हें इसे पूरा करने में पूरा सहयोग देना चाहिये। मैं भी अपने आप को इन लोगों में गिनता हूँ। मेरा सक्रिय जीवन इसी काम में गुजरा है, और मैं समझता हूँ कि मुझे भी इस शुभ कार्य में अपना अल्प भाग लेना चाहिये। 'नीति विवेचन' इस भावना का साकार रूप है। अन्य लेखकों की भाँति मेरा भी ख़्याल है कि मेरी रचना की आवश्यकता है। इसकी माँग भी होगी वा नहीं, यह तो समय बीतने पर ही पता लगेगा।

इस समय जो कुछ हमारे विद्यार्थी कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं, वह विदेशी भाषा में तो होता ही है; पुस्तकों के लेखक भी प्रायः विदेशी होते हैं, और उनके विचारों का वातावरण भी विदेशी होता है। दर्शन के संबन्ध में एक विशेष कठिनाई भी है। पश्चिम में एक निश्चित विचार धारा चलती रही है। भारत के विचार इस धारा से पृथक रहे हैं। उदाहरण के लिये, मैं अभी नीति पर तीन अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों को देखता हूँ। इनमें ५६,१२८, और १४१ विचारकों और लेखकों के नाम आते हैं। पहली

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दो पुस्तकों में कोई भारतीय नाम नहीं; तीसरी में दो नाम पादटिप्पणियों में हैं, और तीसरे नाम की ओर एक वाक्य में संकेत किया गया है। कालेजों में हम जो कुछ पढ़ते पढ़ाते हैं, उससे तो प्रतीत होता है कि नीति विदेशों से आयी हुई वस्तु है। नीति जिन प्रश्नों पर विचार करती है, वह सब के लिये विचार के प्रश्न हैं। पश्चिम में यूनान, इंगलैंड और जर्मनी ने नैतिक विचार में विशेष भाग लिया है; हमारे यहां भी यह विचार अनेक पुस्तकों में बिखरे पड़े हैं। 'नीति विवेचन' में पूर्व पश्चिम के भेद को यथा संभव एक ओर रखा गया है।

नीति की परिभाषा हिन्दी में अभी निश्चित नहीं। महत्व की बात तो इतनी ही है कि जो कुछ लेखक कहता है, उसे पाठक समझ सकें। सुविधा के लिये पुस्तक के अन्त में छोटी सी शब्दावली भी दी गयी है।

दर्शन में जो कुछ हम पढ़ते हैं, उससे अधिक महत्व हमारे अपने मनन का है। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक कांट कानिग्सबर्ग में प्रोफ़ेसर था। वह अपने विद्यार्थियों से कहा करता था—'मैं दर्शन नहीं पढ़ाता; दार्शनिक विवेचन की विधि बताता हूँ।' पाठक अनेक विचारकों के सम्पर्क में आएंगे। जो कुछ वे पढ़ेंगे, वह उनके मनन की सामग्री ही है। विशेष महत्व की वस्तु तो उनका अपना मनन है।

६३, छावनी, कानपुर।
१–२–१९[illegible]५ दीवान चन्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय-सूची

१. विषय प्रवेश

अध्याय		पृष्ठ
१.	नीति का क्षेत्र, विषय, और विधि	१
२.	नीति और उसके सम्बन्ध	९
३.	कुछ मौलिक प्रत्यय	२०

२. नीति की वैज्ञानिक नीवें

१.	कर्म का मनोविज्ञान	२७
२.	प्रेरक और प्रयोजन	३५
३.	आचरण और आचार	३९
४.	नैतिक निर्णय	४७

३. नैतिक सिद्धान्त

१.	सामान्य विवरण	५५
२.	बाह्य नियम	६४
३.	आन्तरिक नियम (१)	७२
४.	आन्तरिक नियम (२)	८२
५.	भोगवाद	९०
६.	शिवसंकल्प	१०८
७.	आत्म-सिद्धि वा सर्वांश-विकासन	१२०
८.	विकासवाद और नीति	१३१
९.	मूल्य और नीति	१३९
१०.	अहंवाद और आत्म-समर्पण	१४८
११.	'अष्टांग योग' और 'अष्टांग आर्य्य मार्ग'	१५८
१२.	भगवद्गीता का कर्मयोग	१६८

४. नीति व्यवहार में

१.	व्यक्ति और समाज	१७७
२.	अधिकार और कर्त्तव्य	१८६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अध्याय		पृष्ठ
३.	वृत्त और कर्त्तव्य–परायणता	२०१
४.	अहिंसा, न्याय, और उपकार	२१३
५.	सामाजिक व्यवस्था और उसके अंग	२२२
६.	राष्ट्र : इसका स्वरूप और प्रक्रियाएँ	२३१
७.	जीवन का अँधियारा पक्ष	२४०
८.	प्रगति और नैतिक उन्नति	२५५
९.	निराधीनता, पराधीनता, और स्वाधीनता	२६७
	परिचय	२७९
	शब्द-सूची	२८५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

कठ उपनिषद (३:१४)

उठो, जागो । भले पुरुषों के सम्पर्क में आकर कुछ सीखो ।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जैसे छुरे की धार तीक्ष्ण होती है, उसी प्रकार आत्म-सिद्धि का मार्ग दुर्गम है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहला भाग

विषय प्रवेश

१. नीति का क्षेत्र, विषय और विधि

१. ज्ञान और विज्ञान

'ज्ञान शक्ति है।'

बेकन के इस विख्यात कथन का अभिप्राय यह है कि ज्ञान हमें सशक्त बनाता है। जीवन अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने का नाम है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि हम अपने वातावरण को और अपने आपको समझें। यह काम जीवन के आरम्भ से होने लगता है, और जीवन भर जारी रहता है। दोनों हालतों में हमें पग पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और फिर भी हम भूल करते हैं। भूल करना मनुष्यत्व का चिन्ह ही है। जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है कि इन भूलों की संख्या कम होती जाय, और बड़ी भूलें छोटी भूलें बनती जायें। इसका प्रमुख साधन ज्ञान को व्यवस्थित करना है। यह व्यवस्था ज्ञान को विज्ञान में बदल देती है।

मैं देखता हूँ कि पका हुआ फल वृक्ष से अलग हो जाता है, और पृथ्वी पर आ पड़ता है। यदि कोई मनुष्य कच्चे फल को पत्थर मार कर शाखा से अलग कर दे, तो भी वह रुष्ट होकर ऊपर आकाश में नहीं जाता, नीचे पृथ्वी पर ही आता है। मैं समुद्र के किनारे जाता हूँ और देखता हूँ कि समुद्र का जल ऊपर उठता है, फिर नीचे आता है; और यह क्रम जारी रहता है। कभी कभी यह भी देखता हूँ कि सूर्य वा चन्द्रमा को ग्रहण लगता है। यहाँ तक मेरा ज्ञान तीन असम्बद्ध तथ्यों के रूप में है। मेरा मित्र मुझे बताता है कि फल का पृथ्वी पर गिरना, ज्वारभाटा और ग्रहण एक ही प्राकृत नियम–आकर्षण–के दृष्टान्त हैं। अब मेरा ज्ञान विज्ञान बन जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जानने के लिए सारा ब्रह्मांड पड़ा है। अनेक मनुष्य ज्ञान के साझे भंडार को बढ़ाने में लगे हैं, और पूर्वजों का ज्ञान भी लेख-बद्ध हो चुका है। आयु अल्प और प्राप्तव्य ज्ञान की मात्रा इतनी बड़ी ! विद्यार्थी का काम सुगम हो गया है, किन्तु कठिन भी हो गया है। विज्ञान की विविध शाखाओं ने काम बाँट लिया है; इससे कठिनाई कुछ कम हो गयी है।

२. कर्म-व्यवस्था और नैतिक कसौटी

ज्ञान का मुख्य फल कर्म है। जीवन में हम कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। ज्ञान हमारे कर्म में परिवर्तन करता है। ज्ञान की भाँति कर्मों की व्यवस्था भी आवश्यक है। मनुष्य के कर्मों की व्यवस्था कुछ तो उसकी प्रकृति ने ही कर दी है। नैसर्गिक उत्तेजन इस व्यवस्था के प्रमुख कारण हैं। पशुओं में ऐसा ही होता है। चूहा बिल्ली को देखते ही भाग जाता है; गौ की उपस्थिति में उदासीन रहता है। प्रत्येक उत्तेजन के साथ कोई उद्वेग मिला होता है। प्रत्येक मनुष्य के कार्यों का बड़ा भाग उसके उत्तेजनों और उद्वेगों से व्यवस्थित होता है। सामाजिक जीवन में अनुकरण भी इसी दिशा में काम करता है। व्यक्ति वही करने लगता है, जो अन्य मनुष्यों को करते देखता है। अनुभव बताता है कि अनुकरण करना सुगम ही नहीं, लाभकारी भी है।

अब मनुष्य की बुद्धि आगे आती है। नैसर्गिक उत्तेजनों के सम्बन्ध में यह सोचती है कि इन्हें खुली छुट्टी देना ठीक है, वा इन पर किसी प्रकार की रोक की आवश्यकता है। अनुकरण के सम्बन्ध में यह पूछती है कि जो कुछ दूसरे कर रहे हैं, वह सारे का सारा अच्छा है, वा इसमें संशोधन का अवकाश है। इस सोच में एक बहुत बड़ा पग उठा लिया गया है। 'ठीक', 'न ठीक', 'संशोधन'—यह प्रत्यय कर्म-व्यवस्था को एक नये और ऊँचे स्तर पर ले जाते हैं। विज्ञान का काम गिनना, तोलना, मापना है। इसके लिये उपयोगी यन्त्र मौजूद हैं। कपड़ा मापने के लिये प्रामाणिक गज मौजूद हैं; आटा तोलने के लिये प्रामाणिक सेर मौजूद हैं। कर्मों के सम्बन्ध में, बुद्धि का काम उनका तौलना मापना नहीं, उनके गुण-दोष की परख करना है। इस परख के लिये एक कसौटी की आवश्यकता है। ऐसी कसौटी की खोज करना नीति का उद्देश्य है। यह कसौटी क्या है ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साधारण व्यवहार के लिये समाज ने कुछ निश्चय किये हुए हैं। इनके अनुकूल आचरण करने की आशा प्रत्येक नागरिक से की जाती है। जब कोई मनुष्य रेलगाड़ी में सफ़र करता है, तो आशा की जाती है कि वह अपने सफ़र के लिये नियत किराया देगा, और उतना ही स्थान रोकेगा जितना उसके हिस्से में आता है। जीवन की सारी क्रिया ऐसे सरल नियमों में नहीं आती। समाज में कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा बहुत ऊँचे स्तर पर होते हैं। वह चिन्तन करते हैं, और अपने लिये कुछ उद्देश्य निश्चित करते हैं। यह उद्देश्य न तुरन्त सिद्ध हो सकते हैं, और न ही आसानी से सिद्ध होते हैं। ऐसे उद्देश्यों को आदर्श कहते हैं। सर्वसाधारण प्राय: प्रचलित प्रथा वा स्वीकृत उद्देश्यों को अपना आदर्श स्वीकार कर लेते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी बड़े पुरुष का आदर्श स्वीकृत मापक वा कसौटी बन जाता है। हर हालत में, ऐसे आदर्श की खोज करना, जो मनुष्यों के वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार को उचित रूप में व्यवस्थित कर दे, नीति का प्रमुख काम है।

३. नीति दर्शन का भाग है, वा विज्ञान की शाखा है ?

बीसवीं सदी के आरम्भ तक नीति को प्राय: दर्शन के अन्तर्गत समझा जाता था; अब बहुतेरे लोग इसे विज्ञान की एक शाखा समझते हैं। दर्शन और विज्ञान में से नीति किसके अंतर्गत है ? और यदि किसी के भी अन्तर्गत नहीं, तो किसके अधिक निकट है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें दर्शन और विज्ञान के स्वरूप पर चिन्तन करना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा गया है, विज्ञान अपना काम विविध शाखाओं में बाँट देता है। प्रत्येक शाखा अपने लिये क्षेत्र चुन लेती हैं, और उसी को अपने अध्ययन का विषय बनाती है। ज्योतिष यह नहीं बताता कि मानव उत्तेजनों में प्रमुख कौन हैं; मनोविज्ञान यह नहीं बताता कि पृथ्वी सूर्य के गिर्द क्यों घूमती है। प्रत्येक शाखा कुछ धारणाओं के साथ आरम्भ करती है, और उनकी बाबत कोई आलोचना नहीं करती। भौतिकी इस विवाद में नहीं पड़ती कि प्रकृति का अस्तित्व असंदिग्ध है, वा इसमें संदेह हो सकता है। यह प्रकृति के अस्तित्व को फ़र्ज़कर के चलती है। इसी तरह, मनोविज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के अस्तित्व और उनके भेद को स्वीकार करके चलता है; और उनके सम्बन्ध को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। विज्ञान का तीसरा चिन्ह यह है कि वह अपने आपको प्रकटनों तक सीमित रखता है। उन प्रकटनों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का परीक्षण, उनकी व्यवस्था, और उनका समाधान इसका काम है। जो कुछ दृष्ट है, वा दृष्ट हो सकता है, वह, और वही, इसका विषय है। यदि कोई सत्ता इन प्रकटनों से परे है, तो उससे विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं।

दर्शन इन तीनों अंशों में विज्ञान से भिन्न है। यह अपने लिये कोई विशेष क्षेत्र नहीं चुनता। जो कुछ भी जाना जा साकता है, इसका विषय है। विवेचन के बाद यह इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि प्रकटनों से परे कुछ नहीं, परन्तु विज्ञान की तरह यह उसकी ओर उदासीन नहीं हो सकता। यह किसी धारणा को बिना आलोचना किये स्वीकार नहीं करता। विज्ञान की शाखाएँ जो कुछ फ़र्ज़ करके चलती हैं, यह उन सब की आलोचना करता है। तीसरा भेद यह है कि यह अपने आप को प्रकटनों तक सीमित नहीं रखता। इसके लिये प्रधान विषय तो यही है कि प्रकटनों से परे कोई सत्ता है वा नहीं; और यदि है, तो उसका जानना संभव है, वा नहीं; और यदि संभव है, तो उसका स्वरूप क्या है ?

अब देखें कि नीति की स्थिति क्या है ?

इसका क्षेत्र सीमित है। प्रकृति का अध्ययन इसका काम नहीं। मानव-जीवन में भी आचरण और आचार की परख से ही इसका सम्बन्ध है। इस अंश में नीति दर्शन से भिन्न है, और विज्ञान की शाखाओं से मिलती है। क्या नीति किसी धारणा को फर्ज करके चलती है ? यही तथ्य है। नीति आरंभ से ही फर्ज कर लेती है कि—

(१) शुभ और अशुभ, भद्र और अभद्र, का भेद वास्तविक है; कल्पना मात्र नहीं।

(२) हमारे लिये इस भेद का जानना संभव है।

(३) इस भेद को जानने के बाद यह हमारे वश में है कि हम भद्र को अपनाएं, और अभद्र को त्याग दें, वा उससे बचे रहें।

दर्शन इन तीनों धारणाओं को अपनी आलोचना का विषय बनाता है। 'शंकावाद' कहता है कि प्रथम तो शुभ और अशुभ में वास्तविक भेद है ही नहीं; और यदि है, तो इसका ज्ञान हमारी शक्ति से बाहर है। पुराने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शंकावादी यह नहीं कहते थे—'ऐसा है'; 'वैसा नहीं'। वह कहते थे—'मुझे ऐसा प्रतीत होता है'; 'संभवतः ऐसा है'। मनुष्य की स्वाधीनता तो अब भी विवाद का विषय है।

दूसरा चिन्ह भी नीति को विज्ञान के निकट लाता है।

अब तीसरे चिन्ह की बाबत देखें। विज्ञान का विषय दृष्ट है, वा वह जो दृष्ट हो सकता है। वैज्ञानिक अणु और परमाणु को देख नहीं सकता, परन्तु इसका कारण यह है कि आज उसके पास उन्हें देखन के उपयोगी यन्त्र मौजूद नहीं। उन्हें देखने की संभावना तो है ही। नीति शुभाशुभ की कसौटी पर विवेचन करती है। क्या यह कसौटी दृष्ट वस्तु है, वा दृष्ट हो सकती है? मूल्य तो ज्ञान-इन्द्रियों का विषय ही नहीं। किसी कर्म की बाबत मैं यह तो जान सकता हूँ कि वह किस अभिप्राय से किया गया है, वा उसका फ़ल क्या है; परन्तु उसके मूल्य का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान न है, न हो सकता है। मूल्य प्रकटन नहीं; यह अन्तिम सत्ता का एक पृथक पहलू है। इस अंश में, नीति विज्ञान से नहीं, अपितु दर्शन से मिलती है। नीति विज्ञान की भाँति विवरण नहीं; यह विवेचन है। कुछ लोग नीति को 'व्यावहारिक दर्शन' कहते हैं। दर्शन तो सारा विवेचन ही है। यदि नीति का सम्बन्ध व्यवहार से प्रकट करना ही हो, तो इसे 'व्यवहार का तत्व-ज्ञान' कह सकते हैं।

४. नियामक विज्ञान

कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञान अध्ययन का विषय नहीं, अध्ययन की विधि वा रीति है। किसान खेती बाड़ी की बाबत जानता है, परन्तु उसका ज्ञान कृषि-विशारद के ज्ञान से भिन्न है। दोनों के अध्ययन की रीति में भेद है। प्रत्येक विषय का अध्ययन वैज्ञानिक वा अवैज्ञानिक रीति से हो सकता है। इस दृष्टिकोण से देखें, तो न नीति न कोई और विषय विज्ञान से अलग हो सकता है।

अध्ययन का उद्देश्य विवरण वा मूल्य की जाँच होता है। प्राकृत विज्ञान में विवरण प्रधान है; विज्ञान की कुछ शाखाओं में मूल्य की जाँच प्रमुख होती है। इन्हें 'नियामक विज्ञान' का नाम दिया जाता है। नीति नियामक विज्ञान है। इसका काम क्रिया के वास्तविक स्वरूप को देखना नहीं, अपितु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उस कसौटी की खोज करना है, जिसके प्रयोग से कर्मों के मूल्य की जाँच हो सके। 'न्याय' और 'सौन्दर्य-शास्त्र' भी नियामक विज्ञान हैं। मनोविज्ञान के लिये सारा अनुभव अध्ययन का विषय है। न्याय-शास्त्र सत्य और असत्य का भेद बताता है। सौन्दर्य-शास्त्र सुन्दर और कुरूप के भेद को व्यक्त करता है।

दैनिक प्रयोग की वस्तुओं की कीमत को 'बाजारी कीमत' कहते हैं। ऐसी वस्तुओं के मूल्य का अध्ययन करना अर्थशास्त्र का काम है।

नीति, न्याय और सौन्दर्य-शास्त्र का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। कुछ लोग तो नीति को 'संकल्प-न्याय' और न्याय को 'चिन्तन-नीति' कह देते हैं। कुछ लोग नैतिक–बोध को सुलझी हुई अभिरुचि ही समझते हैं। प्राचीन यूनान में एक ही शब्द 'भद्र' और 'सुन्दर' के लिए प्रयुक्त होता था।

५. नीति के प्रमुख प्रश्न

शुभ–अशुभ का भेद कर्मों में किया जाता है। प्रत्येक कर्म में दो भाग होते हैं: एक दृष्ट, दूसरा अदृष्ट। दृष्ट भाग को हर कोई देख सकता है। अदृष्ट भाग प्रेरक वा प्रयोजन है, जो दृष्ट भाग में व्यक्त होता है। इस की बाबत साक्षात-ज्ञान तो कर्त्ता को ही हो सकता है। कर्त्ता प्रेरकों का समन्वय ही है। कर्त्ता के सम्बन्ध में भी श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का भेद किया जाता है। जो कुछ कर्ता करता है, किसी प्रयोजन वा लक्ष्य को सामने रखकर करता है, इन लक्ष्यों में भी भद्र-अभद्र का भेद किया जाता है। इस तरह, कर्त्ता के सम्बन्ध में, उसके लक्ष्यों और उसके कर्मों पर नैतिक निर्णय दिया जाता है। प्राचीन यूनान में, सर्वश्रेष्ठ भद्र वा निःश्रेयस की खोज नीति का प्रथम ध्येय था। ऐसा ही प्राचीन भारत में विचारकों का मत था। जब निःश्रेयस की बाबत पता लग जाय, तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि निःश्रेयस की उपलब्धि के लिये क्या करना चाहिये। अन्य शब्दों में, भद्र मौलिक प्रत्यय है, और कर्त्तव्य वा सदाचरण गौण प्रत्यय है, और भद्र के प्रत्यय पर आधारित है। जो काम भी भद्र का साधन है, वह शुभ काम है। आधुनिक काल में कुछ विचारकों ने इस क्रम को बदल दिया है। उनके विचारानुसार नीति का प्रमुख प्रश्न कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की बाबत निश्चय करना है। कर्त्तव्य कर्म का फल, जो कुछ भी वह हो, केवल ऐसा फल होने से ही, भद्र बन जाता है। कर्तव्य नीति में मौलिक प्रत्यय है। जर्मनी के दार्शनिक कांट ने इस विचार को बल से प्रस्तुत किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हर हालत में, नीति में प्रधान प्रश्न दो हैं—

(१) अन्तिम उद्धेश्य वा निःश्रेयस का स्वरूप क्या है ?

(२) मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है ?

६. नीति की विधि

अन्त में नीति की विधि की बाबत कुछ शब्द कहना आवश्यक है।

जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ विचारक नीति को दार्शनिक विवेचन समझते हैं ; कुछ इसे विज्ञान की शाखा बताते हैं। नीति की विधि के सम्बन्ध में इन दोनों दलों के विचारों में भेद है। एक दल दार्शनिक विधि को अपनाता है ; दूसरा विज्ञान की स्वीकृत विधि को। विज्ञान तीन प्रश्नों का उत्तर देता है:—क्या ?, कैसे ?, क्यों ? यह तथ्यों को एकत्र करता है ; उन्हें व्यवस्थित करता है; और उन का समाधान करने का यत्न करता है। इस तरह, इसकी नींव अनुभव पर होती है। दर्शन विशुद्ध बुद्धि का आश्रय लेता है। अनुभव का तो समाधान करना है ; इसे समाधान के लिये बर्त्ता नहीं जा सकता। दर्शन और विज्ञान की विधियों को 'अनुभव-पूर्व' और 'अनुभव–अपर' विवियाँ कह सकते हैं।

एक उदाहरण से इस भेद को समझ सकते हैं। नीति में एक प्रमुख प्रश्न भोग वा सुख के मूल्य का है। क्या यह अन्तिम लक्ष्य है ? अफलातूँ ने यह देखने की चेष्टा की कि क्या निःश्रेयस के लक्षण भोग में पाये जाते हैं। उसकी सम्मति में, निःश्रेयस में यह लक्षण होने चाहिय :—

(१) यह एक हो; इसमें किसी प्रकार का नानात्व न हो।

(२) इसमें किसी प्रकार का आन्तरिक विरोध न हो।

(३) यह पूर्ण तुष्टि दे सके। इसके प्राप्त होने पर कोई त्रुटि बाकी न रहे।

भोग कई प्रकार का है; एक भोग और दूसरे भोग में विरोध होता है; और स्वयं भोगी भी नहीं समझता कि उसे और कुछ नहीं चाहिये।

भोग में निःश्रेयस के लक्षण नहीं हैं, इसलिये यह निःश्रेयस नहीं।

जान स्टुअर्ट मिल अनुभववादी था। उसने कहा–प्रत्येक मनुष्य अपने वा किसी अन्य मनुष्य के वर्तमान वा भविष्य के सुख की ही कामना करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इससे स्पष्ट है कि भोग वा सुख ही अन्तिम लक्ष्य है। जो कुछ व्यापक रूप में वांछित है, वही वांछनीय है।

विज्ञान का काम, जैसा पहले कह चुके हैं, साधारण ज्ञान को व्यवस्थित बनाना है। नैतिक निर्णय भी इसी प्रकार का काम है। हम सब कर्मों के अच्छा बुरा होने की बाबत कहते रहते हैं। नीति का काम यही है कि प्रचलित विचारों की जाँच करे और उनके आन्तरिक विरोध को दूर करके, उन्हें व्यवस्थित बना दे।

विवेचन का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है। जो विधि इसमें सहायक हो, वही ठीक विधि है। प्रायः दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. नीति और उसके सम्बन्ध

१. ज्ञान और उसके विविध रूप

ज्ञान का विषय स्वयं ज्ञाता और उसका वातावरण है। इस वातावरण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग मानव-समाज है। ज्ञान के दो प्रमुख भाग हैं। एक का सम्बन्ध सृष्टि के उस भाग से है जिसमें नियम का अटल राज है; दूसरे का सम्बन्ध उस भाग से है जिसमें स्वाधीनता भी विद्यमान है। ज्योतिष, भौतिकी, रसायन–शास्त्र और प्राण–विद्या ज्ञान के पहले भाग के अन्तर्गत आते हैं। मनुष्यों की क्रियाओं का विवरण दूसरी प्रकार की विद्याओं में आता है। यह क्रियाएँ संकल्प का प्रकटन होती हैं। यही चिह्न इन्हें प्राकृत घटनाओं से पृथक करता है। इस श्रेणी की विद्याओं में भी दो उप-श्रेणियाँ हैं। कुछ विज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह वास्तविकता का विवरण करती हैं, कुछ मूल्य की परख को अपना विषय बनाती हैं। मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र पहली प्रकार की उप-श्रेणियाँ हैं; नीति, अर्थशास्त्र और राजनीति दूसरी प्रकार की उप-श्रेणियों में हैं।

साधारण विचार में हम कहते हैं कि ज्ञान-क्षेत्र को विविध विद्याओं ने बाँट लिया है, और वह अपने अपने उप–क्षेत्र के अनुसंधान में लगी हैं। इस प्रकार के विचार से यह भ्रम हो सकता है कि विविध विद्यायें एक दूसरे से असंबद्ध हैं। यह ठीक नहीं। इन विद्याओं की उपमा एक पुस्तक के विविध अध्यायों से दी जा सकती है, जो एक ही विषय को अनेक दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करते हैं; वा एक ही भवन के चित्रों से, जो विविध दृष्टिकोणों से लिये गये हैं। सारी विद्याएँ एक ही सृष्टि को दर्शाती हैं; इसलिए उनमें कुछ न कुछ सम्बन्ध होता ही है।

नीति का विशेष सम्बन्ध उन विद्याओं से है जो मानव वा मानव-समाज की बाबत बताती हैं। इन सम्बन्धों की बाबत तनिक विचार करें।

२. नीति और मनोविज्ञान

जैसा हम देख चुके हैं, नीति का प्रमुख काम शुभ और अशुभ के भेद को स्पष्ट करना है। यह भेद उन कर्मों में पाया जाता है जो किसी प्रयोजन से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किये जाते हैं। हर प्रकार के कर्मों की बाबत विचार करना मनोविज्ञान का काम है। मनोविज्ञान का क्षेत्र कर्मों से परे भी जाता है। मैं यह लेख लिख रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि क्या लिख रहा हूँ। मैं लिखता हूँ, क्योंकि ऐसा करने में मुझे प्रसन्नता होती है। पहले मन की बनावट मनोविज्ञान का विषय समझा जाता था; अब मन की क्रियाओं पर विशेष ध्यान देते हैं। ज्ञान, भाव (अनुभूति), और कर्म का विवरण मनोविज्ञान का काम है। मनोविज्ञान सारे कर्मों, सारे भावों, सारे ज्ञान को अपने अध्ययन का पात्र समझता है। इसके लिये दार्शनिक का विचार और पागल का विचार, प्रेम और द्वेष, सदाचरण और दुराचरण अध्ययन का विषय होने के नाते, सब एक ही स्तर पर हैं। मनोविज्ञान वास्तविकता का वर्णन करता है—हम कैसे देखते, सुनते और सोचते हैं; कैसे हर्ष, शोक को अनुभव करते हैं; कैसे क्रिया करते हैं।

जब ज़रा होश आता है, तो हम सत्य और असत्य में, सुन्दर और कुरूप में, भले और बुरे में भेद करते हैं। इन भेदों को ठोस नीवों पर रखना न्याय, सौन्दर्य-शास्त्र और नीति का काम है। यह तीनों मनोविज्ञान के भाग नहीं; मनोविज्ञान के तीन भागों के व्यावहारिक आधेय हैं। मनोविज्ञान बताता है—हम क्रिया कैसे करते हैं; नीति बताती है—हमें कैसी क्रिया करनी चाहिए।

नीति का आरम्भ ही नहीं हो सकता, जब तक हमें यह पता न लग जाय कि हम क्या कुछ कर सकते हैं। शुभ काम एक से अधिक संभव कार्यों में से चुना जाता है। जब तक उन संभावनाओं का ज्ञान न हो, चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। जो कुछ करना मेरे लिए संभव ही नहीं, वह मेरा कर्तव्य कैसे हो सकता है? कुछ विचारक इससे आगे जाते हैं, और कहते हैं कि हमारा लक्ष्य हमारी वास्तविक भावनाओं में ही निहित है। जैसे पहले कह चुके हैं, जान स्टुअर्ट मिल ने कहा कि सारे मनुष्य सुख-प्राप्ति की चेष्टा करते हैं; इसलिए यही अन्तिम लक्ष्य है। इस विचार के अनुसार नीति सूझ-बूझ ही है।

३. नीति और समाज-विद्या

समाज-विद्या वा सोशियालोजी विद्याओं में एक नया आगम है। फ्रांस के विचारक, आगस्ट कांट (१७९८-१८५७) ने इसे विज्ञान की शाखाओं में प्रविष्ट किया, और उनमें इसे प्रमुख स्थान दिया। समाज और व्यक्ति के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्ध पर प्राचीन काल से विचार होता आया था, परन्तु इन विचारों में समाज को राष्ट्र के रूप में ही देखा जाता था। कांट ने अपने विवरण में नीति, राजनीति और मनोविज्ञान को स्वतन्त्र विद्याओं का पद नहीं दिया। उसकी सम्मति में, यह सब समाजशास्त्र के अन्तर्गत ही हैं।

कांट सामाजिक व्यवस्था और इसके आधार नियमों का वर्णन करता है। इस व्यवस्था में क्रम और स्वतंत्रता प्रमुख चिह्न हैं। समाज में पहला अंश परिवार है; दूसरा अंश वर्ग है। वर्ग व्यक्तियों का नहीं, अपितु परिवारों का समुदाय है। समाज में व्यवस्था का तीसरा अंश राज्य है। जब परिवार, वर्ग और राज्य के संगठन में सामंजस्य होता है, तो स्वतंत्रता प्रकट होती है। स्वतंत्रता का विकास वा उत्थान उन्नति के रूप में व्यक्त होता है। इस उन्नति में, 'नियंत्रण' विशेष भाग लेता है।

मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण प्राप्त करता है; मनुष्य की बुद्धि नैसर्गिक उत्तेजनों पर नियंत्रण करती है; सामाजिक भावनाएं स्वार्थ पर प्रभुत्व प्राप्त करती हैं।

यदि हम कांट के विवरण को सर्वथा ठीक मान लें, तो भी प्रश्न उठता है कि यह विवरण नीति के साथ क्या सम्बन्ध रखता है। हम जानना चाहते हैं--'हमें क्या करना चाहिये ?' कांट बताता है--'समाज में क्या होता है।' हमारे प्रश्न का उत्तर तो हमें नहीं मिलता। कांट के लिये यह कठिनाई नहीं थी, क्योंकि उसने अपने सिद्धान्त का आरम्भ ही इस ख़्याल से किया कि दर्शन का युग बीत चुका है; अब विज्ञान का युग है। हमारा काम वास्तविकता को देखना, और अपने आचरण को उस पर आधारित करना है।

हम तो दर्शन को भूतकाल की याद ही नहीं समझते; हम आदर्श की खोज में हैं। जहाँ तक नैतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, समाजशास्त्र का महत्व उतना ही है, जितना मनोविज्ञान का है। मनोविज्ञान बताता है कि व्यक्ति क्या करता है; समाजशास्त्र बताता है कि व्यक्तियों का समुदाय क्या करता है। दोनों में से यह कोई नहीं बताता कि आदर्श क्या है।

यह आलोचन शायद दूसरी सीमा तक जा पहुँचता है। समाज में जो व्यवहार प्रचलित हो गया है, वह यों ही हो गया है, वा किसी कारण से ? प्रचलित मर्यादा लाभकारी न होती, तो न चलती, न चलती रहती। यह ठीक है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि प्रचलित प्रथा में कुछ अनुचित अंश भी सम्मिलित हैं। जो कुछ कल काम का था, वह आज बेकार हो गया है, और त्याग देने के योग्य है। समाजशास्त्र हमें नैतिक निर्णयों में एक आवश्यक चेतावनी देता है। जब हम विशेष क्रियाओं वा प्रथाओं की जाँच करने लगें, तो उन्हें उनके देश, काल और वातावरण के संदर्भ में देखना चाहिए।

समाज बदलता रहता है। इसका अर्थ यह है कि उसकी मर्यादा, उसकी संस्थाएँ, उसके आदर्श भी बदलते हैं। इस परिवर्तन में विवेचन का बड़ा भाग होता है। सर्वसाधारण तो स्वीकृत मार्ग पर चलते हैं; विचारक और नेता नये पथ भी दिखाते हैं, और समय बीतने पर उनके आदर्श मर्यादा बन जाते हैं। नैतिक विचार समाज के उत्थान का प्रमुख साधन हैं।

४. नीति और अर्थशास्त्र

नीति और अर्थशास्त्र दोनों का विषय 'मूल्य' है; परन्तु दोनों की हालत में मूल्य एक प्रकार का नहीं। अर्थशास्त्र की दृष्टि में, जो कुछ किसी मनुष्य की किसी आवश्यकता को पूरा करता है, वह मूल्यवान है। इन आवश्यकताओं के मूल्य की बाबत अर्थशास्त्र किसी विवाद में नहीं पड़ता। नीति इसकी ओर से उदासीन नहीं हो सकती। एक पुरुष को अफ़ीम खाने की आदत हो गई है। उसके लिये अफीम का मूल्य है। नीति उसकी आदत को तोड़ना चाहती है। नीति ऐसे मूल्यों का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहती है जो साधन न हों, अपितु साध्य हों। जो कुछ साध्य की उपलब्धि के लिये आवश्यक है, उसकी ओर से नीति उदासीन नहीं हो सकती; परन्तु इसका पद गौण ही है।

यह तो विषय का भेद हुआ। अब देखें कि नीति और अर्थशास्त्र एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालते हैं।

ऊपर हमने देखा है कि नीति मनोविज्ञान और समाजशास्त्र पर आधारित है। नवीन काल में कुछ विचारकों ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि यह दोनों आर्थिक नियमों पर आधारित हैं। कार्ल मार्क्स ने इस विचार को बहुत महत्व दिया है। व्यक्ति और समाज जो कुछ करते हैं, वह आर्थिक कठिनाइयों से बचने और आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिये करते हैं। मानव जाति का इतिहास धनवान और निर्धन वर्गों के संघर्ष की कथा है। इसलिये नीति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को भी अर्थशास्त्र पर आधारित करना चाहिए। हमारे यहाँ भी एक कथन प्रसिद्ध है—'वह कौन सा पाप है जो भूखा पुरुष करने के लिये तैयार नहीं होता ?' इसका अर्थ यही है कि नैतिक जीवन के लिये आर्थिक कुशलता भी आवश्यक है। हम यह भी भूल नहीं सकते कि 'मनुष्य केवल रोटी पर ही नहीं जीता।'

अब स्थिति को दूसरी ओर से देखें। औद्योगिक क्रान्ति ने जीवन का चित्र ही बदल दिया है। आवश्यक पदार्थों का उत्पादन बहुत सुगम हो गया है। इसके फलस्वरूप कुछ नयी समस्यायें प्रस्तुत हो गई हैं। व्यक्तियों की स्थिति में भेद बहुत बढ़ गया है। कुछ लोग काम नहीं करते, क्योंकि उनका निर्वाह इसके बिना हो रहा है; कुछ लोग काम नहीं करते, क्योंकि उनके लिये काम नहीं हैं। इस स्थिति में हर ओर से 'सामाजिक न्याय' की माँग हो रही है। इस सामाजिक न्याय की रूप-रेखा का निश्चय करना नीति का काम है।

अर्थशास्त्र का सम्बन्ध पदार्थों के उत्पादन, विभाजन, अदल-बदल और भोग से है। इन सबके सम्बन्ध में नीति अपना दृष्टिकोण बनाती है। उत्पादन के सम्बन्ध में यही आवश्यक नहीं कि उसे बढ़ाया जाय; यह भी देखना होता है कि किन पदार्थों का उत्पादन करना है, किस अनुपात में करना है, और कैसे करना है। विभाजन और भोग भी सामाजिक न्याय और उपयोगिता की नींव पर होना चाहिये।

नीति और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि गाँधीजी ने तो एक बार इनको एक ही बताया था।

५. नीति और राजनीति

नीति और राजनीति दोनों का विषय वास्तविक कल्याण है। नीति बताती है कि यह उद्देश्य व्यक्ति के प्रयत्न से कैसे सिद्ध हो सकता है, राजनीति बताती है कि यह सामूहिक यत्न से कैसे सिद्ध होता है। प्रयोजन की समानता होने पर भी दोनों में कुछ भेद है:—

१. नीति के आदेश उपदेश व सुझाव के रूप में होते हैं। यह मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क को प्रेरणा करती है। राजनीति का आदेश हुक्म होता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिसे मानना पड़ता है। इन आदेशों का आधार राज्य की शक्ति पर होता है। प्रत्येक आदेश के साथ उस दंड की भी घोषणा की जाती है, जो आदेश न मानने की हालत में दिया जायगा।

२. राजनीति के आदेश प्राय: निषेधात्मक होते हैं। नीति इससे आगे जाती है, और यह भी कहती है कि आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की सहायता करो। राजनीति यह तो कहती है कि किसी राह-चलते को ठोकर मार कर गिरा न दो ; परन्तु कोई आप ठोकर खाकर गिर पड़े, तो उसे उठाने का आदेश नहीं देती। राजनीति न्याय पर बल देती है: नीति न्याय के साथ परोपकार को भी मिला देती है।

३. राजनीति की दृष्टि कर्मों तक ही जाती है; नीति कर्मों के प्रेरकों पर विशेष ध्यान देती हैं। राजनियम कहता है : 'चोरी न करो' ; नीति कहती है : 'दूसरों के धन का लालच न करो'।

नीति और राजनीति में यह दृष्टिकोण का भेद है। इनका आपसी सम्बन्ध क्या है ?

कांट ने कहा था कि 'नियन्त्रण' सामाजिक जीवन की नींव है। राजनीति मनुष्यों पर नियन्त्रण करती है : नीति में प्रत्येक मनुष्य अपने आप पर नियन्त्रण करता है। राजनीति शक्ति के प्रयोग पर आधारित है; नीति त्याग पर आधारित है। जातियों के जीवन में परोपकार के लिये कोई स्थान नहीं। इस तरह नीति और राजनीति के मार्ग जुदा-जुदा हैं। इटेली के विचारक मैकियेवेली (१४६९-१५२७) ने इस भेद पर बहुत बल दिया, और कहा कि राज्य के सामने प्रमुख प्रश्न अपने आप को सुरक्षित रखना और सशक्त बनाना है। जो कुछ इसके लिये लाभकारक है, वह सब ठीक है। नीति को राजनीति के क्षेत्र में आक्षेप नहीं करना चाहिये। हमारे यहाँ चाणक्य का ख्याल भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

विचारकों का बहुमत इसके विरुद्ध है। अफलातूं ने नीति को राजनीति का अंग बना दिया। 'अच्छा पुरुष अच्छे राष्ट्र का अच्छा नागरिक है'। जिन नियमों के पालन से राष्ट्र का भला होता है, उनका समूह ही नीति है। कुछ लोग इसके विपरीत कहते हैं कि नीति सामाजिक उद्देश्यों को निश्चित करती है ; राष्ट्र का काम उनकी पूर्त्ति के साधनों का वर्त्तना है। जर्मनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के दार्शनिक हेगल ने राष्ट्र को नैतिक संस्था के रूप में देखा। यह दार्शनिक हेगल का विचार था; परन्तु राज-भक्त हेगल ने दार्शनिक हेगल को पराजित कर दिया; और उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस का राष्ट्र, प्रशिया, दोष रहित है, और उसके आदेशों का पालन करना ही कर्त्तव्य है।

नीति भद्र और अभद्र में भेद करती है, और कहती है कि हर हालत में भद्र का पक्ष लेना चाहिये। हम न, मैकियेवेली के साथ, राजनीति को स्वतन्त्र पद दे सकते हैं, न, अफ़लातूं की तरह, इसे नीति का शासक बना सकते हैं। जीवन के प्रत्येक विभाग में, नीति का निर्णय अन्तिम निर्णय होना चाहिये।

६. नीति और धर्म

यूनान में नीति को राजनीति के अधीन किया गया था। जब ईसाइयत का प्रभाव पश्चिम में बढ़ा, तो राजनीति का स्थान धर्म ने ले लिया।

धर्म और नीति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति ऐसे नियमों की खोज करती है, जो सदाचरण के सम्बन्ध में निश्चित और निर्भ्रान्त नियम स्वीकृत हो सकें। धर्म ऐसे नियम बताने का दावा करता है। धर्म के अनुसार इन नियमों का नियन्ता ज्ञान और पवित्रता का स्रोत है।

हम बाहर की ओर देखते हैं। इसके फलस्वरूप हम वाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस जगत में नियम की व्यापकता है।

हम अन्दर की ओर देखते हैं। वाह्य जगत सब का सांझा जगत है। आन्तरिक जगत प्रत्येक का अपना जगत है; यहाँ मनुष्य को स्वाधीनता का दर्शन होता है। वाह्य जगत को नियमानुसार चलना पड़ता है; मनुष्य जिन नियमों पर चलता है, उन्हें अपनाता भी है।

हम ऊपर की ओर भी देखते हैं। ऐसी अवस्था में हमारी दृष्टि वास्तविकता से दूर, बहुत दूर, जा पहुँचती है। यह उमंगों की दुनिया है, और हम इसके वासी बनते हैं। धर्म का सम्बन्ध इस दुनिया से है। यह हमें अपने आप से ऊपर उठने के योग्य बनाता है। यह आदर्शों का महत्व हमारे हृदयों पर अंकित करता है। जर्मनी के दार्शनिक कांट ने कहा है कि जब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य अपने कर्त्तव्य को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में देखता है, तो उसके लिये नीति धर्म बन जाती है। इसका अर्थ यह है कि नीति और धर्म में आदेश तो एक ही हैं; आदेशों का स्रोत क्या है ? इस के सम्बन्ध में भेद है। थोड़े भेद के साथ, इसी प्रकार का विचार मैथ्यू आर्नल्ड ने जाहिर किया। उसकी सम्मति में, जब नीति के साथ उद्वेग कुछ मिल जाता है, तो वह धर्म का रूप ग्रहण कर लेती है। अन्य शब्दों में, जब कर्त्तव्य-कर्म श्रद्धा से किया जाय, तो वह धार्मिक कर्म हो जाता है।

नीति आचार और सदाचार के साथ सम्बन्ध रखती है। धर्म का सम्बन्ध समस्त जीवन से है। सत्य-ज्ञान, भक्ति और सदाचार तीनों इसमें सम्मिलित हैं। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करें, तो कह सकते हैं कि धर्म में ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग तीनों मिल जाते हैं। धर्म नीति का सब से बड़ा सहारा है।

७. नीति और तत्व-ज्ञान

ऊपर हमने जिन विद्याओं के साथ नीति के सम्बन्ध का वर्णन किया है, उनमें मनोविज्ञान और समाजशास्त्र विवरणात्मक हैं: वह हमें व्यक्ति और समाज की वास्तविक क्रियाओं की बाबत बताते हैं। अर्थशास्त्र और राजनीति दोनों नियामक विद्याएँ हैं। अर्थशास्त्र आवश्यक पदार्थों के उत्पादन और भोग की उचित विधि बताता है; राजनीति नागरिक को व्यवस्था में रखने की विधि बताती है। धर्म और तत्व–ज्ञान का सम्बन्ध न वास्तविक घटनाओं से है, न मनुष्य के जीवन की व्यवस्था से है। यह दोनों अन्तिम सत्ता को जानने का यत्न करते हैं। तत्व-ज्ञान से तो नीति का सम्बन्ध विचित्र है।

मनुष्य की सारी क्रिया वातावरण में होती है। प्रथम महत्व का प्रश्न तो यही है कि इस वातावरण में मनुष्य की स्थिति क्या है ? कोई कहता है कि प्रकृति की दुनिया मनुष्य का अपना घर है; यह उसके विकास का क्षेत्र है; यह 'पुरुष' का 'पुर' वा निवास स्थान है। भारत के दर्शन में यह 'सांख्य' का मत है। इसके विपरीत कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य एक विरोधी प्रदेश में आ गिरा है। प्रकृति का विकास सर्वथा उसकी उमंगों के प्रतिकूल जाता है। उसे भयानक शक्तियों के साथ संघर्ष करना है। इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शोचनीय परिस्थिति में, जो कुछ उससे बन सकता है, उसे करना चाहिये। टामस हक्सले ने इस विचार को व्यक्त किया। प्रकृतिवाद कहता है कि वातावरण के मित्र वा अमित्र होने का प्रश्न उठना न चाहिये। मनुष्य प्राकृत वातावरण से अलग कुछ है ही नहीं; यह तो उसका भाग, प्रकटन मात्र है। प्रकृति में परिवर्तन होता है। एक पड़ाव पर पहुँचने पर इसमें जीवन उदित हो जाता है। एक और लम्बी मंजिल के बाद, चेतना प्रकट हो जाती है। चेतना प्रकृति का एक प्रकटन है। आत्मा वा पुरुष की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

यदि यह धारणा सत्य है, तो नीति के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। जब कर्ता की सत्ता ही नहीं, तो शुभ और अशुभ कर्म की बाबत सोचने का क्या अर्थ है ?

इस कठिनाई में नीति तत्व-ज्ञान की सहायता ढूँढ़ती है; और यह सहायता इसे मिल जाती है। तत्व-ज्ञान प्रकृतिवाद को मानव-जीवन का संतोषजनक समाधान स्वीकार नहीं करता। इसके लिये कुछ हेतु ये हैं:—

(१) प्रकृतिवाद भी एक प्रकार का विवेचन है। यह कहता है कि संसार में प्रकृति और प्रकृति के परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ नहीं। प्रकृति के परिवर्तन गति का रूप ही हो सकते हैं। चिन्तन और गति में कोई समानता नहीं। जैसा एक वैज्ञानिक ने कहा है, यदि वैज्ञानिकों की एक मंडली, अपने यन्त्रों के साथ, मनुष्य के मेदे में जा पहुँचे, तो वह वहाँ अनेक प्रकार की गति को तो देख सकेंगे; भूख–प्यास को देख नहीं पाएंगे। प्राकृत गति और चेतना में सब से बड़ा अन्तर, जो कल्पना में आ सकता है, विद्यमान है। चेतना प्राकृत परिवर्तन का फल नहीं हो सकती।

(२) प्रकृतिवाद के अनुसार चेतना–अवस्थायें घटनायें हैं, जो एक दूसरे के बाद प्रकट होती हैं। इससे अधिक उनमें कोई सम्बन्ध नहीं। एक घटना निकल जाती है; दूसरी उसका स्थान लेती है। यदि ऐसा ही है, तो यह ज्ञान कि एक के गुजर जाने पर दूसरी उसका स्थान ले लेती है, किसे होता है ? कोई दो घटनाएँ एक साथ तो होती नहीं। इस परिवर्तन का ज्ञाता इन घटनाओं से पृथक होना चाहिये। किसी श्रेणी को अपने श्रेणी होने का ज्ञान नहीं हो सकता। वास्तव में यदि क, ख, ग, घ······एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरे के बाद आयें, तो यह पूर्वापर क्रम है, परिवर्तन नहीं। जैसा कांट ने कहा, 'स्थायी वस्तु में ही परिवर्तन हो सकता है।' यदि आत्मा कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, तो न स्मृति का और न दायित्व का कोई समाधान हो सकता है।

(३) प्रोफ़ेसर जोड ने कहा है कि यदि प्रकृतिवाद सत्य सिद्धान्त है, तो भी इस तथ्य का जानना असंभव है। प्रकृतिवादी कहता है कि चेतना मस्तिष्क के एक भाग में विशेष गति का परिणाम है। जब वह प्रकृतिवाद को सत्य-सिद्धान्त कहता है, तो वह यही कहता है कि उसके मस्तिष्क में एक विशेष घटना हुई है। जब मैं इसे असत्य-सिद्धान्त कहता हूँ, तो मैं अपने मस्तिष्क की एक घटना की बाबत कहता हूँ। हमारे कथनों में विरोध नहीं, क्योंकि हम दोनों दो भिन्न 'उद्देश्यों' की बाबत कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में दोनों वाक्यों में एक वा दूसरे के सत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम यह भी कह सकते हैं कि सत्य और असत्य मूल्य हैं; घटनायें हैं ही नहीं। यदि सारा ज्ञान घटनाओं तक ही सीमित है, तो सत्य और असत्य तो इनमें मिल ही नहीं सकते।

तत्व-ज्ञान प्रकृतिवाद के आक्रमण से नीति को बचा देता है। नीति पर एक और आक्रमण भी होता है, और वह अधीनतावाद से होता है। अधीनतावाद कहता है कि कर्त्ता तो है, परन्तु वह अपने सारे कर्मों में बाधित है। स्वाधीनता एक भ्रम है। स्वाधीनता नहीं, तो दायित्व भी नहीं। अधीनतावाद अपने पक्ष के हक में कहता है कि सारे विश्व में अटल नियम का राज्य है। यह दावा कि हमारी नन्हीं सी पृथ्वी पर, एक प्रकार के प्राणधारी-मनुष्य—इस नियम के शासन में नहीं, स्वीकार नहीं हो सकता। हमारी सारी क्रिया पर भी नियम का राज्य है। गाड़ी के साथ-साथ उसकी छाया भी दौड़ती जाती है, परन्तु वह गाड़ी की गति पर कोई प्रभाव तो नहीं डालती। मस्तिष्क की घटनाओं और चेतना में भी इसी प्रकार का सम्बन्ध है। चेतना भूल में समझती है कि उसकी इच्छा गाड़ी की गति का कारण है।

इस आपत्ति के उत्तर में तत्व-ज्ञान दो बातें कह सकता है:—

(१) प्राकृत नियम के स्वरूप की बाबत भी अब विज्ञान का दृष्टिकोण बदल गया है। मनुष्यों के समुदाय में प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार काम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी उन कृतियों को देखकर अपने काम के लिये सामान्य नियम की रचना कर लेते हैं। यह नियम वास्तविक स्थिति नहीं होता; एक सूत्र होता है, जो मनुष्य अपनी सुगमता के लिये तैयार करता है। अब वैज्ञानिकों की बड़ी संख्या कहती है कि प्राकृत नियम भी इसी प्रकार के सूत्र हैं। परमाणुओं की वैयक्तिक क्रिया में तो कुछ अनिश्चितता दिखाई देती है, जो मनुष्य की स्वाधीनता का एक धुंधला चित्र है।

(२) विज्ञान का काम तथ्य को देखना है। यह सत्य भी हो कि शेष सारे विश्व में स्वाधीनता नहीं, तो भी यह तो सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य भी स्वाधीन नहीं। इस युक्ति के अनुसार तो चेतना के अस्तित्व को नहीं मानना चाहिये। मनुष्य जीवन भी विश्व का भाग है। मनुष्य के विकास में सबसे ऊँचे स्तर पर उसका नैतिक जीवन है। इसे हम इसलिये तो छोड़ नहीं सकते कि यह विश्व में व्यापक नहीं। नैतिक जीवन में मौलिक बोध दायित्व का है। हमारी जमीर हमें कर्त्तव्य पालन का आदेश देती है। इस आदेश का कोई अर्थ नहीं, यदि हम कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य ही नहीं रखते। जैसा कांट ने कहा—'तुम्हें करना चाहिये; इसलिये तुम कर सकते हो।'

यहाँ फिर तत्व-ज्ञान नीति का पक्ष लेता है। तत्व-ज्ञान के सहारे के बिना नीति का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाता है; इसके अधिकार का प्रश्न तो एक ओर रहा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. कुछ मौलिक प्रत्यय

१. मौलिक प्रत्यय

पिछले दो अध्यायों में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो नीति की परिभाषा में सम्मिलित हैं। प्रत्येक ज्ञान-शाखा कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करती है, जो उसके क्षेत्र में प्रचलित सिक्कों का काम देते हैं। ऐसे शब्दों का पूरा अर्थ तो पुस्तक का अध्ययन करने के बाद ही ज्ञात होता है; परन्तु संभव भ्रान्ति को दूर करने के लिये, आरम्भ में भी इनके आशय को स्पष्ट करने का यत्न किया जाता है।

नीति के विषय पर लिखते हुए, हमने कहा है कि कुछ विचारक श्रेय व सर्वोत्कृष्ट श्रेय (निःश्रेयस) की खोज को नीति का प्रमुख उद्देश्य समझते हैं। इसके विपरीत, अन्य विचारक सदाचार वा सदाचरण को ऐसा उद्देश्य बताते हैं। श्रेय और सुकृत्य दो मौलिक प्रत्यय हैं।

सुकृत्य को प्रायः दो भागों में बाँटा जाता है:—

(१) वह कार्य जिनके करने में नीति हमें बाधित करती है। इन्हें कर्त्तव्य-कर्म कहते हैं;

(२) वह कर्म जिनका न करना दोष नहीं समझा जाता, परन्तु जिनका करना प्रशस्त समझा जाता है। कर्त्तव्य और प्रशस्ति भी मौलिक प्रत्यय हैं।

भले बुरे का भेद उद्देश्यों और क्रिया में ही नहीं होता, क्रिया करने वालों में भी होता है। जैसा हमने दूसरे अध्याय के अन्त में देखा है, नैतिक क्रिया का आधार दायित्व पर है, और दायित्व स्वाधीनता के अभाव में निरर्थक है। दायित्व और स्वाधीनता भी मौलिक प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों से गठित कुछ अन्य प्रत्यय भी हैं। कर्त्तव्य के साथ अधिकार मिला है। जिस व्यक्ति का अधिकार नहीं, उसका कर्त्तव्य भी नहीं; जो अपने कर्त्तव्य को स्वीकार नहीं करता, वह किसी अधिकार का दावा भी नहीं कर सकता।

अब इन प्रत्ययों पर कुछ शब्द कहेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. श्रेय और सुकृत्य

प्राचीन यूनान और भारत में, नीति का प्रमुख काम परम-श्रेय वा निःश्रेयस के स्वरूप को समझना था। उनके विचारानुसार निःश्रेयस की बाबत निश्चय हो जाने पर, कर्त्तव्य का प्रश्न सुगम हो जाता है। जो कर्म निःश्रेयस की सिद्धि में सहायक होता है, वह कर्त्तव्य वा सदाचरण है; जो कर्म इस सिद्धि के प्रतिकूल जाता है, वह दुराचरण है। नवीन काल में, जर्मनी के दार्शनिक कांट ने सुकृत्य वा कर्त्तव्य को प्रमुख और श्रेय को गौण प्रत्यय बताया है। नैयायिक दृष्टिकोण से, प्राचीन विचार ठीक प्रतीत होता है।

श्रेय

शुभ–अशुभ, अच्छे–बुरे का भेद कर्मों, उद्देश्यों और पदार्थों के सम्बन्ध में किया जाता है। पदार्थों का मूल्य तो साधन का मूल्य है। नीति का विशेष सम्बन्ध ऐसे मूल्य से है जो स्वयं–साध्य है। 'निःश्रेयस' का अर्थ ऐसा श्रेय है जिससे अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं।

श्रेय के सम्बन्ध में पहला प्रश्न तो यही उठता है कि स्वयं–साध्य भद्र एक वस्तु वा अवस्था है, या एक से अधिक। विज्ञान में एक स्वीकृत नियम यह है कि जहाँ सरल समाधान से काम चल जाय, वहाँ मिश्र समाधान मान्य नहीं। इसी प्रकार का विचार दार्शनिकों में भी पाया जाता है। नीति पर विचार करने वालों में बहुतेरे एक ही वस्तु को निःश्रेयस का पद देते हैं। भोगवाद के अनुसार भोग वा सुख ही अकेला स्वयं–साध्य मूल्य है। निरोधवाद इस दावे को अस्वीकार ही नहीं करता, अपितु यह भी कहता है कि भोग तो अभावात्मक मूल्य है। प्राचीन निरोधवादियों में कुछ कहते थे कि हर्षित होने से पागल होना अच्छा है: पहली अवस्था पतन है; दूसरी आपत्ति है। अन्य विचारक अकेले स्वयं–साध्य का पद ज्ञान, प्रेम वा सदाचार को देते हैं।

नैतिक एकवाद में कठिनाई यह है कि हर एक अपने आपको तो सन्तुष्ट कर लेता है, दूसरों को अपने मत का बना नहीं सकता। इसलिये बहुतेरे लोग अनेकवाद की ओर झुकते हैं। अनेकवाद एक से अधिक वस्तुओं को स्वयं-साध्य श्रेय का पद देता है। अनेकवादी इस धारणा में तो सहमत हैं; ऐसे मूल्यों की सूची में भी उनमें बहुत भेद नहीं होता। परन्तु जब इन मूल्यों को एक निश्चित क्रम में रखने का प्रश्न आता है, तो मतभेद हो जाता है। जब एक भद्र एक ओर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

खींचे, और दूसरा भद्र दूसरी ओर खींचे, तो उनमें चुनने के लिये ऐसे क्रम की आवश्यकता होती है। इस कठिनाई से बचने के लिये एकवाद और अनेकवाद को मिला देने का यत्न किया जाता है। ऐसा मेल संगठन में होता है। संगठन में एकता और अनेकता दोनों विद्यमान होती हैं। 'समन्वयवाद' निःश्रेयस को एक संगठन के रूप में देखता है, जिसमें विविध भद्र एकत्र पाये जाते हैं।

भद्रों की सूची में, सत्य, सौन्दर्य और सुकृत्य प्रमुख हैं। कुछ विचारक इन तीनों को एक ही भद्र के तीन पहलू समझते हैं। अभद्र क्या है?

'अभद्र भद्र का अभाव वा इसका निषेध है।

सत्य का बोध ज्ञान वा विद्या है। इसके समानान्तर अभद्र अविद्या वा मिथ्या ज्ञान है। न जानना अभद्र है; यथार्थ के विपरीत समझना भी अभद्र है।

सौन्दर्य की उचित प्रशस्ति भद्र है। इसके समानान्तर अभद्र क्या है? इसके चार रूप हैं:—

(१) सौन्दर्य की अप्रशस्ति: सुन्दर वस्तु को देखकर उससे प्रभावित न होना।
(२) कुरूपता के प्रति अप्रशस्ति का अभाव।
(३) सौन्दर्य की ओर घृणा। भले काम को देखकर दुखी होना।
(४) कुरूपता की ओर प्रशस्ति। बुरे कार्यों को देखकर प्रसन्न होना।

सुकृत्य भद्र है। इसके समानान्तर अभद्र क्या है?

(१) ज्ञान और सामर्थ्य होते हुए भी, कर्त्तव्य पालन न करना।
(२) कर्त्तव्य के प्रतिकूल काम करना।

जिन वस्तुओं को हम भद्र वा श्रेय का पद देते हैं, उनमें श्रेष्ठता की मात्रा अधिक न्यून होती है; परन्तु उनकी श्रेष्ठता में ऊँच नींच का भेद नहीं होता। 'ऊँचे दर्जे की श्रेष्ठता', 'नीचे दर्जे की श्रेष्ठता' निरर्थक शब्द हैं। तुला अन्य पदार्थों को तोलती है; अपने आपको नहीं तोलती। इसी प्रकार जो वस्तु अन्य पदार्थों का मूल्य जानने की कसौटी है, वह आप परख का विषय नहीं होती। यह सूक्ष्म तथ्य है, परन्तु याद रखने की बात है। आगे चलकर हम देखेंगे कि जान स्टुअर्ट मिल जैसे विचारक ने भी यहाँ ठोकर खाई।

अब सुकृत्य को लें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुकृत्य

सुकृत्य का अर्थ है–नियमानुसार वा विधि-अनुकूल कार्य। साधारण मनुष्यों की हालत में, यह विधि प्रायः मर्यादा वा राज-नियम होती है। जब कोई व्यक्ति इनसे सन्तुष्ट नहीं होता, तो वह इसे श्रेय पर आधारित करता है। हर हालत में, कर्त्ता को, विशेष परिस्थिति में, कोई मार्ग सुकृत्य से अच्छा नहीं दीखता।

एक ही परिस्थिति में, कुकर्म अनेक, सम्भवतः असंख्य, रूप धारण कर सकता है; सुकृत्य के लिये यह संभावना नहीं होती। इस भेद को हम गणित की सहायता से कुछ स्पष्ट कर सकते हैं। मुझे एक स्थान 'क' से दूसरे स्थान 'ख' को जाना है। 'क' से 'ख' तक सीधा मार्ग तो एक ही है, और वह सबसे छोटा अन्तर है। टेढ़े मार्ग कितने हैं? हरेक संभव तिकोन मुझे 'ग' के रास्ते 'क' से 'ख' तक पहुँचा सकती है; परन्तु कोई तिकोन ऐसी नहीं, जिसकी दो भुजायें मिल कर तीसरी भुजा से अधिक न हों। यह उपमा पूर्णतया सुकर्म और कुकर्म पर लागू नहीं होती। हमारे लिये यह जानना असंभव नहीं, तो कठिन तो अवश्य होता ही है कि विशेष परिस्थिति में कौन सा कर्म अन्य सारे कर्मों से, जो हमारे लिये संभव हैं, अच्छा है। हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है कि जिस काम को हम चुन रहे हैं, उससे अधिक श्रेष्ठ काम जो हम कर सकते हैं, हमें उस समय नहीं दीखता। जो काम एक दूसरे के लगभग बराबर हैं, उनमें से हम कोई भी चुन सकते हैं। जर्मन दार्शनिक नीटशे ने कहा है–– 'पर्वतों में, पथिक के लिये सबसे छोटा मार्ग एक चोटी से दूसरी चोटी पर जाना है; परन्तु इसके लिये दैत्य की टाँगें चाहिये।'

२. कर्त्तव्य और प्रशस्ति

किसी विशेष स्थिति में एक से अधिक कार्य कर्त्ता की दृष्टि में एक जैसे हों, तो वह उनमें किसी एक को चुन सकता है। एक पुरुष के पास ५०) दान देने के लिये हैं। उसे प्रतीत होता है कि अनाथालय को सहायता देना, किसी अच्छी पुस्तक का साधुओं में बाँटना, और किसी बाटिका में बच्चों के लिये झूला लगवा देना तीनों एक जैसे अच्छे काम हैं। जब वह इनमें से एक काम करने का निश्चय करता है, तो दो शेष कामों को करने के अयोग्य हो जाता है। इसमें कुछ दोष नहीं। यदि उसे विश्वास हो जाय कि इन तीनों में कोई एक काम दूसरों से श्रेष्ठ है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि उसी को करे। सुकृत कर्म ऐसा कर्म है जो, विशेष स्थिति में, किसी अन्य कर्म से, जिसका करना भी संभव है, निकृष्ट नहीं; कर्त्तव्य वह कर्म है जो अन्य कर्मों से निश्चय अच्छा है। एक से अधिक कर्म एक साथ सुकृत हो सकते हैं, कर्त्तव्य नहीं हो सकते।

कर्त्तव्य कर्म एक प्रकार का ऋण है जिसे चुकाना ही चाहिये। ऋण में ऋणी का तो पता है, ऋण-दाता कौन है ? साधारण बोल-चाल में हम माता-पिता की ओर, समाज की ओर, परमात्मा की ओर अपने कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं। नीति इन सब को एक ही रूप में देखना चाहती है। प्राचीन यूनान में सारे कर्त्तव्य राष्ट्र की ओर ही समझे जाते थे। बच्चों का पालन, उनकी शिक्षा, परिवार की रक्षा, अपना स्वास्थ्य बनाए रखना इसलिए अच्छे काम थे कि वह राष्ट्र के हित में हैं। आस्तिक प्रायः सारे कर्त्तव्यों को परमात्मा के प्रति समझता है। सत्य-बोलना, व्यायाम करना, पत्नीव्रती होना सब 'धर्म' हैं। जो लोग आत्म–विकास को परम–लक्ष्य स्वीकार करते ह, वे कहते हैं कि कर्त्ता के सारे कर्त्तव्य उसकी अपनी ओर ही हैं।

कर्त्तव्य कर्म, किसी विशेष स्थिति में, संभव कर्मों में सर्वश्रेष्ठ कर्म है। इसका अर्थ यह है कि कर्त्तव्य कर्मों में संघर्ष की संभावना ही नहीं। यह तो होता है कि अधिक भलाई के लिये थोड़ी भलाई को निछावर करना पड़ता है, परन्तु इसे दो कर्त्तव्यों का संघर्ष नहीं कह सकते।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई पुरुष अपने कर्त्तव्य से अधिक कर सकता है ? कर्त्तव्य कर्म का जो लक्षण ऊपर दिया है, उसकी दृष्टि में तो यह संभव नहीं। यहाँ 'प्रशस्ति' का ख्याल हमारे सम्मुख आ जाता है। हम कई बार कहते हैं कि अमुक पुरुष ने अपने कर्त्तव्य से अधिक किया है, और उसकी प्रशंसा करते हैं। ऐसी स्थिति में हमारा अभिप्राय यही होता है कि जो कुछ हम उससे आशा करते थे, वा जो कुछ इस स्थिति में दूसरों से आशा कर सकते थे, यह पुरुष उससे आगे चला गया है। हम बहुधा कर्त्तव्य से इतनी दूर रहते हैं कि जब कोई इसके निकट पहुँच जाता है, तो हम हैरान होते हैं, और उसकी प्रशंसा करते हैं। विद्यार्थियों को कभी कभी अच्छी उपस्थिति वा अच्छे आचरण के लिये पुरस्कार मिलता है। यह विद्यार्थी कर्त्तव्य से अधिक नहीं करते। वास्तव में यह क्रिया अन्य विद्यार्थियों को हलकी सी झाड़ होती है कि वह कर्त्तव्य से इतनी दूर हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. स्वाधीनता और उत्तरदायित्व

नीति और राजनीति दोनों में स्वाधीनता और उत्तरदायित्व प्रमुख प्रत्यय हैं। अब भारत को चिन्ता लगी रहती है कि हर प्रकार के बाह्य आक्रमण से सुरक्षित रह सकें। स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व यह दायित्व एक विदेशी राज्य का था। नीति में भी यह दोनों एक साथ चलते हैं। स्वाधीनता क्या है ?

हम कई बार विचार की स्वाधीनता का जिक्र करते हैं। यह शब्द निरर्थक प्रतीत होते हैं। कोई पुरुष साधारण अवस्था में किसी दूसरे के विचारों पर शासन नहीं कर सकता; प्रभाव ही डाल सकता है। जब किसी पुरुष का शरीर उसके मन के अधीन है, तो वह स्वाधीन है; विपरीत दशा में स्वाधीन नहीं। नन्हा बच्चा, पागल, निर्बुद्धि पुरुष स्वाधीन नहीं, क्योंकि जो गति उनके अंग करते हैं, वह उनके मन के अधीन नहीं होती। इसलिये, वह अपने कामों के लिये उत्तरदायी भी नहीं। किसी पुरुष को मूर्छित करके जो कुछ उस से कराया जाता है, वह वास्तव में उसका काम है ही नहीं। शराबी का दायित्व शराब पीने के लिये है; शराब की बेसुध अवस्था में जो कुछ उससे हो जाता है, उसके लिये नहीं।

एक कथन के अनुसार 'हम सब जन्म से ही स्वाधीन होते हैं'। सब तो एक ओर रहे, कोई भी स्वाधीनता में पैदा नहीं होता। पशु-पक्षी तो अपने काम के योग्य शीघ्र ही हो जाते हैं; मनुष्य की हालत में बचपन का काल बहुत लम्बा होता है। राज-नियम की दृष्टि में, निश्चित आयु तक पहुँचने से पहले वह कोई 'इकरार' नहीं कर सकता, जिसकी वैधानिक कीमत हो। ब्रह्मचर्य काल स्वाधीनता की योग्यता प्राप्त करने का समय है। इस योग्यता के प्राप्त होने पर ही, दायित्व, पूरे अर्थों में, आरम्भ होता है। जब यह अवस्था आती है, तो समाज व्यक्ति से कहता है—'अब तक तुम कुछ बनते रहे हो, अब कुछ बनाना आरम्भ करो; अब तक दूसरे तुम्हारी चिन्ता करते रहे हैं, अब अपनी चिन्ता आप करो; और समाज का काम चलाने में अपना भाग लो।'

नीति की दृष्टि में, मनुष्य का सबसे प्रमुख उत्तरदायित्व यही है कि वह स्वाधीन कर्म की शक्ति को बढ़ाये, और उसका उचित प्रयोग करे। स्वाधीन कर्म में निम्न चिन्ह पाये जाते हैं :—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) कर्त्ता को स्पष्ट ज्ञान होता है कि वह क्या कर रहा है।

(२) कर्त्ता कर्म के संभवनीय परिणामों को जानने और उनकी नैतिक जाँच की योग्यता रखता है।

(३) कर्त्ता कर्म को दूसरे के वशीभूत वा अनुचित दबाव में नहीं करता, अपितु अपनी चेष्टा से करता है।

(४) कर्म उद्वेग के प्रभाव में नहीं, अपितु बुद्धि की देख-रेख में होता है।

कुछ दार्शनिक अन्तिम चिह्न को स्वाधीनता का तत्व समझते हैं, और कहते हैं कि स्वाधीन कर्म और बुद्धिसंगत कर्म एक ही हैं।

उत्तरदायित्व में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि व्यक्ति के लिये कोई कर्त्तव्य निश्चित है, और यदि वह कर्त्तव्य का पालन न करे, तो कोई अधिकारी उससे पूछ सकता है कि उसने नियत काम क्यों नहीं किया। अधिकारी उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही भी कर सकता है। स्वाधीनता में वाह्य-बाधा का अभाव निहित होता है; उत्तरदायित्व में ऐसी बाधा आवश्यक होती है। तथ्य यह है कि स्वाधीनता दायित्व से सीमित होती है; और दायित्व स्वाधीनता से सीमित होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरा भाग

नीति की वैज्ञानिक नीवें

१. कर्म का मनोविज्ञान

१. कृति और उसका प्रसरण वा विस्तार

नीति का प्रमुख काम कर्मों में शुभ–अशुभ का भेद करना है। शुभ कर्म एक से अधिक कर्मों में से, गुणों के आधार पर, चुना हुआ कर्म होता है। इसका अर्थ यह है कि कर्म कई प्रकार के होते हैं। नीति का सम्बन्ध सब प्रकार के कर्मों से नहीं होता। नैतिक विवेचन में पड़ने से पहले, यह देखना आवश्यक है कि कृति का रूप क्या है, और उसका प्रसरण कैसे होता है।

'न्याय–शास्त्र' में आत्मा के छः लिङ्ग वा चिह्न बताये गये हैं:—

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, ज्ञान।

इनमें नीति का सीधा सम्बन्ध पहले तीन चिह्नों से है। इच्छा और द्वेष को एक ही प्रक्रिया के भावबोधक और अभावात्मक पहलू कह सकते हैं। इच्छा वह झुकाव है जो प्रयत्न में प्रकट होना चाहता है; द्वेष किसी फल से परे रहने की इच्छा है। इच्छा और द्वेष क्रिया के जन्मदाता हैं, परन्तु ऐसी क्रिया कृति के प्रसरण में बहुत देर के बाद आती है। मैं लेख लिख रहा हूँ; बच्चा लिख नहीं सकता। लिखना सीखा जाता है। सीखा हुआ कर्म मौलिक कर्म नहीं हो सकता; यह तो मौलिक क्रियाओं के संयोग से बनता है। मौलिक क्रियायें, जिनसे हम आरम्भ करते हैं, कौन सी हैं?

(१) अनायास क्रिया

नन्हा बच्चा चारपाई पर पड़ा है, और हाथ-पाँव मार रहा है। वह ऐसा क्यों करता है? इसमें उसका कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता; न ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वातावरण उसे ऐसा करने पर बाधित कर रहा है। दूध पीने और आराम करने से कुछ शक्ति उसमें उत्पन्न हो गयी है। वह शक्ति हाथ-पाँव की गति के रूप में व्यय हो रही है।

(२) सहज–क्रिया

यह किसी बाह्य आक्रमण की प्रतिक्रिया है। गले में कोई वस्तु खरोंच करने लगे, तो खाँस कर हम उसे बाहर फेंकना चाहते हैं। खाँसना सहज-क्रिया है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसी क्रिया के साथ चेतना भी मिली हो। सोते हुए भी हम ऐसी क्रिया करते हैं।

(३) मूल-प्रवृत्ति

सहज-क्रिया एक क्षणिक क्रिया होती है। मूल-प्रवृत्ति में कई क्रियायें गठित होती हैं, और सब एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिये होती हैं। ये क्रियायें व्यक्ति को सीखनी नहीं पड़तीं ; एक जाति के व्यक्तियों में प्रायः एक जैसी होती हैं ; और इनका प्रयोजन कर्त्ता के बोध में नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रयोजन तो प्रकृति का है, और व्यक्ति करण के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। इन क्रियाओं का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति और जाति के जीवन को बनाये रखना है। ऐसी क्रियाओं में अनायास–क्रिया और सहज–क्रिया मिल जाती हैं। क्रिया का आरम्भ आन्तरिक उत्तेजन से होता है; उसका रँग-रूप बाह्य उत्तेजन से निश्चित होता है। बिल्ली को भूख लगती है, और वह उठकर इधर-उधर फिरने लगती है। चूहे को देखते ही, उसका चलना–फिरना एक विशेष रूप ग्रहण कर लेता है।

(४) विचार–जन्य क्रिया

पहली तीन प्रकार की क्रियाओं में विचार का कोई दखल नहीं। जब हमारा अनुभव बढ़ता है, तो किसी क्रिया का ध्यान ही उसे उत्पन्न कर देता है। अकेला जाता हुआ मनुष्य भी बोलता जाता है। किसी क्रिया का स्पष्ट ख्याल अपने आपको क्रिया में परिणत कर देता है। खिलाड़ी तो कूदते दौड़ते हैं ही; खेल देखने वाले भी उनके साथ शामिल हो जाते हैं। ऐसी क्रियाओं को विचार–जन्य क्रिया कहते हैं।

उपर्युक्त चारों प्रकार के कर्मों में संकल्प का कोई भाग नहीं, और वह नीति के क्षेत्र में नहीं आते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(५) संकल्पित कर्म

संकल्पित कर्म संकल्प–रहित कर्मों के अंशों के संयोग से बनता है। इस कर्म का प्रमुख चिन्ह यह है कि यह वास्तविकता को बदलना चाहता है। यहाँ इच्छा वा चेष्टा सामने आती है। सारे संकल्पित काम इच्छा के कार्य-रूप होते हैं। नीति में इच्छा का महत्व इसी से स्पष्ट दिखाई देता है। किसी पुरुष के भला बुरा होने की जाँच करना हो, तो प्रायः यही देखा जाता है कि वह किन पदार्थों की चेष्टा करता है।

२. संकल्पित कर्म का विश्लेषण

संकल्पित कर्म में निम्न सोपान पाये जाते हैं:—

(१) संकलिपत कर्म एक से अधिक कर्मों में से चुना हुआ कर्म होता है। ऐसा कर्म करते समय कर्त्ता को विश्वास होता है कि एक से अधिक कर्म उसके लिये सम्भव हैं।

(२) ऐसे कर्मों में चुनने के लिये आवश्यक है कि जब तक यह चुनाव न हो जाय, कृति रुकी रहे।

(३) इस अवकाश में विविध सम्भव कर्मों पर विचार किया जाता है; उनके गुण–दोषों की तुलना होती है।

(४) इस तुलना का फल यह होता है कि एक कर्म के पक्ष में निश्चय किया जाता है।

(५) इस निश्चय को कार्य रूप देने के लिये, संकल्प अपनी शक्ति लगा देता है; अपने आपको इसके साथ एक बना देता है।

इन पाँच सोपानों को हम यात्रा की पाँच मंजिलों के रूप में भी देख सकते हैं।

आरम्भ में कर्त्ता को विश्वास होता है कि कुछ कर्मों में इस विशेष कर्म को करना उसके लिये सम्भव है। अनेक हालतों में अनुभव बताता है कि यह विश्वास निर्मूल था। इससे क्रिया में भेद नहीं पड़ता; वह तो विश्वास के सहारे आरम्भ हो ही जाती है। विश्वास का लक्षण ही यह है कि यह क्रिया को आरम्भ करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरी मंजिल में कर्त्ता कर्म को रोकता है, क्योंकि उसकी राय में अभी आरम्भ करने का समय नहीं आया। यहाँ क्रिया को रोके रखना भी मानसिक क्रिया है। कुछ लोग ऐसा नहीं कर सकते। उनकी हालत में जो विचार मन में उठता है, वह जाँच का अवकाश नहीं देता, और तुरन्त कार्य रूप में परिणत हो जाता है। यह 'चरित्र' की निर्बलता का प्रमुख चिन्ह है। नैतिक विचार से ही नहीं, आम सभ्यता के विचार से भी वर्त्तमान उत्तेजन को रोके रखने की योग्यता बड़ा महत्व रखती है। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य भोजन उत्पन्न नहीं करता, उसे ढूंढ़ता है। जंगल के फल हों, या कोई पशु-पक्षी हो, ज्योंही वह प्राप्त होता है, भूख की निवृत्ति के लिये प्रयुक्त हो जाता है। एक लेखक ने कहा है कि जब कोई शिकारी शिकार को शिकार के स्थान पर नहीं खाता, परन्तु उसे उठा कर निवास-स्थान पर ले आता है, ताकि खाने से पहले उसमें कुछ परिवर्तन कर ले, वा दूसरों के साथ मिल कर खाये; तो उसमें सभ्यता का उदय हो गया है।

क्रिया में तीसरी मंजिल जाँच–पड़ताल की है। जो सम्भावनायें होती हैं, उनके गुण–दोष एक साथ देखे जाते हैं। इस सारी जाँच में, जो बात वास्तव में ध्यान में रखी जाती है, वह यह है कि प्रत्येक मार्ग की स्वीकृति कर्त्ता को क्या बना देगी। एक पुरुष दफ़्तर में काम करता है। निर्वाह तो होता जाता है, परन्तु बच्चों को साधारण अवस्था में रहना पड़ता है। रिश्वत जो मिलती है, ले ले वा न ले? एक ओर निर्धन सदाचारी है, दूसरी ओर धनवान दुराचारी हैं। उसके सामने प्रश्न यह है कि वह इन दोनों में क्या बनना चाहता है।

दूसरी मंजिल की विशेष कठिनाई यह थी कि कर्त्ता को सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता। तीसरी मंजिल की कठिनाई यह है कि कुछ लोगों की हालत में यह सोच समाप्त होने में नहीं आती।

चौथी मंजिल में सोच विचार के बाद निश्चय होता है। कभी कभी तो कर्त्ता निश्चय कर लेता है कि कौन सा मार्ग ठीक मार्ग है। ऐसी अवस्था में उसका निश्चय 'बुद्धि–युक्त' निश्चय कहलाता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कुछ व्यर्थ विचार के बाद, कोई अति साधारण बात निश्चय कर देती है। कभी ऐसा भी होता है कि बाहर के हालात अधिक प्रतीक्षा की आज्ञा ही नहीं देते। जो विद्यार्थी यह निश्चय नहीं कर पाता कि वह कहाँ और क्या पढ़े, उसे भी भरती होने की तिथि आ पहुँचने पर निश्चय करना ही पड़ता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

30| BVBSSMV

पाँचवीं मंजिल सबसे अधिक महत्व की है। किसी काम को करने के निश्चय और उसके करने में बहुत अन्तर है। अनेक अच्छे इरादे इरादे ही रहते हैं; कार्य-रूप ग्रहण नहीं करते। इसके लिए आवश्यक है कि तीव्र इच्छा हो और बलवान संकल्प हो। संकल्प के अभाव में इच्छा बेकीमत है, और इच्छा न हो, तो संकल्प व्यक्त ही नहीं होता।

३. इच्छा वा चेष्टा

संकल्पित-कर्म मिश्र कर्म है, और वह अपनी सामग्री सरल कर्मों से लेता है, जो जीवन में उससे पूर्व व्यक्त हो चुके हैं। इसी प्रकार का संबंध इच्छा का आवश्यकताओं और माँगों से है। आवश्यकताओं पर जीवन का आधार है। उन्मत्त पुरुष की भी यह आवश्यकता है कि खाद्य पदार्थ उसके शरीर में जायें। माँग में आवश्यकता के साथ चेतना भी मिली होती है। साधारण मनुष्य की अवस्था में खाद्य की आवश्यकता भूख की माँग बन जाती है। ऐसी माँगें शरीर से सम्बद्ध होती हैं, और वर्तमान कठिनाई के दूर होने पर पूरी हो जाती हैं। कुछ माँगें ऐसी भी हैं जो स्थायी होती हैं; निश्चित समय बीतने पर फिर प्रकट हो जाती हैं; और पूरी न हों, तो बहुत दुखदायी होती हैं। इन्हें तृष्णा कहते हैं। भूख–प्यास, काम के बाद आराम और आराम के बाद काम, लैंगिक माँग ऐसी ही तृष्णायें हैं। इच्छा में उत्तेजन और भाव का मेल होता है। यह वर्तमान से परे भविष्य की ओर देखती है। वर्तमान दशा से पूर्ण तुष्टि हो, तो इच्छा होती ही नहीं। इच्छा का तत्व ही यह है कि वर्तमान की अतृप्ति को दूर किया जाय, वा वर्तमान तृप्ति को और बढ़ाया जाय। इसमें अतृप्ति और तृप्ति दोनों मिली होती हैं: वर्तमान अतृप्त करता है, और भावी कल्पित अवस्था तृप्त करती है। कुछ लोग वर्तमान की त्रुटि पर विशेष ध्यान देते हैं; कुछ वांछित अवस्था के उज्ज्वल रूप पर देते हैं। इसका परिणाम यह है कि इच्छा वा कामना के मूल्य की बाबत बहुत मतभेद है। ऊपर हमने कहा है कि इच्छा संकल्पित कर्म का आधार है; इसलिए कर्मों वा कर्त्ताओं के अच्छा बुरा होने की बाबत सोचते हुए, हम बहुधा चेष्टाओं के अच्छा बुरा होने की बाबत ही सोचते हैं। ऐसे विचार में यह समझ लिया जाता है कि इच्छाएं भी दो प्रकार की हैं: शुभ और अशुभ; और इनके गुण–दोष की जाँच की कसौटी विद्यमान है। इन दोनों धारणाओं पर विचार करने की आवश्यकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. इच्छाओं वा कामनाओं में गुण-दोष भेद

साधारण पुरुष इस भेद को विवेचन के बिना ही स्वीकार कर लेता है, परन्तु कुछ लोग ऐसा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में दो विरोधी दलों के मत को देखें। एक दल कहता है कि सारी कामनाएँ निषेधात्मक मूल्य रखती हैं; दूसरा कहता है कि प्रत्येक कामना, कामना की स्थिति में, मूल्यवान है। बुद्ध पहले दल का अच्छा प्रतिनिधि है; भोगवाद विपरीत पक्ष का समर्थन करता है, और कहता है कि प्रत्येक इच्छा का प्रयोजन भद्र होता है, और इस लिए यह भी भद्र है।

पहले बुद्ध के मत को ले लीजिए।

इच्छा में वर्तमान की असंतुष्टि तो स्वीकार की ही जाती है। यदि वांछित फल प्राप्त हो जाये, तो उसका दिया हुआ संतोष कब तक कायम रहता है? मानव प्रकृति ही ऐसी है कि एक कामना पूरी होती है, और उसके साथ दूसरी उठ खड़ी होती है। यही क्रम निरन्तर जारी रहता है। विशेष कामनाओं की पूर्ति से तुष्टि को प्राप्त करना ऐसा ही है जैसा घी के छीटों से अग्नि को शान्त करना है। इस व्यर्थ यत्न को छोड़ ही देना चाहिए।

बुद्ध के विचार में मानव जीवन, सारे चेतन जीवन, का केन्द्रीय तथ्य दुख का अस्तित्व है। इस व्यापक दुख का एक मात्र कारण कामना वा तृष्णा है। दुख की निवृत्ति का उपाय जीवन की कामना वा तृष्णा का त्याग है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को बार बार कहा—'एक वा दूसरी तृष्णा को नहीं, सारे तृष्णा-बन को मूल से उखाड़ फेंको।'

भोगवाद कहता है कि कामनाएँ हमारी प्रकृति का भाग हैं। इनको सम्पूर्ण त्याग देना हमारे लिए संभव ही नहीं। और यदि संभव हो, तो ऐसा करना जीवन को सारे स्वाद से वंचित करना है। हम खाना खाते हैं, ताकि हमारा जीवन बना रहे। खाने को पचाने, इसे शरीर का अंश बनाने का काम तो पीछे होता है, और हमें उस क्रिया का ज्ञान भी नहीं होता। खाना खाते समय खाद्य का स्वाद, साथ खाने वालों की संगत, मनोरंजक स्थिति आदि खाने को रसायन और प्राण-विद्या के स्तर से बहुत ऊँचा ले जाते हैं। कामना ऐसी प्रसन्नता को फिर वापस लाने के लिये होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'कामना' और 'मूल्य' का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि प्रसन्नता ही अकेली मूल्य की वस्तु है, और प्रसन्नता ही कामना का एक मात्र इष्ट है। 'किसी वस्तु की कामना करना और उसके चिन्तन में प्रसन्नता अनुभव करना एक ही तथ्य के दो पहलू हैं।'

इन दोनों धारणाओं में किसी एक को स्वीकार करना कठिन है। बुद्ध भिक्षुओं से कहता था—'कामनाओं के समस्त बन को समूल उखाड़ फेंको'। यह भी तो एक कामना का ही फल हो सकता है। कामनाओं को त्याग देने की कामना भी एक कामना ही है। सारी कामनाओं को हम आत्मिक-दोष के रूप में नहीं देख सकते। दूसरी ओर हम भोगवादियों के साथ यह भी नहीं मान सकते कि कोई कामना भी अशुभ कामना नहीं हो सकती। मिल्टन ने शैतान के मुख में यह शब्द डाले हैं—'अभद्र! तू मेरा भद्र बन जा।' मनुष्यों में भी कभी-कभी तो अभद्र की कामना होती ही है। इच्छाओं में भी शुभ और अशुभ का भेद होता है। इस भेद की नींव क्या है?

५. इच्छाओं में गुण-दोष भेद की नींव

कुछ लोग कहते हैं कि इच्छाओं में तो गुण-दोष का भेद नहीं, परन्तु जब कोई इच्छा कार्य-रूप ग्रहण करती है, तो भद्र और अभद्र फल में प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि इच्छा को अपने स्वतन्त्र प्रकटन का अवसर ही नहीं मिलता। फल के उत्पादन में अन्य कारण भी सम्मिलित हो जाते हैं। प्रत्येक इच्छा का अपना प्रयोजन और फल तो भद्र ही होता है, परन्तु जिस स्थिति में मनुष्य-जीवन गुजरता है, वह जटिल है, और अभद्र भी साथ प्रकट हो जाता है। एक उदाहरण लें।

एक पुरुष को भूख सन्तप्त कर रही है। उसके लिये दो मार्ग खुले हैं: एक यह कि वह पास के बन से कुछ खाद्य पदार्थ ढूँढ़ लाये, वा श्रम करके कुछ कमाले; दूसरा यह कि किसी अन्य पुरुष से खाद्य पदार्थ छीन ले, या चुराले। दूसरा मार्ग सहज है। उसकी भूख मिट जाती है। उसकी तृप्ति निस्सन्देह भद्र है, परन्तु उसकी तृप्ति में एक अन्य पुरुष की अतृप्ति भी आ मिली है। इसमें उसका दोष नहीं; दोष स्थिति का है। यदि खाद्य पदार्थों की पर्याप्त मात्रा हर समय और हर कहीं विद्यमान होती, तो छीनने वा चुराने का अवसर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही न होता। ऐसी स्थिति नहीं है। इसके लिये उसका उत्तरदायित्व नहीं। उसे तो ऐसी स्थिति में झोंक दिया गया है।

यह समाधान अभद्र के लिये कर्त्ता को नहीं, अपितु उसके वातावरण को उत्तरदायी बनाता है। यह समाधान सन्तोष जनक नहीं। एक ही, वा लगभग एक ही, वातावरण में एक पुरुष ने श्रम से कमाने का, दूसरे ने छीनने वा चुराने का निश्चय किया। इस भेद का कारण उनके बाहर नहीं, उनके अन्दर है। एक ने अपने आप को श्रमी बनाया है; दूसरे ने डाकू वा चोर।

अच्छी बुरी चेष्टाओं का भेद मानव के चरित्र वा आचार पर आधारित है। कोई व्यक्ति निरपेक्ष अस्तित्व नहीं रखता; वह किसी न किसी समुदाय का अंग होता है। इसी तरह प्रत्येक चेष्टा भी कुछ अन्य चेष्टाओं से सम्बद्ध होती है। चेष्टाओं का समन्वय वा संगठन ही व्यक्ति का चरित्र है। जब तक कोई चेष्टा इस चरित्र के शेष भाग के अनुकूल चलती है, वह चरित्र का अंश है। जब इस भाग के प्रतिकूल चलती है, तो चरित्र का अंश नहीं रहती, विद्रोही बन जाती है। जो सम्बन्ध एक मनुष्य के चरित्र और उसकी विशेष चेष्टाओं में हैं, वही समाज और व्यक्ति में है।

अच्छी चेष्टा वह है जो कर्त्ता के स्वत्व का प्रकटन हो; बुरी चेष्टा वह है जो उसके स्वत्व का प्रकटन न हो, अपितु उसे अयथार्थ रूप में दिखाए। टामस हिल ग्रीन ने कहा है कि सारी चेष्टाएँ वास्तव में स्वत्व की तुष्टि के लिये होती हैं। हमारा स्वत्व ही चेष्टाओं के मूल्य की जाँच में निर्देश विन्दु है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. प्रेरक और प्रयोजन

१. प्रेरक क्या है ?

ताँगे में जुता हुआ घोड़ा चलता जाता है। जहाँ चलाने वाला लगाम खींचता है, खड़ा हो जाता है। उसे ऐसा करने का अभ्यास हो गया है। 'आदत दूसरी प्रकृति ही बन जाती है।' कभी-कभी घोड़ा रुक जाता है, और आगे नहीं बढ़ता। सईस उसे चाबुक मारता है वा उतर कर आगे से खींचता है। जब घोड़ा खुली चारण भूमि में चरता है, तो जिधर से अधिक आकर्षण होता है, उधर चल पड़ता है। मनुष्यों की अवस्था में भी बहुत से काम आदत वा बाह्य दबाव से होते हैं; बहुतेरे आकर्षण के अधीन भी होते हैं।

जब कोई नैसर्गिक उत्तेजन अकेला प्रस्तुत हो, तो वह अपने आपको कार्य का रूप दे देता है। जब दो ऐसे उत्तेजन एक साथ प्रस्तुत हो जायें, तो जो उन में अधिक बलवान है, वह विजयी हो जाता है। ऐसी हालतों में उत्तेजन एक दूसरे से निपट लेते हैं। संकल्पित कर्म में, हमारा स्वत्व उत्तेजनों की कुश्ती देखने में ही तुष्ट नहीं होता; यह आप भी अखाड़े में जाकर प्रतिस्पर्धी उत्तेजनों के सापेक्ष मूल्य की जाँच करता है। इस जाँच में यह वास्तव में देखता है कि इन प्रतिस्पर्धी उत्तेजनों को अपनाने में यह अपने आपको क्या रूप रंग दे देगा। जब उत्तेजन वा चेष्टाएँ जाँच का विषय बनती हैं, तो उन्हें प्रेरक बनने का अवसर मिलता है। जाँच के बाद, जो उत्तेजन अपनाया जाता है, वह 'प्रेरक' है। 'प्रेरक' शब्द का प्रयोग केवल संकल्पित कर्मों के सम्बन्ध में होता है।

२. मानव जीवन के प्रेरक

जीवन के प्रमुख प्रेरक क्या हैं ?

एक विचार के अनुसार, नीति की दृष्टि में केवल एक ही प्रेरक अपनाने के योग्य है, और वह विवेचन करने वाली बुद्धि है। जो कर्म इसके अधीन होता है, वह, और केवल वही, शुभ कर्म है। यह विचार रेखा की एक सीमा पर है। दूसरी सीमा पर डेविड ह्यम का विचार है, जिसके अनुसार बुद्धि प्रेरक बन ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं सकती। यह प्रकाश दे सकती है ; न पीछे से धकेल सकती है; न आगे से खींच सकती है। इसका काम केवल यह बताना है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये, जिसे हमने अपना लिया है, उपयोगी साधन क्या है। बुद्धि की सहायता न हो, तो हम भटकते फिरेंगे , गति का अभाव नहीं होगा।

बुद्धि प्रेरक नहीं, तो फिर क्रिया कैसे होती है? मनोवैज्ञानिक भोगवाद कहता है कि हम जो कुछ भी करते हैं, सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति के लिये करते हैं। आम अनुभव इस विचार की भी पुष्टि नहीं करता। जो कुछ हम करते हैं, उसके करने में तृप्ति तो होती है, परन्तु तृप्ति के लिये ही कार्य का आरंभ नहीं होता। वृक्ष लगाने पर छाया तो मिलती है, परन्तु यह छाया ही हर हालत में वृक्ष लगाने का उद्देश्य नहीं होती।

ह्यूम बुद्धि को प्रेरक नहीं मानता ; भोग-कामना को भी प्रेरक में एक अंश ही मानता है । उसके विचार में उद्वेग वा विषय क्रिया का कारण होते हैं। उद्वेग दो प्रकार के होते हैं: शान्त और भड़कीले। भड़कीले उद्वेग ही विषय कहलाते हैं। शान्त उद्वेगों को जब वह प्रेरक बनते हैं, भ्रम में बुद्धि समझ लिया जाता है।

अपने सम्बन्ध में जो कुछ हमें अपनी दृष्टि में, वा अन्य पुरुषों की दृष्टि में, दूसरों से ऊँचा करता है, वह सुखदायक है, और हमारी क्रिया का प्रेरक बनता है। जो कुछ हमें अपनी दृष्टि में वा अन्य पुरुषों की दृष्टि में दूसरों से नीचे करता है, वह दुखदायी है, और हम उससे द्वेष करते हैं।

सुडौल, स्वस्थ और सुन्दर शरीर अभिमान का कारण है; भद्दा, रोगी और कुरूप शरीर लज्जाप्रद है। धन-दौलत और इसके विख्यात चिन्ह अभिमान का कारण हैं ; दरिद्रता और इसके चिन्ह लज्जित करते हैं। हमारी सम्मति की अपेक्षा दूसरों की सम्मति अधिक महत्व प्राप्त कर लेती है; विशेष कर उन लोगों की सम्मति जिनकी हम परवाह करते हैं। कहा गया है—'प्रतिष्ठा मनुष्यों की अन्तिम त्रुटि है।' ह्यूम के विचार में जो कुछ उचित अभिमान का स्रोत प्रतीत होता है, वह हमारे लिये 'प्रेरक' बनता है ; जो कुछ लज्जाप्रद प्रतीत होता है, उस से हम बचते हैं।

यह तो अपने सम्बन्ध में हुआ; दूसरों के सम्बन्ध में हमारी क्रिया का प्रेरक क्या है ? ह्यूम की सम्मति में, प्रेम और द्वेष दो ऐसे प्रेरक हैं। कुछ लोगों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से हम प्रेम करते हैं, कुछ लोगों से हम द्वेष करते हैं। जिनसे प्रेम करते हैं, उन्हें फलता फूलता देखना चाहते हैं, और जो कुछ इसके लिये कर सकते हैं, करते हैं। जिनसे द्वेष करते हैं, उन्हें अधम अवस्था में देखना चाहते हैं, और इसके लिये भी जो कुछ कर सकते हैं, करते हैं। कुछ लोग तो शत्रु को हानि पहुँचाने के लिये अपनी हानि करने पर भी तैयार हो जाते हैं।

जब हम अपरिचित मनुष्यों की भलाई के लिये कुछ करते हैं, तो इसमें 'शान्त' प्रेम की भावना काम करती है। सौन्दर्य, सत्य आदि का प्रेम भी 'शान्त' प्रेम है।

३. प्रयोजन

प्रेरक और प्रयोजन में गहरा सम्बन्ध है। ऊपर कहा गया है कि गति के लिये व्यक्ति को कभी पीछे से धकेला जाता है, कभी आगे से आकृष्ट किया जाता है। पीछे से धकेलने वाली शक्ति को ही प्राय: प्रेरक कहा जाता है; आगे से जो कुछ आकर्षित करता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। प्रेरक कार्य आरम्भ करने के समय विद्यमान होता है; प्रयोजन भविष्य के उदर में छिपा है। अब प्रयोजन की बाबत कुछ विचार करें।

प्रत्येक संकल्पित कर्म किसी उद्देश्य वा प्रयोजन से किया जाता है। स्वयं कर्त्ता भी कई बार अपने प्रयोजन को ठीक ठीक नहीं जानता; और जानता है, तो उसे अच्छा रूप देना चाहता है। दूसरों को अपना प्रयोजन बताने में तो मनुष्य बहुधा लीपापोती करते ही हैं। प्रयोजनों में कोई निकटस्थ प्रयोजन होता है, कोई दूरस्थ होता है। विद्यार्थी का निकटस्थ प्रयोजन परीक्षा में उत्तीर्ण होना है; दूरस्थ प्रयोजन सम्मानित नागरिक का जीवन व्यतीत करना है। एक पुरुष किसी डूबते हुए मनुष्य को बचाता है। डूबते हुए मनुष्य की जान को बचाना निकटस्थ प्रयोजन है। बचाने के बाद उसका धन छीनना दूरस्थ प्रयोजन है।

कुछ प्रयोजन प्रत्यक्ष होते हैं, और कुछ अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष प्रयोजन यदि अकेले सिद्ध हो सकें, तो बहुत अच्छा है; यदि उनके साथ अन्य परिणाम भी अवश्य आते हों, तो कर्त्ता उन्हें भी स्वीकार कर लेता है। इन परिणामों को अप्रत्यक्ष प्रयोजन कहते हैं। डाक् गाड़ी में जाने वाले मुसाफ़िरों को लूटना चाहते हैं। गाड़ी को खड़ा करते हैं, और खलबली पैदा करने के लिये गोली

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चलाते हैं। इससे कुछ मुसाफ़िर मर जाते हैं, कुछ घायल हो जाते हैं। लूटना उनका प्रत्यक्ष प्रयोजन है; हिंसा करना अप्रत्यक्ष प्रयोजन है।

चुनावों ने आजकल सामाजिक जीवन में विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। चुनाव के दिनों में साधारण नागरिक के लिये दिलचस्पी का सामान प्रस्तुत हो जाता है। जो लोग चुनाव लड़ते हैं, उनके लिये तो यह अकेला काम ही बन जाता है। वह धन व्यय करते हैं, रिश्वत देते हैं, लोगों की खुशामद करते हैं, और यह भी समझते हैं कि यह सब कुछ व्यर्थ जा सकता है। वह ऐसा क्यों करते हैं? कहने के लिये सब का प्रयोजन देश-सेवा होता है, परन्तु अन्य प्रयोजन भी प्रभाव डालते हैं। कोई धन कमाने के लिये, कोई यश के लिये, कोई बड़े आदमियों से मिल सकने के लिये यह कष्ट उठाता है।

दूरस्थ प्रयोजन, वास्तविक-अप्रत्यक्ष प्रयोजन 'प्रेरक' के इतना निकट होता है, कि कुछ हालतों में इनमें कोई भेद नहीं दीखता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. आचरण और आचार

१. आचरण

मनुष्य को अनेक दृष्टि-कोणों से देखा जा सकता है। भौतिक विज्ञान के लिए वह अन्य प्राकृत पदार्थों की तरह प्रकृति का एक टुकड़ा है। छत से गिर कर जिस नियम के अधीन एक पत्थर पृथ्वी पर आता है, उसी नियम के अधीन मनुष्य आता है। रसायन-विद्या के लिए वह एक प्रयोगशाला है, जिसमें प्रकृति के विविध अंश संयुक्त और वियुक्त होते हैं। प्राण-विद्या उसे एक प्राणधारी समझती है; मनोविज्ञान एक चेतन प्राणधारी समझता है। नीति की दृष्टि में आचरण और आचार उसके व्यक्तित्व में महत्व-पूर्ण अंश हैं। बुद्धि का काम आचरण का पथप्रदर्शन है। स्वभाव भी आचरण की गति-दिशा निश्चित करता है। इस तरह, व्यक्तित्व के अन्य दोनों अंश-बुद्धि और स्वभाव-भी आचरण के साथ गठित हैं। मैथ्यु आर्नल्ड ने कहा था—'आचरण जीवन का ७५ प्रतिशत है।' कुछ लोग इससे आगे जाते हैं और कहते हैं—'आचरण जीवन का १०० प्रतिशत है'।

आचरण किसी अकेले कर्म का नाम नहीं। यह कर्मों का समन्वय वा संघात है। मैं लिख रहा हूँ; माली फूलों को पानी दे रहा है। अन्य पुरुष भी अपने अपने कामों में लगे हैं। दस पुरुषों के कामों का संघात करने से आचरण नहीं बनता; जिन कर्मों का संघात आचरण में होता है, वह सब एक ही व्यक्ति के कर्म होते हैं। 'एक ही व्यक्ति' का अर्थ क्या है? दार्शनिकों के लिये तो यह एक कठिन समस्या है, और उनमें से बहुतेरे ऐसी एकता को स्वीकार ही नहीं करते; परन्तु साधारण पुरुष के लिये यह सन्देह नहीं होता कि वह दूसरों से पृथक है, और दूसरे उससे पृथक हैं। वह यह भी जानता है कि वह कहाँ समाप्त होता है, और दूसरे कहाँ आरम्भ करते हैं।

२. आचरण-व्यवस्था और उसके कारण

आचरण एक व्यक्ति के कर्मों का व्यवस्थित रूप है। व्यवस्था वा गठन आचरण की जान है। यह व्यवस्था कैसे उदित होती है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रश्न के उत्तर के लिये, हम समाजशास्त्र और मनोविज्ञान से सहायता माँग सकते हैं। पहले समाजशास्त्र से पूछें।

समाजशास्त्र कहता है कि अन्य व्यक्तियों से असंबद्ध व्यक्ति एक कल्पना है; वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति किसी समुदाय में सम्मिलित है। यह समुदाय दो प्रकार के होते हैं: एक मौलिक समुदाय, दूसरे मण्डल वा सभाएँ। मौलिक समुदाय उन व्यक्तियों का समूह है, जो एक दूसरे के साथ मेल जोल से व्यवहार कर सकते हैं। परिवार ऐसा समुदाय है। छोटे ग्राम के वासी ऐसा समुदाय हैं। ऐसे समुदाय में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। छोटे ग्राम के रहने वाले एक दूसरे को जानते हैं, और एक दूसरे के आचरण को प्रभावित करते हैं। उस समूह में कुछ उप-समूह बन जाते हैं। रक्त का सम्बन्ध ऐसे उप-समूहों की एक प्रसिद्ध नींव है। लिंग, आयु और निर्वाह-कार्य की समानता अन्य कारण हैं। खेल के स्थान में वा अन्य अवसरों पर, यह छोटे समूह मिलते हैं, और एक ही सांचे में ढलते जाते हैं। इनके निश्चय प्रायः अनौपचारिक होते हैं, परन्तु इन निश्चयों का अधिकार किसी अन्य निश्चय के अधिकार से कम नहीं होता।

नवीन स्थिति में मण्डलों वा संस्थाओं ने विशेष प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है। इनमें सम्मिलित होना न बहुत होना हालतों में व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। जो पुरुष किसी विशाल औद्योगिक संस्था में कुछ हिस्से ख़रीद कर शामिल होता है, वह एक नये समुदाय में सम्मिलित हो जाता है। ऐसे समुदाय एक निश्चित प्रयोजन के लिये इकट्ठे होते हैं। वह एक दूसरे को न जानते हैं, न एक दूसरे से मिलते हैं। इनका काम चलाने के लिये एक वा एक से अधिक मौलिक समूह बन जाते हैं, जो सारे सदस्यों के नाम पर, उनके प्रतिनिधि के रूप में, काम करते हैं। बड़ी संख्या का भाग नाम-मात्र होता है। मौलिक समूहों में प्रत्येक मनुष्य किसी अन्य मनुष्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता; जो कुछ करता है, अपनी वैयक्तिक स्थिति में करता है। एक ही मनुष्य अनेक संस्थाओं में सम्मिलित हो सकता है। उनमें से प्रत्येक समूह अपने लिये कुछ नियम बनाता है, और उन नियमों को प्रत्येक सदस्य स्वीकार करता है। यह नियम उसके आचरण को एक विशेष रूप देते हैं; परन्तु इनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित होता है। क्रिकेट-टीम के खिलाड़ियों के लिये कप्तान की आज्ञा का पालन करना खेल के समय और खेल के मैदान में ही अनिवार्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ह, और इस पर भी वह जब चाहें, टीम को छोड़ सकते हैं। इन छोटी संस्थाओं के अतिरिक्त सारा समाज भी व्यक्ति के आचरण पर प्रभाव डालता है। प्रसिद्ध कथन है—'जब रोम में रहते हो, तो रोम-वासियों का सा व्यवहार करो।' समाज की प्रथा वा मर्यादा व्यक्ति का आचरण बनाने में एक महत्वपूर्ण कारण है। समाज में व्यक्ति जन्म लेता है और बढ़ता है। इस अंश में समाज उन संस्थाओं से भिन्न है, जिनमें व्यक्ति अपनी इच्छा से सम्मिलित होता है।

प्रचलित रिवाज और विशेष संस्थाओं के नियमों के अतिरिक्त दो पद्धतियाँ मनुष्य के आचरण पर बहुत प्रभाव डालती हैं। यह धर्म और न्याय-पद्धति हैं। आम तौर पर जो लोग एक साथ रहते हैं, वह एक ही धर्म के अनुयायी होते हैं। धर्म के आदेश ईश्वरीय आदेश समझे जाते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य की इच्छा होती है कि इसके पालन में कोई त्रुटि न रह जाय। इसका परिणाम यह होता है कि सामाजिक आचरण में समानता पैदा हो जाती है। मनुष्यों के आचरण को व्यवस्थित बनाने में धर्म का बड़ा भाग होता है।

राज-नियम एक अंश में इन सब पद्धतियों से भिन्न है। समाज की प्रचलित प्रथा को अपनाना व्यक्ति के लिये सुगम है; अनुभव उसे बताता है कि ऐसा करना लाभकारी भी है। इस पर भी समाज की अप्रसन्नता कड़े दंड का रूप धारण नहीं कर सकती। यदि करे, तो राज्य इसमें आक्षेप कर सकता है। सभ्य समाज में अब दण्ड का अधिकार प्रायः राज्य ने अपने हाथ में ले लिया है। जिन संस्थाओं में व्यक्ति इच्छा से प्रविष्ट होता है, वह अधिक से अधिक यही कर सकती हैं कि उसे संस्था में से निकाल दें। ऐसा अवसर आने से पहले वह आप ही उन्हें छोड़ सकता है। धर्म के प्रतिकूल चलने का दण्ड भी तुरन्त नहीं मिल जाता। राज-दण्ड को प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं। राज्य अपने कार्य-क्षेत्र को सीमित रखता है, परन्तु उस क्षेत्र में सख्ती से शासन करता है।

समाजशास्त्र बताता है कि निम्न चार पद्धतियाँ मनुष्यों के आचरण पर विशेष प्रभाव डालती हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) प्रचलित प्रथा वा परम्परा
(२) विशेष संस्थाओं के नियम
(३) धर्म के आदेश
(४) राज-नियम

अब मनोविज्ञान से पूछें कि वह इसके सम्बन्ध में क्या कहता है।

आचरण संकल्पित कर्मों का संघात है। ऐसे कर्मों में प्रयोजन का होना अनिवार्य है। इस प्रयोजन का ज्ञान कर्त्ता को होता है, वा नहीं भी होता? हर्बट स्पेन्सर के विचारानुसार ऐसे ज्ञान का होना आवश्यक नहीं। पशु-पक्षी जो कुछ अपनी प्रकृति के अधीन करते हैं, उससे प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता। उनकी क्रिया व्यक्ति और नसल के जीवन को कायम रखती हैं; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रयोजन कुदरत का है, और वह इसके लिये, करण वा साधन मात्र हैं। स्पेन्सर पशु-पक्षियों के कर्मों को भी 'आचरण' में सम्मिलित करता है। अन्य वैज्ञानिक प्रायः आचरण को उन कर्मों तक सीमित रखते हैं, जिन का प्रयोजन आरम्भ से ही कर्त्ता की दृष्टि में होता है। ऐसे कर्मों का गठन आचरण है। आचरण के मूलाधार की बाबत मत-भेद है। नीचे कुछ विचारों की ओर संकेत किया जाता है।

(१) पहला विचार, जिसके साथ डाक्टर मेकड्यूगल का नाम विशेष रूप से संबद्ध है, नैसर्गिक उत्तेजनों को सारी क्रिया का स्रोत बताता है। इस विचार के अनुसार, ऐसी उत्तेजनाएं चरित्र वा आचार की सामग्री हैं। यह उत्तेजनाएं जन्म-जात हैं, और निश्चित प्रोत्साहन की उपस्थिति में निश्चित क्रिया में प्रकट होती हैं। प्रत्येक उत्तेजन के साथ विशेष उद्वेग का सम्बन्ध होता है। भूखी बिल्ली चूहे को देखती है। उसे देखने पर उसकी तबीयत व्यग्र हो जाती है, और वह चूहे पर झपट पड़ती है। गधे को देखती है, और उदासीन रहती है। बिल्ली की मानसिक बनावट ही ऐसी है।

इस विचार पर बहुत आलोचना हुई है। उत्तेजन जन्म से पूर्णतया निश्चित नहीं होते; अनुभव के साथ इनमें कुछ परिवर्तन होता है। इस के अतिरिक्त यह भी ठीक नहीं कि हरेक उत्तेजन एक निश्चित उद्वेग से संबद्ध है। बच्चा कुत्ते को प्यार भी करता है; उससे भयभीत भी होता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। भयानक वस्तु को देख कर हम कभी घबराते हैं, कभी उस पर आक्रमण करते हैं।

(२) एक दूसरा विचार कर्त्ता की अपेक्षा वातावरण को प्रमुख स्थान देता है। प्रोफ़ेसर वुडवर्थ ने इस समाधान पर बहुत बल दिया है। उसके विचार में, क्रिया में पहले वातावरण की ओर से होती है, कर्त्ता की ओर से नहीं होती। हम जन्म-जात उत्तेजनों से क्रिया को आरंभ नहीं करते। हमारे शरीर में ऐसी यंत्ररचना विद्यमान है जिसके कारण, बाह्य आक्रमण होने पर, हम उचित प्रतिक्रिया करते हैं। बिल्ली के शरीर में यह यन्त्ररचना चूहे के सम्बन्ध में मौजूद है, गधे के सम्बन्ध में मौजूद नहीं।

(३) इन दोनों विचारों के अनुसार, जो कुछ होता है, वह प्रकाश में होता है। एक तीसरे विचार के अनुसार, जिस पर सिगमंड फ़्रायड ने ज़ोर दिया है, 'अज्ञात' भी हमारे आचरण के बनाने में महत्वपूर्ण भाग लेता है। यह 'अज्ञात' उन इच्छाओं से बना है, जिन्हें अश्लील समझ कर 'चेतन–भाग' के नीचे दबा दिया गया है। ये इच्छायें कब्र में तो गाड़ दी गयी हैं, परन्तु मरी नहीं। ये अपना प्रभाव जीवन के चेतन-भाग पर डालती रहती हैं। इनके प्रभाव में, हम कई बार ऐसे काम करते हैं जिनका कोई कारण वा अर्थ नहीं दीखता। यह स्वप्न में भी प्रकट होती हैं।

३. आचार वा चरित्र

आचार और आचरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में ये दोनों एक ही वस्तु के अदृष्ट और दृष्ट पहलू हैं। मेरे आचरण को हर कोई देख सकता है; मेरे आचार को मैं ही देख सकता हूँ; शायद मैं आप भी अच्छी तरह नहीं देख सकता। कोई विशेष यत्न इसके विपरीत न किया जाय, तो आचार अपने आपको आचरण में व्यक्त कर देता है। कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता, और हम मँहगे तजुर्बे के बाद कहते हैं कि 'सारे चमकने वाले पदार्थ सोना नहीं होते।'

आचार और आचरण में अदृष्ट और दृष्ट का भेद हम एक साधारण उदाहरण से समझ सकते हैं। एक पुरुष चोरी करने घर से निकलता है। वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं जानता, परन्तु उसी समय एक गुप्तचर, कैमरा लिये, उसके पीछे हो लेता है। वह आरम्भ से अन्त तक चोर की कृति के चित्र लेता जाता है। यह चित्र, मिलकर, चोर के आचरण का पूरा पता देते हैं, परन्तु उसके आचार वा चरित्र की बाबत कुछ नहीं बताते। यह प्रत्यक्ष का नहीं, अनुमान का विषय है।

हमारे उत्तेजन और उद्वेग हमारे चरित्र की सामग्री हैं। कोई मनुष्य न सदाचारी पैदा होता है, न दुराचारी पैदा होता है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य जन्म से ही पापी है; कवि वर्ड्सवर्थ कहता है कि बाल्य में देवत्व हमें हर ओर से घेरे होता है। तथ्य यह है कि हम अच्छा वा बुरा बनने की सम्भावना साथ लाते हैं; अच्छाई-बुराई साथ नहीं लाते। हमें चरित्र का निर्माण करना पड़ता है। इसके लिए कठिन और निरन्तर परिश्रम की आवश्यकता होती है।

चरित्र कोई चेतन-अवस्था नहीं; यह ऐसी अवस्थाओं का फल है। ऊपर हमने उद्वेगों के महत्व की बाबत कहा है। ह्यूम के विचारानुसार हमारा आचरण अभिमान, लज्जा, प्रेम और द्वेष पर निर्धारित है। उद्वेग विशेष चेतन-अवस्थाएं हैं, जो प्रकट होती हैं, थोड़ी देर ठहरती हैं, और गुप्त हो जाती हैं। जाते-जाते यह अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं। इसके फलस्वरूप, स्थायी-भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिस बच्चे को बार बार भयभीत किया जाय, वह कायर बन जाता है। कायरता विशेष चेतना-अवस्था नहीं। सोते पुरुष की बाबत भी हम कहते हैं कि वह कायर है। उसकी भावना बन गई है, जिसके कारण वह भयंकर स्थिति में लड़ेगा नहीं, भागने की सोचेगा। प्रेम, द्वेष, देश-भक्ति, मित्रता ऐसी स्थायी भावनाएँ हैं। स्थायी भावना एक केन्द्र होती है, जिसके गिर्द कई उद्वेग घूमते हैं। जब हम कहते हैं कि हम किसी पुरुष से प्रेम करते हैं, तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि हम उसकी संगत में प्रसन्न होते हैं; उससे वियोग होने पर दुखी होते हैं; उसके उत्थान में अभिमान करते हैं; उसके पतन में लज्जित होते हैं। प्रेम इन उद्वेगों में प्रकट होता है। प्रत्येक उद्वेग किसी स्थायी-भावना का एक प्रकटन समझा जा सकता है।

जिस तरह उद्वेग किसी स्थायी भावना के गिर्द घूमते हैं, उसी तरह स्थायी भावनायें भी एक केन्द्र के गिर्द घूमती हैं। यह केन्द्र जीवन का केन्द्र है; इसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को आचार वा चरित्र कहते हैं। जब हम किसी पुरुष के चरित्र की बाबत जानना चाहते हैं, तो वास्तव में यही जानना चाहते हैं कि उसकी स्थायी भावनाएँ क्या हैं। नीति की दृष्टि में चरित्र और 'स्वत्व' एक ही हैं।

४. चरित्र-निर्माण की विधि

ऊपर कहा गया है कि चरित्र का निर्माण निरन्तर प्रयत्न का फल है। यह प्रयत्न अभ्यास कहलाता है। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि 'चरित्र संकल्प की निश्चित आदत है।' जब हम किसी पुरुष की बाबत कह सकें कि वह विशेष स्थिति में कैसा व्यवहार करेगा, तो समझना चाहिए कि उसका चरित्र बन गया है। यदि अच्छे भाव उसके कार्यों के प्रेरक हैं, तो उसका चरित्र अच्छा है; यदि बुरे भाव प्रेरक हैं, तो उसका चरित्र बुरा है। जैसा हम देख चुके हैं, अरस्तू ने वृत्त वा अच्छे चरित्र को आदत के रूप में ही देखा। अच्छे कर्म करने से मनुष्य अच्छा बनता है। अच्छी आदतों का बनाना हमारा प्रमुख काम है।

योग-दर्शन में भी 'अभ्यास' पर बहुत बल दिया है। अभ्यास को दृढ़-भूमि बनाने के लिए ये बातें आवश्यक हैं:—

(१) अभ्यास पर्याप्त समय तक किया जाय।

(२) इसके करने में कोई क्रमभंग न हो; यह निरन्तर किया जाय।

(३) अभ्यास सत्कार वा श्रद्धा से किया जाय।

किसी नई आदत को बनाने के लिये आवश्यक है कि जब तक वह आदत बन न जाय, यत्न जारी रहे। कोई मनुष्य एक दिन में रागी नहीं बन सकता; एक दिन में समय पर कार्य करने का स्वभाव नहीं बना सकता। यह भी आवश्यक है कि जब तक आदत बन न जाय, कोई अपवाद न होने पाय। अभ्यास में श्रद्धा की भी आवश्यकता है। केवल दूसरे की आज्ञा से लगातार अभ्यास नहीं हो सकता। उद्देश्य के मूल्य में दृढ़ विश्वास के बिना यत्न सफल नहीं हो सकता।

चरित्र-निर्माण का काम जीवन भर जारी रहता है। यह आरम्भ कब होता है? एडलर के विचार में, व्यक्ति के आचार का ख़ाका वा ढाँचा ५-६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष की आयु में ही नियत हो जाता है। बन में अनेक वृक्ष उगते हैं; कोई सीधा ऊपर जाता है; किसी में टेढ़ापन होता है। यह भेद नन्हें पौधे में ही प्रकट हो जाता है, और पीछे मिटता नहीं। एडलर के विचार में मनुष्य के चरित्र की रूप-रेखा भी बाल्यवस्था में ही निश्चित हो जाती है। यदि यह ठीक है, तो मातापिता का दायित्व बहुत बड़ा है। वही उस अवस्था में बच्चे के वातावरण में महत्व-पूर्ण अंश होते हैं। बहुधा उन्हीं को वह, न जानते हुए भी, अपना 'नमूना' बनाता है। माता का प्रभाव पिता से भी शायद अधिक होता है। शेक्सपीयर ने भी कहा है—'हमारी बनावट में माता का भाग बहुत अधिक है।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. नैतिक निर्णय

१. निर्णय और उसके रूप

'निर्णय' शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में होता है। इसके तीन प्रमुख रूप ये हैं:—

(१) तार्किक वा नैयायिक निर्णय

(२) वैधानिक निर्णय

(३) नैतिक निर्णय

इन तीनों रूपों पर कुछ विचार करें।

नैयायिक निर्णय

तर्क में निर्णय का अर्थ दो प्रत्ययों की आपसी अनुकूलता वा प्रतिकूलता है। जब मानसिक क्रिया शब्दों में व्यक्त होती है, तो इसे वाक्य कहते हैं। नवीन न्याय में, निर्णय के अर्थ को कुछ विस्तृत किया गया है। कुछ वाक्य पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हैं; कुछ उनके सम्बन्धों का; और कुछ क्रिया का। तीनों प्रकार के वाक्यों के उदाहरण यह हैं:—

यह फूल लाल है।
कुर्सी मेज के दाईं ओर पड़ी है।
मैं लेख लिख रहा हूँ।

जब हम किसी वाक्य को सुनते हैं, तो हम उसे स्वीकार वा अस्वीकार करते हैं; उसके सत्य वा असत्य होने की बाबत संदेह में होते हैं; वा उसे फ़र्ज़ कर लेते हैं। कोई कहता है—'नक्षत्रों में प्राणी बसते हैं।' एक पुरुष इसे सत्य स्वीकार कर लेता है; दूसरा इसे असत्य समझता है; तीसरा कहता है कि अभी इसके पक्ष में, वा इसके विरुद्ध, पर्याप्त साक्षी विद्यमान नहीं, और वह कुछ निश्चय से कह नहीं सकता। प्रत्येक अवस्था में निर्णय वा वाक्य सत्य होने का दावा करता है। जब हम कोई कहानी वा नाटक पढ़ते हैं, तो हम सत्यासत्य का प्रश्न उठाते ही नहीं; जो कुछ पढ़ते हैं, उसे सत्य फ़र्ज़ कर लेते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तर्क में निर्णय वास्तविकता का वर्णन होता है। यह वर्णन सत्य भी हो सकता है, और असत्य भी हो सकता है।

न्यायाधीश का निर्णय

न्यायालय का निर्णय तर्क के निर्णय से भिन्न है। यहाँ किसी झगड़े का निपटारा करना होता है। अभियोक्ता और अभियुक्त दोनों न्यायाधीश के सामने पेश होते हैं। अभियोग लगाने वाला एक बात को सत्य कहता है; अभियुक्त उसे असत्य कहता है। दोनों अपने पक्ष में साक्षी प्रस्तुत करते हैं। न्यायकर्त्ता का काम सारे मामले की जाँच करके अपना निर्णय देना है। यह निर्णय अभियुक्त को अपराधी ठहराता है, वा उसे निर्दोष कह कर छोड़ देता है। इस निर्णय का सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं, अपितु मूल्य से है; यह गुण–दोष की जाँच है।

नैतिक निर्णय

नैतिक निर्णय इन दोनों निर्णयों में से किसी से मिलता है, वा दोनों से विभिन्न है?

एक विचार के अनुसार, नैतिक निर्णय तार्किक निर्णय के समान है। भेद इतना है कि तर्क में पदार्थों वा घटनाओं की बाबत बुद्धि जाँच करती है, और नीति में संकल्पित कर्म उसकी जाँच का विषय होते हैं। इस विचार के अनुसार शुभाशुभ का भेद सत्यासत्य का भेद ही है। विचारकों की अधिक संख्या नैतिक निर्णय को वैधानिक निर्णय के अनुरूप मानती है। जब किसी पुरुष पर आरोप लगाया जाता है, तो आरोप लगाने वाला कोई अन्य पुरुष होता है। आरोप यह होता है कि अभियुक्त पुरुष ने कोई नियम भंग किया है, और व्यवस्था बनाए रखने के लिये, उसे दंड मिलना चाहिये। न्यायकर्त्ता देखता है कि विधान के अनुसार कोई नियम भंग हुआ है, वा नहीं। नैतिक न्यायालय एक विचित्र न्यायालय है। इसमें अभियोक्ता अपने आप पर ही आरोप लगाता है, और आप ही इसकी जाँच करता है। विश्लेषण के लिये, हम जाँच करने वाले को स्वतन्त्र व्यक्तित्व देंगे, और पूछेंगे कि:

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) निर्णय कर्त्ता कौन है ?

(२) निर्णय का विषय क्या है ?

(३) निर्णय के लिये कौन सी पद्धति वर्ती जाती है ?

२. निर्णय कर्त्ता कौन है ?

मनुष्य का समस्त स्वत्व कर्मों के भला बुरा होने की बाबत निश्चय करता है। यह स्वत्व विशेष स्थितियों में क्षणिक–उद्वेग से प्रभावित होता है। ऐसी अवस्था में, जो कुछ होता है, वह वास्तव में स्वतन्त्र काम नहीं होता। निर्णय करना बुद्धि का काम है। बुद्धि अपना काम तभी कर सकती है, ज़ब उद्वेग उस पर छाया न हो। उद्वेग के प्रभाव में मनुष्य को सत्य नहीं दीखता, क्योंकि वह संकुचित दृष्टिकोण से देखता है। दृष्टिकोण अति संकुचित हो, तो ध्यान स्वार्थ पर ही जमा रहता है। विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश हो, तो बिरादरी, दल, प्रान्त, वा देश से परे जाना कठिन होता है। नैतिक दृष्टिकोण से कर्मों को देखने का अर्थ यह है कि मनुष्य बुद्धि का प्रयोग करे, और वह बुद्धि सर्वजनीन वा व्यापक बुद्धि हो। ऐसी बुद्धि ही नैतिक निर्णय की कर्त्ता है।

३. नैतिक निर्णय का 'विषय'

हम कहते आये हैं कि नैतिक जांच संकल्पित कर्मों की होती है। प्रत्येक कर्म किसी कारण का फल होता है, और अपने पीछे कुछ परिणाम छोड़ता है। कर्म के सम्बन्ध में, हम

इसके रंग रूप को देखते हैं ;

इसके प्रेरक को देखते हैं;

इसके फल को देखते हैं।

इनमें से हरेक को नैतिक निर्णय का विषय समझा गया है।

एक पुरुष रेल की पटरी का कुछ भाग मार्ग से हटा देता है। सवारी गाड़ी आती है, और मार्ग से उतर कर, नीचे खड्ड में जा गिरती है। कुछ लोग मर जाते हैं; कुछ घायल होते हैं। रेल विभाग का नुकसान भी होता है। हम सब इस कर्म को बुरा कर्म कहते हैं। क्यों ?

इस प्रश्न के तीन उत्तर दिये जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) कुछ लोग कहते हैं कि यह कार्म ही ऐसा है कि जो कोई इसे देखेगा वा इसकी बाबत सुनेगा, इसे निन्दनीय ठहरायेगा। नैतिक निर्णय का विषय स्वयं कर्म ही होता है। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कर्म को देखकर उस के भला बुरा होने की बाबत निश्चय कर लेता है। यह 'प्रत्यक्ष आन्तरिक-बोधवाद' है। इस समाधान में दो कठिनाइयाँ हैं:—

(क) यदि प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक मनुष्य का निश्चय ठीक है, तो मतभेद के लिये कोई अवसर ही नहीं रहता। अनुभव इसका खंडन करता है। एक ही कार्य को मैं अच्छा समझता हूँ; मेरा साथी बुरा समझता है। मैं आप भी कल जिस काम को अच्छा समझता था, आज उसे बुरा समझता हूँ।

(ख) यदि यह निश्चय तुरन्त हो जाता है, तो नैतिक विचार, परामर्श और सम्मिलित मंत्रणा की आवश्यकता नहीं रहती।

'आन्तरिक-बोधवाद' अब इतनी दूर नहीं जाता, और कहता है कि हम विशेष कर्मों की बाबत नहीं, अपितु कर्मों की श्रेणियों की बाबत निश्चय करते हैं। आन्तरिक-बोध बताता है कि झूठ बोलना बुरा है; कोई विशेष कथन झूठ है वा नहीं, इसका निश्चय करना बुद्धि का काम है। झूठ केवल अयथार्थ कथन है, वा इसमें कथन करने वाले का भाव भी सम्मिलित है? मुझसे एक पुरुष समय की बाबत पूछता है। मैं कहता हूँ—'सवा तीन बजे हैं'। वास्तव में तीन बजकर १४ मिनट हुए हैं। क्या मेरा कथन झूठ है? डाक्टर रोगी को कहता है—'८-१० दिन में ठीक हो जाओगे'। वह विश्वास करता है कि अभी तीन चार सप्ताह लगेंगे। क्या वह झूठ बोलता है?

(२) दूसरे विचार के अनुसार, नैतिक निर्णय का विषय स्वयं कर्म नहीं होता। अपने आप में तो सारे कर्म प्राकृत-गति ही होते हैं। जो पुरुष रेल के मार्ग को बनाते हैं, वह अपने पैरों को गतिशील करके, प्रकृति के कुछ भागों को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रख देते हैं। गाड़ी को पटरी से गिराने वाले भी यही करते हैं। गति की स्थिति में सारे कर्म प्राकृत घटनाएँ ही हैं। इनके नैतिक गुण-दोष को देखने के लिये, इनके स्रोत की ओर देखना चाहिये। वास्तव में नैतिक निर्णय कर्मों पर नहीं होता, कर्त्ता पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। कर्त्ता का स्वरूप उसके प्रेरकों में देखा जाता है। गाड़ी को गिराने वाले को ऐसे काम की प्रेरणा कैसे हुई ? सम्भव प्रेरकों में तीन यह हैं:—

(क) घटना की चमत्कृति के ख़्याल से उसने ऐसा किया।

अमेरिका के एक प्रधान गार्फील्ड की हत्या करने वाले, गीटो, से पूछा गया कि उसे प्रधान के विरुद्ध क्या शिकायत थी। उसने कहा—'कुछ नहीं। मुझे ख्याल आता था कि हत्या के बाद देश में, और देश के बाहर भी, सारे समाचार पत्रों में मेरा चित्र छपेगा; और मैं इस इच्छा को रोकने में अपने आपको असमर्थ पाता था।'

सम्भवत: गाड़ी गिराने वाले को भी ऐसी इच्छा ने ही प्रभावित किया।

(ख) वह किसी विशेष पुरुष को, जो उस गाड़ी में जा रहा था, समाप्त करना चाहता था, क्योंकि वह उसे देश-द्रोही समझता था, वा उसका ऋणी था।

(ग) वह वर्तमान शासक दल का शासन समाप्त करना चाहता था; और इस उद्देश्य के लिये किसी प्रकार की गड़बड़ करना चाहता था। गाड़ी गिराने का काम तीनों अवस्थाओं में एक जैसा दीखता है; परन्तु कर्त्ता की स्थिति एक नहीं। नैतिक निर्णय में कर्त्ता के प्रेरक को देखना चाहिये।

यदि नैतिक निर्णय का विषय प्रेरक है, तो समझना चाहिये कि हम प्रेरकों के गुण-दोष जानने में समर्थ हैं। आन्तरिक-बोधवाद की एक शाखा इसे स्वीकार करती है। जेम्स मार्टीनो* ने प्रेरकों को नैतिक गुण-दोष के आधार पर एक क्रम में रखा है। सबसे प्रथम स्थान 'श्रद्धा' वा 'कर्त्तव्य-परायणता' को दिया है; सबसे नीचे 'निष्काम द्रोह' को रखा है। अन्य प्रेरक बीच में आते हैं। दो प्रेरकों में जो प्रेरक 'श्रद्धा' के अधिक निकट है, वह दूसरे से उत्तम है। 'कर्त्तव्य-परायणता' कभी बुरी नहीं हो सकती; 'निष्काम-द्रोह' कभी अच्छा नहीं हो सकता। बीच के प्रेरकों की बाबत प्रश्न यह नहीं होता कि वह अच्छे हैं, वा बुरे; अपितु यह कि किन्हीं दो प्रेरकों में कौन उत्तम है, और कौन निम्न है।

मार्टीनो के विचार में भले और बुरे कर्म का लक्षण यह है :—

---

*James Martineau : *Types of Ethical Theory.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैतिक निर्णय न्यायालय के निर्णय से मिलता जुलता है । यह किस विधान पर आधारित है ?

कुछ लोग कहते हैं कि स्थिति सदा बदलती रहती है । जो कोई कठिनाई सामने आये, उसे देखकर उससे बचने का यत्न कर लेना चाहिये । साधारण पुरुषों के लिये यह सुझाव सहायक नहीं हो सकता । वह अपने लिये कोई नियम चाहते हैं । सरल समुदायों में, प्रचलित प्रथा यह सहायता दे देती है । जब सामूहिक जीवन सरल नहीं रहता, तो सोच विचार करना पड़ता है । यहाँ प्रतिष्ठित पुरुषों का व्यवहार पथ-प्रदर्शन करता है । ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा प्रायः उनके पवित्र आचार पर आधारित होती है । भगवद्गीता (३:२१) में कहा है:—

'श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, उसी के अनुसार अन्य पुरुष भी करते हैं । जो कुछ वह प्रमाणित कर देता है, लोग उसके अनुसार वर्त्तते हैं ।'

भूतकाल के प्रतिष्ठित पुरुषों को विशेष महत्व दिया जाता है । उनके आदेश स्मृतियों में मिलते हैं ।

अन्त में मनुष्य की बुद्धि वा जमीर ऐसे निर्णय का भार उठाती है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तीसरा भाग

नैतिक सिद्धान्त

१. सामान्य विवरण

१. माप-तौल और परख

जैसा हम देख चुके हैं, नीति प्राकृत-विज्ञान का भाग नहीं, अपितु एक नियामक-विद्या है। प्राकृत-विज्ञान में गणित का स्थान सर्वोपरि है। विज्ञान की हर एक शाखा, जहाँ तक उससे बन पड़ता है, गणित का रूप धारण करने का यत्न करती है। गणित का तत्व मापना और परिमाण का निश्चय करना है। मापने के लिये अनेक यन्त्र बने हैं, और उनमें उन्नति होती रहती है। इस उन्नति का उद्देश्य यह होता है कि माप की अशुद्धि घटती घटती शून्य तक पहुँच जाय। मापने के लिये किसी प्रामाणिक मापक का प्रयोग होता है। यह मापक एक स्वीकृत एकाई होता है। ऐसे मापकों का प्रयोग करके हम कह सकते ह कि अमुक पदार्थ दो गज़ लम्बा है; दस सेर भार में है; और इसे बने हुए छः महीने हुए हैं। हम यह नहीं कह सकते कि एक दर्द दूसरे दर्द से तिगुना है; परन्तु यह तो कहते ही हैं कि एक दर्द दूसरे से अधिक तीक्ष्ण है।

नियामक-विद्या का काम इस प्रकार का नाप-तौल नहीं। इसका काम मूल्य की जाँच वा परख करना है। हम सब सोच विचार करते हैं। न्याय का काम सोच-विचार की परख करना है। इस परख के लिये न्याय एक कसौटी का प्रयोग करता है; और ऐसा करके, विचार को मूल्यवान वा मूल्यहीन बताता है। न्याय की कसौटी सत्यासत्य परखने की कसौटी है। नीति का काम कर्मों के मूल्य की जाँच करना है। कर्मों में शुभ-अशुभ का भेद होता है। आचरण आचार का दृष्ट आकार है। इसलिये, शुभाशुभ, अच्छे-बुरे का भेद आचार के सम्बन्ध में भी होता है। मनुष्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के संकल्पित कर्मों में कोई न कोई प्रयोजन विद्यामान होता है। भले पुरुष के प्रयोजन अच्छे होते हैं; बुरे पुरुष के बुरे होते हैं। इस तरह भले–बुरे का भेद कर्मों में, कर्त्ताओं में, और प्रयोजनों में होता है। इन तीनों में गहरा सम्बन्ध है। विशेष महत्व की बात यह है कि नीति का काम पदार्थों एवं घटनाओं का मापना नहीं, अपितु उनकी परख करना है। इस का काम माप-तौल की स्वीकृत एकाई का प्रयोग नहीं, अपितु परख की कसौटी की खोज है।

२. नैतिक कसौटी का रूप

नीति का काम कोई नवीन आचरण-विधान तैयार करना नहीं। नैतिक विचार तो हम आज कर रहे हैं; इस के पूर्व भी शुभ और अशुभ में भेद करते ही रहे हैं। नीति प्रचलित विचारों पर दृष्टि डालती है, और देखती है कि उनमें कोई आन्तरिक विरोध तो नहीं; और यदि है, तो कहाँ है। ऐसे आन्तरिक विरोधों और त्रुटियों से प्रचलित विचारों को साफ़ करना नीति का उद्देश्य है।

कर्मों के शुभ-अशुभ के निर्णय के लिये हम क्या कसौटी वर्त सकते हैं?

साधारण मनुष्य की दिन-चर्य्या क्या है? दिन का आधे से अधिक भाग जीवननिर्वाह के लिये कुछ करने में समाप्त होता है। कुछ समय इस काम के लिये तैयार होने में बीतता है। सायंकाल जब काम से अवकाश मिलता है, तब प्रत्येक अपनी रुचि के अनुसार खेलता है, खेल देखता है, मित्रों से मिलता है, लोकहित के लिये कुछ करता है। रात्रि के कुछ समय में परिवार में बैठ कर आनन्द लेता है। दफ़्तर, कचहरी, कारखाने आदि में जो कुछ करता है, वह नियमानुसार करता है। वहाँ पहुँचने का समय, विशेष कार्य, कार्य समाप्ति का समय, बैठने का स्थान—सब कुछ दूसरों की ओर से नियत होता है। जो समय इस काम से बचा रहता है, उसके सम्बन्ध में अपनी समझ और अपनी पसन्द को वर्त सकता है, और वर्तता है। इस प्रकार सारा समय 'नियम' और 'उद्देश्य' बांट लेते हैं।

नीति भी इन दोनों को महत्व-पूर्ण समझती है। नैतिक कसौटी दो प्रमुख रूपों में प्रकट होती है:—

(१) किसी आदेश वा नियम का पालन।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) किसी प्रयोजन की सिद्धि।

इन दोनों की बाबत कुछ विचार करें।

३. नैतिक कसौटी 'नियम' के रूप में: वैधानिक सिद्धान्त

(क) 'बाह्य आदेश'

बच्चा अपने लिये कुछ कर नहीं सकता। उस की माता उसके लिये सब कुछ करती है। जब वह कुछ करने के योग्य होता है, तो माता पिता उसे कहने लगते हैं—'यह करो; वह न करो।' उसमें इतनी समझ नहीं होती कि इन आदेशों की नींव की बाबत पूछे। यदि पूछे, तो उत्तर के समझने की योग्यता नहीं होती। पिता कुछ कहता है, तो यही—'मैं ऐसा कहता हूँ।' बच्चे को मानना पड़ता है। कुछ समय बीतने पर बालक देखता है कि अन्य बालक भी वैसा ही करते हैं, और उनके पिता भी उन्हें उसी प्रकार के आदेश देते हैं। पिता भी 'मैं जो ऐसा कहता हूँ' के स्थान में कहने लगता है—'अन्य बालक भी ऐसा करते हैं'। जब बच्चे की बुद्धि कुछ विकसित होती है, तब वह माता-पिता के आदेश और प्रथा की बाबत सोचने लगता है। यह सोच भी उसे बताती है कि जो कुछ माता पिता करने को कहते हैं, वा जो कुछ प्रचलित प्रथा है, वह लाभकारी ही है। बड़ा होने पर भी, प्रचलित प्रथा उसके आचरण को नियमित रखने में बड़ा भाग लेती है।

इस प्रथा का एक भाग विशेष महत्व रखता है। इसे राज-नियम का पद दिया जाता है। जब लोग सड़कों पर चलते हैं, तो उन से आशा की जाती है कि वह वस्त्र पहने हों, और सड़क पर आप चलें और दूसरों को चलने दें। यदि वह ऐसा न करें, तो अन्य पुरुष मुसकरा देंगे, वा भवें चढ़ाकर पास से गुज़र जाएँगे। यदि कोई चलने वाला जाता जाता दूसरों को ठोकर लगाता जाय, वा बिजली के लैम्पों को तोड़ता जाय, तो पुलिस का सिपाही उसे पकड़ कर थाने में ले जाता है। राज्य का प्रमुख काम लोगों को व्यवस्था में रखना है। प्रचलित प्रथा भी यह करती है, परन्तु राज्य बल पर आधारित होता है, और स्पष्ट घोषणा करता है कि नियम का उल्लंघन करने वालों को दंड के लिये तैयार रहना चाहिये।

प्रचलित प्रथा और राज-नियम हमारे कर्मों तक पहुँचते हैं; कर्मों के स्रोत, भावनाओं तक नहीं पहुँचते। यह त्रुटि धर्म पूरी करता है। धर्म

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का उद्देश्य भावनाओं को पवित्र करना है। राज-नियम कहता है-'चोरी न करो', धर्म कहता है—'दूसरों के धन का लालच न करो'। यदि कोई पुरुष केवल कारावास के भय से चोरी नहीं करता, तो राज-नियम तुष्ट हो जाता है; धर्म तुष्ट नहीं होता।

इस तरह, नैतिक सिद्धान्त जब यह 'नियम' को अपनी कसौटी स्वीकार करता है, इसे निम्नलिखित रूपों में देखता है:—

(१) प्रचलित प्रथा,

(२) राज-नियम,

(३) ईश्वरीय आज्ञा।

(ख) 'आन्तरिक नियम'

जब हम अपनी दृष्टि को बाहर से हटा कर अन्दर की ओर फेरते हैं, तो हमें एक नयी दुनिया दीखती है। बाहर जो कुछ हो रहा है, वह नियम के अधीन हो रहा है। पर्वतों पर वर्षा होती है, और जल, नदी नालों के रूप में बहता हुआ, समुद्र में जा पहुँचता है। वह इस के बिना कुछ कर ही नहीं सकता। नक्षत्र नियम के अधीन घूमते हैं। बाह्य जगत में स्वाधीनता कहीं दिखाई नहीं देती। अन्तर्मुखी होने पर हमें पहली बार नियम के साथ स्वाधीनता के दर्शन भी होते हैं। इस ज्ञान के साथ ही हम, बाह्य आदेशों के स्थान में, आन्तरिक प्रकाश को ढूंढ़ने लगते हैं। यह खोज हमें एक नई प्रकार की कसौटी देती है। यह कसौटी क्या है ?

१८ वीं और १९ वीं शती में, इंगलैंड के विचारकों ने इस प्रश्न की ओर विशेष ध्यान दिया। टामस हाब्स ने पहला पग उठाया। उस ने कहा कि जीवन में स्वार्थ का, और केवल स्वार्थ का, राज्य है। स्वार्थ ही मनुष्यों को राज्य की स्थापना पर विवश करता है। जब राज्य स्थापित हो जाता है, तो व्यवहार के नियम बनाता है। यह नियम ही भले-बुरे, न्याय-अन्याय के भेद को निश्चित करते हैं। समाज की स्थापना से पूर्व, नैतिक भेदों का कोई अस्तित्व ही न था। नीति समाज की रचना है।

हाब्स के विचारों ने अपने विरुद्ध एक तूफान खड़ा कर दिया। उसके विचारों का कड़ा आलोचन हुआ। आलोचकों ने विविध रूपों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसके सिद्धान्त पर आक्रमण किया। वह सब एक बात पर सहमत थे : वह कहते थे कि नैतिक भेद किसी समझौते का फल नहीं हैं; अपितु इनका अस्तित्व वास्तविकता में विद्यमान है। मनुष्य इन भेदों की रचना नहीं करते; इनकी खोज करते हैं। प्राचीन यूनान में, साफ़िस्ट सत्य के स्वतन्त्र अस्तित्व में सन्देह करते थे, और कहते थे कि प्रत्येक के लिये उसका अपना इन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही सत्य है। सुकरात का प्रमुख काम सत्य और भद्र के वास्तविक अस्तित्व को प्रमाणित करना था। नवीन काल में नीति के सम्बन्ध में यही काम हाब्स के आलोचकों ने किया।

यदि शुभ-अशुभ का भेद वास्तविक है, तो प्रश्न उठता है कि हम इसे जान कैसे सकते हैं? इस प्रश्न पर मतभेद था, और 'आन्तरिक-बोध' के समर्थकों ने इसे विविध रूपों में देखा।

(१) कुछ विचारकों ने कहा कि शुभाशुभ का भेद 'पदार्थों के स्वरूप' पर निर्भर है; और बुद्धि इसे स्पष्ट करती है। वास्तव में 'शुभ' और 'सत्य' एक ही हैं। जिस प्रकार २ और २ का ५ होना सृष्टि की बनावट के प्रतिकूल है, उसी प्रकार छल-कपट का वाँछनीय होना सृष्टि की बनावट के प्रतिकूल है। इन विचारकों में दो प्रसिद्ध नाम कडवर्थ और क्लार्क के हैं।

(२) कुछ अन्य विचारकों ने बुद्धि के स्थान में भाव की शरण ली। इनके विचारानुसार जिस तरह हम पदार्थों को देखकर उनके सुन्दर वा कुरूप होने की बाबत तुरन्त निश्चय कर लेते हैं, उसी तरह कर्मों के भला बुरा होने की बाबत भी कर लेते हैं। कर्मों की भलाई उन का सौंदर्य है; उन की बुराई उन की कुरूपता है। एडम स्मिथ ने सामान्य भाव का स्थान एक विशेष भावना, सहानुभूति, को दिया। जब हम किसी के काम को देखकर अनुभव करते हैं कि उस स्थिति में हमें भी वैसा ही करना चाहिये, तो हम उससे सहानुभूति करते हैं। जब हम आप कुछ करते हैं, और अनुभव करते हैं कि इस स्थिति में अन्य पुरुषों को भी ऐसा ही करना चाहिये, तो हम अपने कर्म को दूसरों की सहानुभूति का पात्र समझते हैं। कर्मों को अच्छा समझने का अर्थ यही है।

(३) जोजेफ़ बटलर ने आन्तरिक-बोध को कान्शेन्स वा जमीर के रूप में देखा। बुद्धि भेद-अभेद को देखती है; भाव में इस ज्ञान के साथ पसन्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नापसन्द भी मिल जाती है। ज़मीर में एक और अंश भी आ मिलता है। यह केवल शुभ–अशुभ के भेद को देखती ही नहीं, शुभ को पसन्द और अशुभ को नापसन्द ही नहीं करती; यह आदेश भी देती है कि शुभ कर्म को किया जाय, और अशुभ कर्म से बचा जाय। आदेश देना ज़मीर का आवश्यक चिन्ह है। इस की शक्ति तो सीमित है, परन्तु इस का अधिकार निस्सीम है।

इस तरह बाह्य नियम की तरह, आन्तरिक नियम भी तीन प्रमुख रूपों में व्यक्त हुआ है।

४. नैतिक कसौटी लक्ष्य के रूप में: लक्ष्यात्मक सिद्धान्त

वैधानिक सिद्धान्तों में कर्म के आरंभ में ही कोई आदेश विद्यमान होता है, चाहे यह आदेश बाह्य हो, या आन्तरिक हो। जो सिद्धान्त लक्ष्य को पथप्रदर्शक बनाते हैं, वह आगे भविष्य में देखते हैं। इनके अनुसार अच्छे काम का लक्षण यह है कि वह किसी मूल्यवान उद्देश्य की सिद्धि का साधन है। यह उद्देश्य दो प्रकार के होते हैं: एक वह जिन्हें स्वयं-साध्य स्वीकार किया जाता है; दूसरे वह जिनका मूल्य साधन-मात्र ही होता है। नीति का विशेष सम्बन्ध उन मूल्यों से है जिन्हें स्वयं-साध्य स्वीकार किया जाता है।

(१) भोग-वाद

जब हम परम-लक्ष्य की बाबत सोचने लगते हैं, तो सबसे पहले हमें 'भाव' की आवाज़ सुनाई देती है। भाव की माँग है––'मुझे तृप्त करो; मुझे तृप्त करो।' भोगवाद इस माँग को ठीक माँग बताता है। भोगवाद को 'प्रेय-वाद' वा 'सुख-वाद' भी कहते हैं। भोग-वाद अनेक रूप धारण करता है।

मनोवैज्ञानिक भोगवाद और नैतिक भोगवाद

'मनोवैज्ञानिक भोग-वाद' कहता है कि मनुष्य अपनी प्रकृति से विवश, सुख की उपलब्धि और दुख की निवृत्ति चाहता है। इसके अतिरिक्त वह किसी वस्तु की चेष्टा कर ही नहीं सकता। 'नैतिक भोगवाद' कहता है कि मनुष्य अन्य वस्तुओं की चेष्टा कर तो सकता है, परन्तु ऐसा करना नहीं चाहिये।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुख की उपलब्धि अकेली वांछित वस्तु नहीं, परन्तु अकेली वांछनीय वस्तु अवश्य है।

स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद

भोग-वादियों में दूसरा भेद इस बात पर है कि किसका सुख उपलब्ध करने का यत्न करना चाहिये? सुख किसी व्यक्ति का अनुभव है: यह प्राकृत पदार्थों की तरह किसी स्थान पर जमा नहीं किया जा सकता। इसके लिये यत्न भी व्यक्ति ही करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्येक कर्त्ता को अपने सुख के लिये यत्न करना चाहिये। यह 'स्वार्थवाद' है। इसके प्रतिकूल अन्य विचारक कहते हैं कि व्यक्ति का नहीं, अपितु 'समुदाय' का सुख व्यक्ति के लिये भी परम-लक्ष्य है। इस ख़्याल को 'सर्वार्थवाद' वा 'परार्थवाद' कहते हैं।

वर्तमान भोग और भावी भोग

जो लोग यह मानते हैं कि प्रत्येक का नैतिक उद्देश्य उसका अपना सुख ही है, उनके लिये भी वर्त्तमान और भविष्य की माँग एक प्रश्न खड़ा कर देती हैं। वर्तमान क्षण कहता है--'मुझे तृप्त करो: भविष्य तो अनिश्चित है।' अनुभव बताता है कि वर्त्तमान क्षण के बाद अनेक क्षण आते हैं। जो अब वर्त्तमान है, वह भी तो कुछ समय पहले भविष्य था। स्वार्थवादियों में अब लगभग सारे ही भविष्य को भी ध्यान में रखने के पक्ष में हैं।

(२) निरोधवाद

सारे भोगवादी इसमें सहमत है कि सुख या प्रेय ही अकेला वांछनीय मूल्य है। इस धारणा के विरोध में दो बातें कही जा सकती हैं: एक यह कि सुख का मूल्य तो है, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी मूल्यवान हैं; दूसरी यह कि भाव का मूल्य अभावात्मक या निषेधात्मक है। पाशव स्तर से ऊपर उठने का ढंग तो यही है कि सुख और दुख दोनों की ओर पूर्णतया उदासीन हो जाएँ। यह विचार निरोध-वाद है। प्राचीन निरोधवादियों में कुछ तो कहते थे कि प्रसन्न होने से उन्मत्त होना अच्छा है। पागलपन आपत्ति है; प्रसन्न होना पतन है। नवीन निरोधवादी इतनी दूर नहीं जाते। वे केवल इतना कहते हैं कि नैतिक निर्णय में भाव को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। आचरण में बुद्धि का शासन होना चाहिये। इस दृष्टिकोण से निरोधवाद को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'नैतिक बुद्धिवाद' भी कह लेते हैं। नवीन काल में जर्मनी के दार्शनिक कांट ने इस विचार का समर्थन किया। भगवद्गीता का दृष्टिकोण भी यही प्रतीत होता है।

यह एक दिलचस्प ऐतिहासिक तथ्य है कि प्राचीन काल में भोगवाद और निरोधवाद दोनों अपना सम्बन्ध सुकरात से जोड़ते थे, और अपने आपको उसकी शिक्षा पर आधारित कहते थे। सुकरात का जीवन एक पहेली था। वह अपने समय का एक सामान्य यूनानी था। उस समय के यूनानी भोग-विलास के भक्त थे। जब कहीं कोई दावत होती, तो बहुतेरे शराब के नशे में दावत करने वाले के घर में रात भर पड़े रहते। सुकरात भी उनके साथ शराब पीता था, परन्तु संयम से। उसका जीवन बहुत सादा था। कोट और जूता पहनना उसके लिये असाधारण बात थी। उसकी मृत्यु के पीछे, उसके कुछ शिष्यों ने उसे एक रूप में देखा; कुछ अन्यों ने दूसरे रूप में देखा। इन दोनों दलों ने भोगवाद और निरोधवाद के सिद्धान्तों का आरम्भ किया। उस समय से आज तक पश्चिम में यह विवाद चला आया है।

(३) शक्तिवाद

भोगवाद कहता है कि संकल्प का लक्ष्य भाव की तृप्ति है; निरोधवाद कहता है कि संकल्प को बुद्धि के अधीन होना चाहिये। ये दोनों विचार संकल्प पर नियन्त्रण रखना चाहते हैं। एक तीसरा विचार, जिस पर आधुनिक काल में फ्रेडरिक नीटशे ने बहुत जोर दिया है, संकल्प को बाह्य नियन्त्रण से स्वतंत्र रखने के पक्ष में है। नीटशे का ख़याल है कि संकल्प को दृढ़, सशक्त बनाना नैतिक क्रिया का उद्देश्य है। समस्त मनुष्यों में शक्ति एक जितनी तो होती नहीं। यही हो सकता है कि जो बलवान हैं, वह अपना बल बढ़ाएँ, और निर्बलों पर शासन करें। निर्बलों का भला भी इसी में है। नीटशे के विचारानुसार अब 'दासों की नीति' का युग समाप्त होना चाहिये, और 'स्वामियों की नीति' को इसका स्थान लेना चाहिये।

इस विचार के प्रतिकूल, टाल्सटाय ने कहा कि शक्ति हिंसा वा बलात्कार को जन्म देती है। हिंसा को वैयक्तिक और सामूहिक जीवन से निकाल देना चाहिए, और सारे मानव सम्बन्धों को प्रेम और समझौते की नींव पर खड़ा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करना चाहिये। शक्ति के प्रयोग में राज्य ही अग्रगामी हैं, और इनके युद्ध ही हिंसा का सबसे बड़ा प्रदर्शन हैं। शक्ति पर आधारित राज्यों की आवश्यकता नहीं। इन्हें समाप्त हो जाना चाहिये। टाल्सटाय के अहिंसावाद ने गाँधी जी पर बहुत प्रभाव डाला।

(४) सम्पूर्णतावाद वा समन्वयवाद

भोगवाद, निरोधवाद, और शक्तिवाद तीनों मानव प्रकृति के एक भाग को बहुत महत्व देते और शेष भागों को नीचे खींच लाते हैं। इस विभाजन का फल सिद्धान्तों का विवाद है। सम्पूर्णतावाद वा समन्वयवाद इस त्रुटि को दूर करने का यत्न करता है। इसकी मौलिक धारणा यह है कि मानव प्रकृति में कोई अंश मूल्यहीन नहीं। आत्मिक उन्नति का अर्थ पूर्ण स्वत्व का उत्थान है। पश्चिम में इस विचार को प्राचीन काल में अरस्तू ने अपनाया था; नवीन काल में हेगल ने इसे अपनाया है।

इन प्रमुख सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धान्त भी, जिन्हें 'मिश्रित सिद्धान्त' कह सकते हैं, समर्थित हुए हैं। १८ वीं शती में 'विकासवाद' ने लोगों के विचारों पर बहुत प्रभाव डाला। विकासवादियों ने अपनी 'नीति' भी प्रस्तुत की। इन सबका दृष्टिकोण एक ही नहीं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने विकासवाद के नैतिक लक्ष्य को भोग से ऐसा गठित कर दिया कि यह नीति भोगवाद की एक शाखा ही समझी जाने लगी।

इस सामान्य विवरण के बाद अब हम इन सिद्धान्तों का कुछ विस्तार से अध्ययन आरम्भ करते हैं। आगामी अध्यायों में विवाद की मात्रा अधिक होगी, परन्तु दर्शन का इतिहास तो विवाद और खंडन-मंडन की कथा ही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. नैतिक कसौटी 'नियम' के रूप में
बाह्य नियम

(१) प्रचलित मर्य्यादा

१. सामाजिक जीवन और व्यवस्था

सामाजिक जीवन व्यवस्था पर आधारित है। छोटा बच्चा अपनी सहायता आप नहीं कर सकता। उसके लिये सब कुछ उसके मातापिता करते हैं। आम समाज का नियम तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य को उसकी पात्रता के अनुसार मिलता है; परिवार में जो नियम वर्त्ता जाता है, वह इसके प्रतिकूल है। यहाँ जितनी अयोग्यता अधिक हो, उतना ही व्यक्ति को विशेष ध्यान का पात्र समझा जाता है। बच्चों, बूढ़ों, रोगियों की विशेष देख भाल होती है। आरंभ में बच्चा 'भोग-नियम' के अनुसार चलता है; वह अपनी बात मनवाना चाहता है, और मनवा लेता है। शनैः शनैः उसे 'भोग-नियम' से हटा कर 'वास्तविकता-नियम' के अनुसार जीना सिखाया जाता है। पहले उसके अधिकार ही थे; अब उसके साथ कर्त्तव्य भी आ मिलते हैं। समाज व्यक्ति पर दबाव डालता है, और उसे नियन्त्रण में रखता है। व्यक्ति एक जन-समूह में पैदा हुआ है; उसी में पलता है और अपना जीवन व्यतीत करता है। उसे अपना आचरण समूह की प्रचलित प्रथा के अनकूल बनाना होता है। समाज उसके लिये व्यवहार का नमूना तैयार करता है। जब तक व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण या स्वराज्य की योग्यता प्राप्त नहीं कर लेता, सामाजिक नियन्त्रण उसके जीवन में प्रधान रहता है। पीछे यह घटने लगता है, परन्तु सर्वथा समाप्त कभी नहीं होता।

२. समाज और समूह

समाज मनुष्यों का समूह है। कितने मनुष्यों का ? कुछ लोगों का ख्याल है कि समाज को सारी मानवजाति के अर्थ में लेना चाहिये। फ्ाँस के विचारक आगस्ट काम्ट का ऐसा विचार था। नीति की दृष्टि में इस विचार में बहुत सत्य है। आजकल तो यातायात की सुविधाओं और विज्ञान की उन्नति ने संसार को बहुत संकुचित कर दिया है। दैनिक प्रयोग के पदार्थ अनेक देशों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से हमारे पास आ पहुँचते हैं। इस पर भी, साधारण मनुष्य जब समाज का चिन्तन करता है, तो सारे देश-वासियों का चिन्तन भी नहीं करता; बहुधा अपने प्रान्त, अपने नगर, अपनी बिरादरी, अपने हमजोलियों का ही करता है। जो लोग उस पर स्पष्ट प्रभाव डालते हैं, और जिन पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है, वही उसका 'समाज' है।

समाज के अन्तर्गत कई समूह आते हैं। इन समूहों में 'कबीला' विशेष महत्व रखता है। एक कबीले के लोग समझते हैं कि वह एक ही जोड़े की सन्तान हैं। उनकी नाड़ियों में एक ही रक्त बहता है, और वह अन्य मनुष्यों की अपेक्षा, एक दूसरे के निकट हैं। उनकी भाषा एक होती है; परम्परा एक होती है; धर्म एक होता है; रहन–सहन एक सा होता है। उनके जीवन में सबसे अधिक प्रसिद्ध चिह्न कबीला–भक्ति होता है; 'कबीले के अन्दर मित्रता' के साथ, 'कबीले के बाहर अमित्रता' भी आ जाती है।

समय बीतने पर कई कबीले एक शासन के नीचे आते हैं; और उन की 'आन्तरिक मित्रता' और 'बाह्य अमित्रता' राज्यों के आपसी सम्बन्धों में व्यक्त होने लगती है।

३. सामाजिक जीवन और नीति

पशु-पक्षियों में भी कुछ समूहों में रहते हैं। उनका रहने का स्थान, उनकी शारीरिक और मानसिक बनावट, रक्षा की आवश्यकता उन्हें एक समूह बनाते हैं। मनुष्य भी इन कारणों से गठित होते हैं; परन्तु वह एक साथ सोचते भी हैं। भाषा का प्रयोग उन्हें सामूहिक विचार के योग्य बनाता है। यह सामूहिक विचार पशु-पक्षियों की पहुँच से बाहर है। मनुष्यों के सामूहिक विचार का एक फल यह होता है कि वे वर्त्तमान से परे भविष्य में भी देखते हैं। वे 'वास्तव' के साथ 'संभव' का भी चिन्तन करते हैं, और 'वास्तव' को बदलना चाहते हैं। यह चेष्टा आदर्शों को जन्म देती है। आदर्शों का सामूहिक रूप में अपनाया जाना नीति का तत्व है। सामाजिक जीवन का ऊँचे स्तर पर पहुँचना ही नीति है।

प्रत्येक जाति अपने लिये आदर्श नियत करती है। एक नसल का प्रमुख काम यही होता है कि आने वाली नसल में इन आदर्शों के लिय श्रद्धा का भाव उत्पन्न करे। समाज में अनेक संस्थायें बनती हैं। ये मनुष्यों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को एक दूसरे के निकट लाती हैं। प्रत्येक संस्था अपनी छाप व्यक्ति पर लगाती है। इसके फल-स्वरूप व्यक्ति का जीवन सामाजिक ढाँचे में ढलता है।

४. संस्थाओं का प्रभाव

(१) इन संस्थाओं में केन्द्रीय संस्था परिवार है।

परिवार को नैतिक वृत्तों का पालना कहा जाता है। परिवार की कुछ विशेषताएँ इसे यह महत्वपूर्ण कार्य करने के योग्य बनाती हैं। परिवार की नींव साझे रक्त पर होती है; इसके सदस्यों की संख्या सीमित होती है; और वह विभिन्न सम्बन्धों में गठित होते हैं। साझे रक्त के कारण प्रेम का शासन बहुत्व में एकत्व पैदा कर देता है। संख्या सीमित होने से सब एक दूसरे के अति निकट हो सकते हैं; और किसी के भी भीड़ में खोजाने की संभावना नहीं होती। विवाह के पीछे पुरुष और स्त्री अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो देते हैं, और एक नया, सांझा, और अधिक सम्पन्न व्यक्तित्व प्राप्त कर लेते हैं। माता पिता और सन्तान का प्रेम अपूर्व प्रेम है। भाइयों और बहिनों का सम्बन्ध निराली मित्रता है। आयु के भेद से, परिवार में करुणा और सम्मान आदि वृत्तों को भी प्रफुल्लित होने का अवसर मिलता है।

(२) परिवार से निकलें, तो पड़ोस का सम्बन्ध सामने आता है। अच्छे पड़ोस का अर्थ यह है कि पड़ोसी एक दूसरे को अपने बराबर समझें, और उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार काम करने दें। नागरिकों की बराबरी और स्वतन्त्रता की रक्षा करना राज्य का काम है; परन्तु इनका स्वाभाविक उत्थान अच्छे पड़ोस की भावना पर ही निर्भर है।

(३) स्कूल और कालेज विद्यार्थियों को अनुशासन का मूल्य सिखाते हैं। घर में बालक की आज्ञा चल सकती है; स्कूल-कालेज में उसे आज्ञा माननी होती है। कालेज में खेल के मैदान का भी बड़ा महत्व है। वहाँ व्यक्ति न्याय-पथ पर चलने का मूल्य समझता है। अच्छे खिलाड़ी जीतने के लिये नहीं, अपितु खेलने के लिये खेलते हैं। जहाँ जीतने की चेष्टा होती है, वहाँ भी व्यक्ति की जीत-हार का प्रश्न नहीं होता; जीत हार सारी टीम की ही होती है। सहयोग, सामूहिक–सफलता का भाव, और विश्राम खेल के मैदान की देन हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाज का यत्न होता है कि भावी सदस्य अन्य सदस्यों की तरह सोचें; उनकी तरह अनुभव करें; उनकी तरह व्यवहार करें। इस परिणाम के लिये (१) सुझाव, (२) सहानुभूति और (३) अनुसरण का सहारा लिया जाता है। जिन संस्थाओं का वर्णन हुआ है, वे इनका प्रयोग करती हैं।

समाज में सबसे प्रमुख संस्था राष्ट्र है। अब इसके विषय में विचार करते हैं।

(२) राज-नियम

१. समाज और राष्ट्र

जैसा ऊपर कह चुके हैं, समाज में अनेक संस्थाएँ बनती हैं। व्यक्ति उनमें कई संस्थाओं में एक साथ सम्मिलित हो सकता है। प्रत्येक संस्था अपने लिए नियम बनाती है, और आशा करती है कि जो लोग उसमें सम्मिलित होते हैं, वे उन नियमों पर अमल करेंगे। इस के बिना उनका संस्था में सम्मिलित होना निरर्थक है। इसके साथ यह भी आशा की जाती है कि सदस्यों में संस्था के उद्देश्यों के लिए कुछ श्रद्धा होगी, और वह, आवश्यकता पड़ने पर, इसकी रक्षा करने के लिये कुछ त्याग कर सकेंगे। समाज स्वयं कोई संस्था नहीं। वह अपने सदस्यों की कोई सूची नहीं रखता, वह कोई नियत चंदा नहीं लेता, वह किसी कार्य के लिये अधिवेशन नहीं करता। जितने मनुष्यों को कोई व्यक्ति अपना 'समाज' समझता है, उनकी संख्या भी अनिश्चित होती है।

समाज में सबसे बड़ी संस्था राष्ट्र है। अन्य संस्थाओं से कुछ चिन्ह इस संस्था को पृथक करते हैं।

(१) यह संस्था सबसे बड़ी संस्था ही नहीं, सबसे शक्तिशाली भी है। यही अन्य संस्थाओं की रक्षा करती है; यही उनके आपस के झगड़ों को निपटाती है।

(२) अन्य संस्थाओं में सदस्य स्वेच्छा से सम्मिलित होते हैं; और जब चाहें, उन्हें छोड़ सकते हैं। राष्ट्र के सदस्य, जिन्हें नागरिक कहा जाता है, अपनी मर्ज़ी से इसके सदस्य नहीं बनते। हर एक बच्चा जो भारत में, भारत के नागरिकों के यहाँ पैदा होता है, पैदा होते ही भारत का भावी-नागरिक बन जाता है। और कोई नागरिक राष्ट्र की सदस्यता को छोड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं सकता, अतिरिक्त इस के कि वह किसी अन्य देश में जा बसे, वा आत्महत्या कर ले।

(३) राष्ट्र अपना कार्य चलाने के लिए, चन्दा नहीं मांगता, अपितु कर वसूल करता है। जो पुरुष यह कर न देना चाहे, उसे जेल में डाल दिया जाता है।

(४) राष्ट्र अपने नागरिकों के लिए जो नियम बनाता है, उन पर चलने के लिए वह उनके सद्भाव पर नहीं, अपितु अपने बल पर भरोसा करता है। जो लोग राष्ट्र की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, उन्हें नियत दंड दिया जाता है।

(५) समाज तो व्यक्ति से इतना ही कहता है: 'देखो, जो कुछ समाज में हो रहा है, वही करो।' समाज आशा करता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आंखों का प्रयोग करके यह देख लेगा। राष्ट्र प्रत्येक की आंखों पर भरोसा नहीं करता; यह स्पष्ट शब्दों में उसे बताता है कि वह क्या करे, और क्या न करे। राज-नियम निश्चित होता है, और इस की विस्तृत घोषणा की जाती है, जिस से प्रत्येक नागरिक इसे जान सके।

(६) चूंकि राज की आज्ञाओं का इतना महत्व होता है, यह समाज की सारी प्रथा को एक दृष्टि से नहीं देखतीं। रहन-सहन, पहरावा, बातचीत का ढंग, सोने जागने का समय आदि ऐसी बातें हैं, जिन के संबन्ध में राज्ज व्यक्ति को पूरी स्वाधीनता देता है। साधारण शिष्टाचार में भी हस्तक्षेप नहीं करता, और इसे जनसमूह की सम्मति पर छोड़ देता है। राजनियम केवल उन कर्मों पर ध्यान देता है, जिनका प्रभाव अन्य पुरुषों पर काफ़ी पड़ता है। विशेष करके यह व्यक्ति को ऐसे कार्यों से रोकता है, जो दूसरों के लिये हानिकारक हों। समाज में बहुधा रस्म रिवाज का वर्णन होता है; राष्ट्र में अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन होता है।

राष्ट्र का प्रमुख काम न्याय व्यवस्था को निश्चित करना, और उसे लागू करना है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक के अधिकार सुरक्षित हों, और वह दूसरों के अधिकारों का सम्मान करे। 'सामाजिक नीति' में इस व्यवस्था का प्रमुख भाग है। कुछ लोग राष्ट्र के काम को इसी पर सीमित करते हैं, और कहते हैं कि राष्ट्र की आवश्यकता इसीलिये है कि मनुष्यों में कर्त्तव्यपालन का भाव अभी सार्वजनिक और बलिष्ठ नहीं है। जब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्यों में नैतिक चरित्र व्यापक हो जायगा, तब राष्ट्र के लिये कोई काम नहीं रहेगा, और यह अपने आप समाप्त हो जायगा। दूसरी ओर कुछ लोग राष्ट्र को स्थायी संस्था ही नहीं बताते, अपितु इसके कार्य क्षेत्र को भी पुलिस-प्रक्रिया से बहुत विस्तृत बताते हैं। कुछ भी हो, न्याय का रक्षक होने के कारण राजनियम नीति का बड़ा सहायक है।

जैसा हम आगे देखेंगे, टामस हाब्स के विचार में, राष्ट्र न्याय-व्यवस्था का रक्षक ही नहीं, यह इस व्यवस्था का निर्माता भी है। राष्ट्र ही इस बात का निश्चय करता है कि न्याय क्या है, और अन्याय क्या ह। राष्ट्र स्वयं अन्याय कर ही नहीं सकता। जर्मनी में हेगल ने भी राष्ट्र-भक्ति के प्रभाव में, इसी प्रकार का विचार प्रकट किया। उसके मतानुसार राष्ट्र के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्य तो हैं, अधिकार कोई नहीं। राष्ट्र तो अधिकारों का स्रोत है।

नीति का क्षेत्र राष्ट्र के क्षेत्र तक सीमित नहीं। राष्ट्र कहता है—'किसी दूसरे को हानि न पहुँचाओ।' नीति कहती है —'यह करो, परन्तु यहीं ठहर न जाओ। यदि दूसरे को तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है, और तुम उसे सहायता दे सकते हो, तो अवश्य दो।' राज-नियम कहता है—'दूसरों का माल न छीनो, न चुराओ।' नीति इस के साथ दान देने का भी उपदेश करती है।

राज-नियम को नीति का आधार मानने में बड़ी कठिनाई यह है कि यह नियम आचरण या दृष्ट कर्म से परे नहीं जाता, और न जा सकता है। नीति की दृष्टि में आचरण की अपेक्षा आचार अधिक महत्व रखता है। चोरी करने से बचना चाहिए, किन्तु चोरी करने की चेष्टा को मन से निकाल देना अधिक मूल्य की क्रिया है।

इस परिणाम के लिय हमें धर्म की ओर देखना होता है।

[३] ईश्वरीय आज्ञा

राज-नियम नीति का आधार नहीं हो सकता, क्योंकि—

(१) इसका क्षेत्र सीमित है;

(२) यह आचरण से परे आचार तक नहीं पहुँचता; और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) यह प्रेरणा नहीं करता; बाधित करता है। जो कुछ बाधित होकर किया जाय, उसमें नीति का अंश नहीं होता।

धर्म में ये त्रुटियाँ नहीं हैं। धर्म शब्द का अर्थ उचित वा नियत प्रक्रिया है। हम कहते हैं--आग का धर्म जलाना; और जल का धर्म गीला करना है। मनुष्य का धर्म उसकी अपनी नियत प्रक्रिया है। हम धर्म को कर्त्तव्य के अर्थ में लेते हैं।

धर्म को एक अन्य अर्थ में भी लिया जाता है--'परमात्मा की आज्ञा का पालन और पूजा।' जो धर्म प्रचलित हैं, वे इसी पर बल देते हैं। पूजा में यह विश्वास निहित है कि संसार का शासन एक चेतन सत्ता के अधीन है, जो परम पवित्र है, और अत्यन्त श्रद्धा की पात्र है। यह श्रद्धा वा भक्ति धर्म का आत्मिक अंश है। कुछ लोग कहते हैं कि संगठित धर्मों का आरम्भ 'भय' के कारण हुआ। नरक के भयंकर चित्रों की रचना करके 'पुजारियों' ने, 'शासकों' के हित में, जनता को व्यवस्था में रखने का यह साधन निर्मित किया। कुछ धर्मों ने नरक के असह्य दुखों के साथ, स्वर्ग के सुखों को भी जोड़ दिया। इस तरह 'भय' के साथ 'काम' और 'आशा' भी मिल गये। यद्यपि यह कुछ धर्मों की बाबत सत्य है, तो भी अपने शुद्ध स्वरूप में धर्म परम-पवित्र परमात्मा के प्रति श्रद्धा पर ही निर्धारित है।

आत्मिक रूप में तो पूजा ध्यान, भक्ति और आत्म-समर्पण ही है, परन्तु यह दृष्ट रूप भी ग्रहण करती है। इसमें कर्म-काण्ड और नैतिक व्यवहार सम्मिलित हैं। कुछ लोग कर्म-काण्ड को महत्व देते हैं: कुछ नैतिक व्यवहार को। कर्म-काण्ड में यह विश्वास भी आ मिलता है कि जिन शक्तियों के साथ हमें वास्ता पड़ा है, वह सभी पवित्र नहीं; उनमें से कुछ निर्दय भी हैं। कर्म-काण्ड से हम उन्हें तुष्ट कर सकते हैं; अपने मनोरथों को पूरा करने पर बाधित भी कर सकते हैं। ऐसी भावना को 'जादू' कहते हैं। अब यह भावना धर्म से अलग ही हो गयी है। जिस कर्म-काण्ड का सम्बन्ध अपने या अन्य पुरुषों के लौकिक हित से नहीं, उसका बहुत महत्व नहीं रहा। इस समय धर्म का विशेष सम्बन्ध नैतिक कर्त्तव्य से समझा जाता है। कांट ने कहा है कि जब कोई पुरुष अपने कर्त्तव्य को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में देखता है, तो उसके लिये नीति धर्म बन जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आजकल आम झुकाव नीति को धर्म से अलग करने की ओर है। इसके कई कारण हैं :—

(१) जो लोग ईश्वर में, वा अपने देश में प्रचलित धर्म में, विश्वास नहीं करते, वे नीति के आदेश को स्वीकार करते हैं। विज्ञान के विकास ने पश्चिम में यह मनोवृत्ति पैदा कर दी। आगस्ट काम्ट ने 'मानवता' के धर्म की रचना की। उसने कहा—'अब हमारे घुटने मानवता के सामने झुकने चाहिएे।'

(२) कुछ धर्मों ने अपने प्रसार के लिये जो साधन वर्त्ते, वे सुख-शान्ति का नहीं, अपितु कलह-क्लेश का कारण बने। पश्चिम में धर्म और विज्ञान का संघर्ष बहुत देर तक होता रहा, और भयानक रूप में हुआ।

(३) धर्म का झुकाव सदा परिवर्तन के प्रतिकूल रहा है। नीति पर विचार करने वाले कहते हैं कि स्थिति सदा बदलती रहती है; इसके साथ हमारे नैतिक आदर्शों में भी परिवर्तन होना चाहिये।

इस विचार धारा ने कुछ लोगों को प्रभावित किया है, परन्तु मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या की आवश्यकता यह है कि कोई उच्च और निश्चित आदर्श उनका पथ-प्रदर्शन कर सके। धर्म ऐसे आदर्श दिखाता है। मनुष्यों को व्यवस्था में रखने के लिये, शक्ति का प्रयोग किये बिना जो कुछ धर्म ने किया है, वह अन्य सारे साधनों ने मिलकर भी नहीं किया।

धर्म का भाव स्वाभाविक है। यह मानव-प्रकृति का अंश है; सदा से है, और सदा रहेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. आन्तरिक नियम (१)

(१) विशुद्ध स्वार्थवाद; टामस हाब्स का सिद्धान्त

१. मानव की आरम्भिक प्रकृति

टामस कार्लाइल ने कहा है: 'महापुरुष अपने अधिकार से साधारण मनुष्यों को बाधित करता है कि वह उसे समझने का यत्न करें, और उसकी आलोचना करते रहें।' इस कसौटी पर परखें, तो हाब्स के 'महापुरुष' होने में कोई सन्देह नहीं रहता। एक शती के लगभग, इंगलैंड के विचारक नीति को हाब्स के आघात से बचाने में लगे रहे। हाब्स ने रुचि, अरुचि और पक्षपात को अलग रखकर, बुद्धि की सहायता से स्थिति को देखना चाहा और यह परवाह नहीं की कि उसके विचार उसे कहाँ पहुँचा देंगे।

हाब्स * के सहयोगी परम्परा और बाह्य शासन पर भरोसा करते थे। इन दोनों का अधिकार व्यक्ति की स्वीकृति पर निर्भर है। जहाँ यह स्वीकृति न हो, यह अधिकार भी नहीं रहता। नीति की नीवों के लिये किसी ऐसे नियम की खोज करनी चाहिये, जिसके विरुद्ध कोई सुनवाई ही न हो सके। हाब्स ने ऐसा नियम 'स्वार्थ' में देखा। प्रत्येक प्राणी अपना जीवन कायम रखना चाहता है; इससे उतर कर अपने आपको सुखी बनाना चाहता है। वर्तमान से परे भविष्य के लिये प्रवन्ध भी करना चाहता है। जीवन और सुख के साधनों को 'शक्ति' कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य शक्ति प्राप्त करने, और प्राप्त हुई शक्ति को निरन्तर बढ़ाये जाने का यत्न करता है। अन्य मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। चूंकि मनुष्यों में शारीरिक और मानसिक बल एक जैसा ही होता है, उनमें संघर्ष होने लगता है। कुदरती अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का शत्रु होता है। ऐसी अवस्था में शुभ-अशुभ न्याय-अन्याय का भेद होता ही नहीं। हर एक का काम शक्ति का प्राप्त करना, और जैसे भी हो सके, अपने अर्थ को सिद्ध करना होता है।

---

* Thomas Hobbes (A. D. 1588–1679): *Leviathan.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. व्यवस्था की स्थापना

यह अवस्था देर तक कायम नहीं रह सकती। सभी व्यक्ति चाहते तो सुरक्षा, सुख और शक्ति हैं, परन्तु रहते भयभीत, दुखी, और अशक्त हैं। ऐसी दुखद अवस्था को समाप्त करने के लिये वे विचार करते हैं। वे निश्चय करते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष को पर्याप्त शक्ति दें, और उससे कहें कि वह व्यवस्था स्थापित करे। हाब्स के विचारानुसार यह 'समाज' के प्रकटन की कथा है।

समाज की स्थापना होने पर, प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण पर प्रतिबन्ध लगाता है। वह इस बात पर सहमत हो जाता है कि शक्ति होने पर भी वह दूसरों का माल नहीं छीनेगा। ऐसा समझौता होने पर 'न्याय', 'अन्याय', 'अधिकार', 'कर्त्तव्य' आदि प्रत्ययों का उदय होता है। 'जियो और जीने दो' का नियम स्वीकार किया जाता है। इस स्वीकृति के बाद भी 'हिंसा' का राज्य समाप्त नहीं हो जाता; परन्तु लोग नये मार्ग को उचित मार्ग समझने लगते हैं, और उस पर चलना आरम्भ कर देते हैं।

नई व्यवस्था की सफलता के लिये आवश्यक है कि सारे मनुष्य राज्य की सत्ता को स्वीकार करें, और अपने हित में, अपनी स्वतंत्रता को सीमित करके राज्य की आज्ञा के सामने सीस नवाएं। राज्य शान्त जीवन के लिये नियम बनाता है। इन नियमों को ही 'नीति' कहते हैं। हाब्स ने व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता से आरम्भ किया, और निस्सीम राजनीतिक शासन के साथ समाप्त किया।

३. हाब्स का सिद्धान्त और उसकी प्रतिक्रिया

हाब्स के सिद्धान्त में प्रमुख बातें ये हैं :—

(१) नैसर्गिक प्रकृति के अनुसार, मनुष्य अपना अर्थ, और केवल अपना अर्थ ही, चाहता है। प्राकृत अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का शत्रु है।

(२) इस दुरवस्था को समाप्त करने के लिये 'समाज' की रचना होती है। समाज शिष्टाचार के नियम बनाता है। ये नियम ही 'नीति' हैं। नीति निर्मित वस्तु है; प्राकृत सत्ता नहीं। नीति के आदेश राज्य के आदेश हैं। इस बाह्य आज्ञा का पालन करना ही शुभ आचरण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन विचारों ने विरोध का एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। कुछ आलोचकों ने पहली धारणा का विरोध किया, और कहा कि मानव प्रकृति में स्वार्थ के साथ परार्थ भी सम्मिलित है। अन्य आलोचकों ने कहा कि नैतिक भेद कुदरती हैं; मनुष्यों के समझौते का फल नहीं। अन्य आलोचकों ने इस बात पर जोर दिया कि शुभ आचरण बाह्य आज्ञा का पालन नहीं, अपितु आन्तरिक प्रकाश के निर्देश के अनुसार चलना है। अब इन आलोचनों का अध्ययन करें।

(२) भद्र अभद्र का भेद कुदरती है

कडवर्थ और क्लार्क*

१. नैतिक और अनैतिक वाक्य

तीन साधारण वाक्यों के साथ हम इस विषय को आरंभ करते हैं:—

(१) विधान सभा में, कोई प्रस्ताव, जिस का अनुमोदन न हो, विचार का विषय नहीं हो सकता।

(२) यदि दो वस्तुओं में प्रत्येक तीसरी वस्तु के बराबर हो, तो वे दोनों भी एक दूसरे के बराबर होंगी।

(३) सत्य-भाषण श्रेष्ठ कर्म है; झूठ बोलना बुरा है।

पहला वाक्य एक निर्णय है, जो विधान सभा ने अपने कार्य-क्रम को व्यवस्थित बनाने के लिये किया है। विधान सभा चाहे, तो इसमें परिवर्तन कर सकती है। प्रत्येक सभा अपने लिये ऐसे नियम बनाती है। यह नियम किसी अन्य सभा में मान्य नहीं होते।

दूसरा वाक्य एक सत्य का वर्णन है, जो देश और काल से सम्बन्ध नहीं रखता। यह आज सत्य है, कल भी सत्य रहेगा; भारत में सत्य है, जापान में सत्य है, और नक्षत्रों में भी सत्य है। यह सत्ता की प्रकृति का वर्णन है।

---

* Ralph Cudworth (1617-1688): *Treatise Concerning Eternal and Immutable Morality.*

Samuel Clarke (1675-1729) : *Boyle Lectures.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तीसरा वाक्य किसी घटना वा प्राकृत सत्य का वर्णन नहीं, अपितु 'मूल्य' की बाबत कहता है। इस के अनुसार, सत्य-भाषण और झूठ की परख की जाय, तो सत्य भाषण भद्र, और झूठ अभद्र दिखाई देता है।

हमारे सम्मुख प्रश्न यह है कि तीसरा वाक्य निराले किस्म का है, वा अन्य दो वाक्यों में से किसी एक के समान है? जैसा हम देख चुके हैं, हाब्स ने इसे पहले वाक्य के अनुरूप बताया: यह भी मनुष्यों का निश्चय है। कडवर्थ और क्लार्क ने कहा कि यह दूसरे वाक्य के सदृश है। जिस तरह कारण-कार्य का सम्बन्ध और गणित के नियम नित्य हैं, इसी तरह नैतिक भेद भी सत्ता की प्रकृति में विद्यमान हैं। नीचे सैमुयल क्लार्क का मत दिया जाता है।

२. क्लार्क का सिद्धान्त

क्लार्क अपनी पुस्तक के आरंभ में ही कहता है कि उसका उद्देश्य हाब्स और उसके साथियों के पक्ष का खंडन करना है। वह नीति को 'आज्ञा-पालन' से अलग और स्वतन्त्र करना चाहता है, चाहे वह आज्ञा राज्य की हो, वा ईश्वरीय हो। नीति के आदेशों की मान्यता इन पर निर्भर नहीं कि उन आदेशों का देने वाला बहुत बड़ी शक्ति का स्वामी है, और हम उनके मानने पर विवश हैं। यदि शक्ति ही नैतिक आदेशों को मान्य बनाती, तो यह वर्त्तमान रूप से विपरीत रूप में भी मान्य होते। कल्पना करें कि अनन्त शक्ति का स्वामी, ईश्वर, छल-कपट और अन्याय को मान्य, तथा सरलता एवं न्याय को अमान्य ठहरा देता। उस हालत में भी नैतिक चेतना इन आदेशों को स्वीकार न करती। दो और दो चार हैं। यह किसी प्रकार की आज्ञा का फल नहीं; यह तो सत्ता की प्रकृति में ही निहित है। इसी तरह भद्र और अभद्र का भेद प्राकृत सत्य है।

अपनी धारणा के पक्ष में क्लार्क जो हेतु देता है, उन में प्रमुख ये हैं:—

(१) भद्र–अभद्र, शुभ–अशुभ का भेद सार्वजनिक विश्वास है। जो लोग बुद्धि का प्रयोग कर सकते हैं, और जिनकी बुद्धि बुरी शिक्षा वा वातावरण के प्रभाव से भ्रष्ट नहीं हो गयी, वे न्याय को सराहनीय और अन्याय को निन्दनीय समझते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) जिन लोगों को मर्य्यादा का ज्ञान नहीं, यदि उनसे भी उपयोगी प्रश्नोत्तर किये जायें, तो वे भद्र और अभद्र में भेद करेंगे।

(अफ़लातूं ने जो उपाय ऐसे मनुष्यों के मन से 'सत्य' को बाहर खींच लाने के लिये वर्त्ता था, वही उपाय, क्लार्क की सम्मति में, नैतिक भेदों के सम्बन्ध में भी वर्त्ता जा सकता है।)

(३) जब हम अपने कर्मों पर ठंडे दिल से विचार करते हैं, तो स्वार्थ को अलग रखकर, उनके अच्छा-बुरा होने का निर्णय करते हैं। यदि स्वार्थ ही अच्छे-बुरे की नींव होती, तो हम, नैतिक विचार में, इसे एक ओर रख देने का यत्न न करते।

अन्य पुरुषों के कर्मों के सम्बन्ध में भी बुद्धि स्वतन्त्र निर्णय ही देती है।

(४) जब हम किसी अपरिचित पुरुष को भी कष्ट में देखते हैं, तो हमारे मन में करुणा का भाव उदय होता है। कोई हमारे साथ नेकी करे, तो हम उस के कृतज्ञ होते हैं। करुणा और कृतज्ञता दोनों विशुद्ध स्वार्थवाद का निराकरण करते हैं।

३. मौलिक कर्त्तव्य

'पदार्थों की प्रकृति' को देख कर, बुद्धि भद्र और अभद्र का भेद बताती है, और मौलिक कर्त्तव्यों का निश्चय करती है। क्लार्क ऐसे तीन कर्त्तव्यों का वर्णन करता है—

(१) परमात्मा के सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य है कि उसके प्रति हमारे मन में पूर्ण श्रद्धा और भक्ति का भाव हो।

(२) अन्य मनुष्यों के सम्बन्ध में हमारे कर्त्तव्य के दो भाग हैं—

(क) 'हम प्रत्येक मनुष्य के साथ ऐसा व्यवहार करें, जैसा, समान स्थिति में, बुद्धि का प्रयोग करके, हम आशा कर सकते हैं कि वह हमारे साथ करे'।

(ख) 'हम, साधारणतः सार्वजनिक हित के भाव से, दूसरों की भलाई और सुख के लिये यत्न करें'।

(३) अपने सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य है कि—

'जब तक हमसे हो सके, अपने जीवन की रक्षा करें; और ऐसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शारीरिक और मानसिक अवस्था बनाये रखें जिस से अपने अन्य कर्त्तव्यों के पालन करने के योग्य हो सकें'।

अन्य पुरुषों के सम्बन्ध में जो कर्त्तव्य बयान किये गये हैं, उन के वर्णन में कुछ शब्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। 'क' भाग में कहा गया है कि वर्त्तमान स्थिति और कल्पित स्थिति में समानता हो। प्रत्येक कर्म विशेष स्थिति में किया जाता है। इस स्थिति को ध्यान में रखना चाहिये। दूसरी बात यह कि निश्चय करना बुद्धि का काम है, भाव का काम नहीं। 'ख' भाग में कहा गया है कि दूसरों की भलाई का भाव तो बना ही रहना चाहिये; विशेष अवस्था में हम अपने आप को इस दायित्व से मुक्त कर सकते हैं। यह नहीं कि साधारणतः तो अपनी बाबत ही सोचें, और विशेष अवस्था में परहित का भी ध्यान कर लें। दूसरी बात यह कि जब हम किसी विशेष पु ष की सहायता करें, तो इस में भी हमारा भाव सार्वजनिक हित ही होना चाहिये। जब उस पुरुष के साथ हमारा निजी सम्बन्ध हमारे व्यवहार में प्रमुख हेतु बन जाता है, तो हमारे काम का नैतिक मूल्य कम हो जाता है। कुछ लोगों के विचार में तो नैतिक मूल्य रहता ही नहीं।

क्लार्क की विचार-धारा में प्रमुख बात यह है कि उस ने 'सत्य' और 'शुभ', 'असत्य' और 'अशुभ' में भेद नहीं किया, और इस तरह 'नीति' को 'न्याय' के साथ मिला दिया। जैसा हम कह चुके हैं, तथ्य और मूल्य एक श्रेणी में नहीं आते।

तथ्य को इन्द्रियों या बुद्धि की सहायता से देखा जाता है; मूल्य को कसौटीपर परखा जाता है। क्लार्क ने इस भेद को देखा नहीं, या स्वीकार नहीं किया।

[३] नैतिक–बोध इन्द्रिय

हम प्राकृत पदार्थों के गुणों को ज्ञान–इन्द्रियों के प्रयोग से जानते हैं। हमारी आंख उन के सुन्दर वा कुरूप होने की बाबत भी बताती है; हमारे कान यह भी बताते हैं कि शब्द मधुर है, या कर्कश है। कुछ विचारकों का विचार है कि कर्मों के अच्छा बुरा होने के विषय में भी हम एक विशेष मानसिक करण से जानते है। इसे 'नैतिक–बोध इंद्रिय' का नाम दिया गया है। यदि एक विशेष इंद्रिय हमें नैतिक भेदों की बाबत बताती है, तो यह भेद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी समझौते का फल नहीं हो सकते। इस तरह इन विचारकों ने हाब्स के सिद्धान्त पर एक नई दिशा से आक्रमण किया। उन्होंने यह भी कहा कि मानव प्रकृति में स्वार्थ की भांति सहानुभूति भी एक वास्तविक अंश है। इस संबन्ध में तीन विचारकों के नाम विशेष महत्व के हैं :—

(१) लार्ड शैफ्ट्सबरी,

(२) हचिसन,

(३) एडम स्मिथ।

इन्हें अलग अलग लेते हैं।

(क) शैफ्ट्सबरी *

१. संगठन का प्रत्यय

शैफ्ट्सबरी का मौलिक प्रत्यय 'संगठन' का प्रत्यय है। 'संगठन' में बहुत्व और एकत्व का मेल होता है। मनुष्य का शरीर इसका अच्छा उदाहरण है। आँख, कान, मेदा, नाड़ियां, हृदय अपनी बनावट और अपनी प्रक्रिया में विभिन्न हैं, परन्तु सारे एक ही शरीर के अंग हैं। शरीर के स्वास्थ्य में इन का स्वास्थ्य है; उस के अस्वास्थ्य में इन का अस्वास्थ्य है। यही हाल मनुष्य की भावनाओं का है। जो भावना अपने संगठन के अनुकूल चलती है, वह अच्छी भावना है; जो उस के प्रतिकूल चलती है, वह बुरी भावना है।

२. मानव की भावनाएँ

मनुष्य में अनेक भावनायें हैं। इन्हें तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं —

(१) प्राकृत भावनाएँ,

(२) वैयक्तिक हित की भावनाएँ,

(३) अप्राकृत भावनाएँ।

प्राकृत भावनाओं का उद्देश्य व्यक्ति और जाति के जीवन को स्थायी रखना है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको बचाना चाहता है। माता को बच्चे

---

*A. A. Cooper, third Earl of Shaftesbury (1671-1713). Collected Writings:-*Characteristics of Men, Manners, Opinions and Times.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के साथ प्रेम होता है, और इस प्रेम की मात्रा बच्चे की निः सहायता के साथ बढ़ती घटती है।

वैयक्तिक हित की भावनाएँ परहित की और उदासीन होती हैं ; और कभी कभी उसके प्रतिकूल भी जाती हैं।

अप्राकृत भावनाएँ अपना भला न होने की अवस्था में भी दूसरे का अहित चाहती हैं। कई मनुष्य पीड़ा को देखकर प्रसन्न होते हैं ; और अपने आप को इस तरह प्रसन्न करने के लिये, दूसरों पर अत्याचार भी कर देते हैं।

पहली प्रकार की भावनायें सर्व-हितकारी हैं, और इस लिये सदा अच्छी हैं। दूसरी प्रकार की भावनाओं की बाबत सोचना होता है कि उन पर आचरण करने से कितना कल्याण और कितना अकल्याण होता है। तीसरी प्रकार की भावनायें बुरी हैं।

पशुओं की हालत में भावनाओं का विषय विशेष पदार्थ होता है। मनुष्यों की हालत में, क्रिया और स्वयं भावना भी यह विषय बन जाते हैं। गौ बछड़े से प्रेम करती है ; मनुष्य बच्चे से प्रेम करता है, परन्तु वह प्रेम-क्रिया और स्वयं प्रेम से भी प्रेम कर सकता है। इस लिये अच्छी भावनाओं के साथ अच्छा स्वभाव भी महत्वपूर्ण बन जाता है।

३. वृत्त क्या है?

वृत्त सर्वहित का दूसरा नाम है।

इस के लिये दो बातों की आवश्कता है:—

(१) व्यक्ति को शुभ-अशुभ का ज्ञान हो।

(२) वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करे, जिस से उस की भावनायें ठीक रीति से प्रयुक्त हो सकें।

मनुष्य के सत्मार्ग से हट जाने का कारण यही होता है कि उसे शुभाशुभ का ज्ञान नहीं होता, या कुशिक्षा अथवा बुरी आदतों के कारण उस ज्ञान पर परदा पड़ जाता है। कभी यह भी होता है कि विरोधी भावनायें प्रबल होती हैं, और अच्छी भावनाओं को दबा देती हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वृत्त सर्वहित में निहित है। इसे स्वीकार करलें, तो भी यह प्रश्न तो बना रहता है कि सर्वहित को अपने हित से प्रथम स्थान क्यों दें। शैफट्सबरी कहता है कि यह प्रश्न एक भ्रम पर आधारित है। यह समझ लिया जाता है कि व्यक्ति के हित और समाज के हित में विरोध है। पर ऐसा होता ही नहीं। यदि स्वप्रेम उपयोगी सीमाओं में रहे, तो यह सदा परहित के अनुकूल होता है। जब स्वप्रेम इन सीमाओं को उलांघ जाता है, तो अपना हित भी सिद्ध नहीं होता। धन दौलत की अवश्यकता तो सब को है, परन्तु जब धन का प्रेम हद से बढ़जाता है, तो यह दुखी कर देता है। यही हाल जीवन से प्रेम का है। जो पुरुष इसी चिन्ता में रहता है कि कहीं मृत्यु न आ जाय, वह मृत्यु से पूर्व ही मरता रहता है। स्वप्रेम संयम में रहे तो, सदा सर्वहित के अनुकूल होता है।

(ख) हचिसन

१. नैतिक भद्र और अभद्र

हचिसन* नैतिक भद्र और अभद्र का लक्षण इन शब्दों में करता है:- 'नैतिक भद्र से कर्मों का ऐसा गुण अभिप्रेत है, जिस की वे लोग जिन्हें उससे कोई लाभ नहीं पहुँचता, प्रशंसा करते हैं, और उसके कर्त्ता से प्रेम करते हैं। नैतिक अभद्र से ऐसा गुण अभिप्रेत है जिसे वह लोग भी, जिन पर उस कर्म का कोई प्रभाव नहीं होता, घृणा की दृष्टि से देखते हैं, और उसके कर्त्ता को भी नापसन्द करते हैं'।

नैतिक भद्र और अभद्र 'प्राकृतिक' भद्र और अभद्र, और 'रसिक' भद्र और अभद्र दोनों से विभिन्न हैं। अच्छा खाना खाकर हम प्रसन्न होते हैं। यह प्रसन्नता 'कुदरती भद्र' है। जब हम किसी सुन्दर चित्र को देखकर प्रसन्न होते हैं, तो हमारी प्रसन्नता 'रसिक भद्र' है। दूसरों के भले कर्मों का चिन्तन करने से वा अपने भले कर्मों के चिन्तन करने से जो प्रसन्नता होती है, वह नैतिकभद्र है।

नैतिक प्रसन्नता उन कर्मों के सम्बन्ध में भी होती है, जो हमारे सामने नहीं होते, वा जिनके विषय में किसी कल्पित कथा या नाटक में ही पढ़ते हैं।

२. भले कर्म का प्रेरक

हचिसन की सम्मति में केवल वही भावनायें नैतिक महत्व रखती हैं, जिन का विषय कोई बुधान-जीव हो। यह भावनायें प्रेम और द्वेष के रूप

*Francis Hutchison (1594-1746): *System of Moral Philosophy.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में व्यक्त होती हैं। सम्मान और परोपकार से हम प्रेम करते हैं; घृणा और द्रोह से द्वेष करते हैं। नैतिक प्रेम का पात्र वही मनुष्य हो सकता है, जिस के आचार के लिये हमारे मन में सम्मान हो। यह प्रेम भय वा प्रलोभन से प्राप्त नहीं हो सकता। जिन पुरुषों से हमें हानि पहुँची हो, उन का उच्च आचार भी हमारे सम्मान और प्रेम का पात्र बनता है। नैतिक प्रेम का दूसरा पात्र परोपकार है। जिस कर्म में अ ना कोई अर्थ न हो, और जिस की प्रेरणा कोई प्राकृतिक भावना भी न करती हो, उस की प्रशंसा करना, उससे प्रेम करना, हमारे स्वभाव में ही है। दूसरी ओर, 'निष्काम-द्रोह' बुराई की पराकाष्ठा है।

जो कर्म केवल अपने हित के लिये किये जाते हैं, वे कोई नैतिक महत्व नहीं रखते।

कर्मों के शुभाशुभ के सम्बन्ध में निश्चय करते हुए, हम कार्य-कर्त्ता की योग्यता को भी ध्यान में रखते हैं। धनी पुरुष के दान की अपेक्षा निर्धन पुरुष का उतना ही दान अधिक महत्व रखता है। हम देखते हैं कि दान में कितना त्याग हुआ है।

करुणा और कृतज्ञता के व्यापक भाव बताते हैं कि नैतिक-बोध अप्राप्त और नैसर्गिक भाव है।

३. भाव बुद्धि से उत्तम पथ-प्रदर्शक है।

क्लार्क ने बुद्धि का आश्रय लिया था; हचिसन ने भाव का आश्रय लिया। हचिसन ने इसके लिये दो हेतुओं का वर्णन किया है :—

(१) बुद्धि अपनी खोज में बहुत धीरे चलती है; और इस पर भी उसकी खोज का फल अनिश्चित ही रहता है। इसके विपरीत, नैतिक-बोध अपना निर्णय तुरन्त दे देता है, और इसका निर्णय असंदिग्ध होता है।

(२) मनन 'शान्त' और 'अकर्मण्य' होता है। इसमें उत्तेजित करने की शक्ति नहीं होती। भाव में यह शक्ति होती है। हमें काम करना है; इसके लिये भाव बुद्धि की अपेक्षा अधिक सहायता दे सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. आन्तरिक नियम (२)

संवेदन और कान्शेन्स

(क) संवेदन

ऐडम स्मिथ

१. प्राकृत और नैतिक संवेदन

ऐडम स्मिथ* ने भी हाब्स के स्वार्थवाद का विरोध किया। व्यापक नैतिक-बोध के स्थान में उसने एक विशेष भावना पर अपने सिद्धान्त की नींव रखी। यह भावना संवेदन वा सहानुभूति है। सहानुभूति का अर्थ दूसरे की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेना है। किसी सीमा तक यह हमारी प्रकृति में ही है। जब हम किसी को हर्ष में देखते हैं, तो यह दृष्य हमें भी कुछ प्रसन्न कर देता है ; जब हम किसी को दुखी देखते हैं, तो हम भी कुछ दुखी हो जाते हैं। सुख और दुख दोनों में विस्तीर्ण होने की प्रवृत्ति है। यह स्वाभाविक संवेदन नैतिक गुण–दोष से विहीन है। जब मनन भी साथ मिल जाता है, तो स्थिति बदल जाती है। मैं किसी पुरुष को हर्ष में देखता हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि उसके हर्ष का कारण क्या है। मुझे पता लगता है कि उसने किसी सीधे सादे पुरुष को ठग लिया है, और अपनी चतुराई और सफलता पर प्रसन्न हो रहा है। अब मैं उसके हर्ष में सम्मिलित नहीं होता ; मुझे उससे घृणा होती है। मैं एक नवयुवक को पिटता देखता हूँ। मुझे थोड़ा दुख होता है। पूछने पर पता लगता है कि वह किसी की जेब कतरते पकड़ा गया है। यह जानते ही, मेरा दुख तसल्ली में बदल जाता है कि उसे अच्छा सबक मिल रहा है। जब मनन हमारी प्रसन्नता या अप्रसन्नता का निश्चय करता है, तो हमारा संवेदन नैतिक महत्व ग्रहण कर लेता है।

२. नैतिक निर्णय

ऐडम स्मिथ की सम्मति में, हम पहले दूसरों के कर्मों को नैतिक निर्णय का विषय बनाते हैं। इसके पश्चात् हमें यह ध्यान आता है कि दूसरे भी

* Adam Smith (1723-1790) : *The Theory Of Moral Sentiments.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमारे कर्मों की बाबत ऐसा ही करते होंगे। हम जानना चाहते हैं कि वे हमारी बाबत क्या सोचते हैं। हम पूछ कर वा किसी अन्य रीति से इसका पता लगाने का यत्न करते हैं। परन्तु इसकी बाबत जानने का एक और ढंग भी है। हम कल्पना की सहायता से अपने आपको उनके स्थान में रखते हैं, और वहाँ से अपने कर्मों पर दृष्टि डालते हैं। इस तरह हम आपही द्रष्टा और आपही दृष्य बन जाते हैं। यह 'आत्म-निर्णय' की रीति है।

अन्य पुरुषों के कर्मों के नैतिक मूल्य की बाबत निर्णय करने में हमारी मानसिक क्रिया क्या होती है ?

स्मिथ के मतानुसार, हम अपने आपसे पूछते हैं : 'यदि मैं उस मनुष्य के स्थान में होता, तो क्या मैं भी उसके प्रेरक से प्रेरित होता ? और जो कुछ उसने किया है, मैं भी करता ?' यदि मेरा उत्तर 'हाँ' में है, तो मेरा संवेदन उस पुरुष के साथ है, और मैं उसके काम को आदर के योग्य समझता हूँ। यदि मेरा उत्तर 'नहीं' में है, तो मैं उसके साथ सहानुभूति नहीं करता, और उसके कर्म को तिरस्कार का पात्र समझता हूँ।

यह संवेदन स्पष्ट संवेदन है। इसके अतिरिक्त एक अस्पष्ट संवेदन भी होता है, और यह भी नैतिक निर्णय में भाग लेता है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर उपकार करता है। हम उपकार करने वाले के भाव का आदर करते हैं। जिस पुरुष का उपकार हुआ है, वह कृतज्ञता प्रकट करता है। हम उसकी कृतज्ञता का भी आदर करते हैं, और इस तरह उसे अच्छा समझते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हम अपने आपको इन दोनों पुरुषों की स्थिति में रखकर समझते हैं कि हम भी उपकार करते, और हम भी कृतज्ञ होते। इसी तरह हम अत्याचार का तिरस्कार करते हैं, और जिस पुरुष पर अत्याचार हुआ है, उसकी अप्रसन्नता की प्रशंसा करते हैं। ऐसा करने में भी हमारा संवेदन दूसरे के कार्यों पर नैतिक निर्णय देता है।

३. 'निष्पक्ष द्रष्टा'

अपने कार्यों के सम्बन्ध में हम पूछते हैं कि क्या अन्य पुरुष भी हमारे कार्यों के प्रति अपना संवेदन प्रकट करते हैं। अन्य पुरुषों में हम किसी विशेष पुरुष को नहीं लेते, अपितु 'निष्पक्ष पुरुष' की कल्पना करते हैं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और उसके निर्णय को ठीक निर्णय स्वीकार करते हैं। 'निष्पक्ष द्रष्टा' का प्रत्यय स्मिथ के विचार में प्रमुख प्रत्यय है ।

दूसरों के कर्मों की बाबत हम निर्णय करते हैं ; अपने कर्मों के सम्बन्ध में क्यों अपने आप पर भरोसा नहीं करते ? जो अधिकार हमें दूसरों के सम्बन्ध में है, वह अपने सम्बन्ध में क्यों नहीं ? इसके दो कारण हैं :—

(१) कार्य के पूर्व, हम बहुधा किसी उद्वेग के वश में होते हैं, और इस लिये हमारी बुद्धि ठीक काम नहीं कर सकती ।

(२) कार्य हो चुकने पर, हम प्रायः अपने प्रति निष्पक्ष नहीं रह सकते। अपने लिये वही नियम नहीं वर्त्तते, जो दूसरों के लिये वर्त्तते हैं।

'निष्पक्ष दर्शक' इन दोनों दोषों से बचा रहता है ।

४. आचरण के आम नियम

दैनिक व्यवहार के लिये, हम कुछ आम नियम स्वीकार कर लेते हैं। इन नियमों की नींव स्वार्थ पर नहीं, अपितु सर्वार्थ पर होती है। न्याय, करुणा, समाज-सेवा, कृतज्ञता आदि को मान्य बनाते हैं ; इनके प्रतिकूल व्यवहार को त्याज्य समझते हैं।

यह तो उन कर्मों की बाबत है जिनका प्रभाव अन्य मनुष्यों पर पड़ता है। जिन कर्मों का सम्बन्ध प्रायः हमी से है, उनकी बाबत दूरदर्शिता ही हमारी पथ-प्रदर्शिका है । इस प्रदर्शन में दो बातें प्रमुख हैं :—

(१) व्यक्ति में कर्मों के परिणामों को भली भांति समझने की योग्यता हो ।

(२) उसके जीवन में संयम का राज्य हो ।

'संयम' के लिये दो बातों की आवश्यकता है:—

मनुष्य कठिनाइयों की उपस्थिति में साहस को न छोड़े; और डट कर उनका मुकाबला करे।

जब किसी प्रकार का प्रलोभन आये, तो भी सीधा खड़ा रहे।

कठिनाइयां बाह्य हों, वा आन्तरिक हों, उनके आघात से टूट न जाय ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५. 'नैतिक-इन्द्रिय' की समालोचना

स्मिथ का उद्देश्य भी हाब्स के सिद्धान्त का खण्डन था, परन्तु उसने अपने लिये शैफ़्ट्सबरी और हचिसन के मार्ग से अलग मार्ग चुना। उसने 'नैतिक-इन्द्रिय' को पथ-प्रदर्शिका स्वीकार नहीं किया। इसका कारण क्या था ?

स्मिथ कहता है —

(१) जब हम किसी समस्या को इन्द्रिय को सौंपते हैं, तो, उसके साथ ही, उस समस्या को बुद्धि का विषय अस्वीकार कर देते हैं। जो पुरुष कहता है कि वह किसी कर्म को स्पष्ट शुभ-कर्म देखता है, वह इस विषय पर अधिक विचार का द्वार बन्द कर देता है। यह दर्शन की विधि नहीं।

(२) 'नैतिक-इन्द्रिय' को पथ-प्रदर्शिका स्वीकार करें, तो वास्तव में शुभ-अशुभ की बाबत मतभेद हो ही नहीं सकता। मैं अपने प्रत्यक्ष की बाबत कहता हूं; मेरा साथी अपने प्रत्यक्ष की बाबत कहता है। मतभेद तो तब हो, जब हम दोनों एक ही वस्तु की बाबत दो विभिन्न वा विरोधी बयान दें।

(३) सब से बड़ी कठिनाई यह है कि शुभाशुभ के भेद का यह समाधान अनावश्यक है। समाधान का माना हुआ सूत्र यह है कि जहाँ सरल समाधान से काम निकल सके, वहाँ अ-सरल समाधान की शरण न ली जाय। पशु-पक्षियों के काम 'नैसर्गिक उत्तेजन' से समझ में आ सकें, तो बुद्धि को बीच में न लाया जाय। संवेदन के अस्तित्व से तो इनकार हो ही नहीं सकता। जब संवेदन नैतिक निर्णय का पर्याप्त और संतोषजनक समाधान हो सकता है, तो किसी विशेष 'इन्द्रिय' की रचना का कोई अवसर ही नहीं।

(ख) कान्शेन्स वा ज़मीर

बिशप बटलर

१. नीति की दो विधियाँ : बटलर का दृष्टिकोण

बटलर* कहता है कि भद्र-अभद्र का भेद जानने के लिये दो विधियों का प्रयोग होता है। कुछ लोग नीति को 'वस्तुओं की प्रकृति' पर आधारित करते

---

* Joseph Butler (1692-1752): 1. *Sermons on Human Nature*. 2. *Dissertation on the Nature of Virtue*.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं; कुछ इसे 'मानव प्रकृति' की नींव पर रखते हैं। जैसा हम देख चुके ह, क्लार्क ने पहली विधि को अपनाया था; बटलर ने दूसरी विधि को अंगीकार किया। बटलर ने भी शैफ़्ट्सबरी की तरह 'संगठन' के प्रत्यय पर विशेष बल दिया, परन्तु एक भेद के साथ। मानव-प्रकृति में कई प्रक्रियायें विद्यमान हैं। शैफ़्ट्सबरी ने इन सब को एक स्तर पर रखा, और कहा कि जो प्रक्रिया 'संगठन' के शेष भाग के अनुकूल है, वह शुभ प्रक्रिया है; जो संगठन के प्रतिकूल चलती है, वह अशुभ है। अपने आप में वह सब गुण-दोष से रहित हैं। इस के विपरीत बटलर ने मानव प्रकृति के विभिन्न भागों में ऊँच-नीच का भेद किया, और इस तरह उन में हरेक को अधिक वा न्यून मूल्यवान देखा।

पशु नैसर्गिक उत्तेजनों के अधीन काम करते हैं। जिस वातावरण में वे रहते हैं, उसकी बदलती हुई स्थिति भी उन पर प्रभाव डालती है। पशुओं के कर्मों को समझने के लिये इन दोनों और इन के आपसी सम्बन्ध का समझना अनिवार्य है, और पर्याप्त भी है। मनुष्यों की हालत में यह पर्याप्त नहीं। कारण यह कि मनुष्य में नैसर्गिक उत्तेजनों के अतिरिक्त, और इनसे ऊँचे स्तर पर, कुछ 'नियम' भी विद्यमान हैं। विशेष उत्तेजन अपने आप को तृप्त करना चाहते हैं। उन का 'विषय' कोई विशेष पदार्थ होता है। वह प्राप्त हो जाय, तो वर्त्तमान कमी दूर हो जाती है। जब एक ही समय पर, दो विरोधी उत्तेजन प्रकट हो जायें, और विभिन्न दिशाओं में खींचें, तो एक समस्या खड़ी हो जाती है। इस समय नैतिक निर्णय की आवश्यकता होती है। यह निर्णय उत्कृष्ट नियमों की सहायता से किया जाता है। ये नियम 'स्वप्रेम' और 'परहित की भावना' हैं। इन दोनों का काम उत्तेजनाओं में चुनाव का करना है।

२. 'स्वप्रेम' और 'परहित-भावना'

स्वप्रेम का उद्देश्य क्षणिक तृप्ति नहीं; यह तो पाशव उत्तेजन का लक्ष्य है। स्वप्रेम वर्त्तमान के साथ भविष्य को भी ध्यान में रखता है। हो सके तो जीवन भर की, यह न हो सके तो कुछ समय की तुष्टि इस का लक्ष्य है। ऐसी तुष्टि में 'निर्विघ्नता' और 'संतुलन' सम्मिलित हैं। परहित अन्य पुरुषों के कल्याण को भी महत्व देता है। विशेष उत्तेजनों के झगड़े में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वप्रेम वा परहित-भावना का निर्णय मान्य है। यदि झगड़े का निपटारा इन नियमों में से एक को करना हो, तो कठिनाई का अन्त हो जाता है। परन्तु यह भी संभव है कि स्वप्रेम और परहित-भावना विरोधी दिशाओं में खींचें। ऐसी हालत में क्या करना चाहिये ?

स्वप्रेम को संकुचित अर्थों में नहीं लेना चाहिये। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि परहित के अनेक रूप होते हैं। जो कठिनाई प्रस्तुत हो जाती है, उसे एक उदाहरण स्पष्ट कर देगा।

एक प्रोफ़ेसर के पास २००) रु० हैं, और वह उन्हें किसी अच्छे प्रयोग में लाना चाहता है। उसके मन में ये विचार उठते हैं:—

(१) कालेज बन्द होने पर एक मास के लिये किसी पहाड़ी स्थान पर हो आये। स्वास्थ्य अच्छा हो जायगा, और दिमाग़ को आराम भी मिलेगा।

(२) जो विषय अध्यापन का है, उस से सम्बद्ध कुछ अच्छी पुस्तकें ख़रीद ले।

(३) किसी योग्य और निर्धन विद्यार्थी को सहायता करके, उसे सारा समय पढ़ाई में लगाने के योग्य बना दे।

(४) जिन लोगों को बाढ़ में हानि हुई है, उनकी सहायता कर दे।

इस स्थिति में वह क्या करे ?

बटलर के विचार में स्वप्रेम और परहित–भावना से भी ऊँचे स्तर पर कान्शेन्स वा ज़मीर का स्थान है। मानव की प्रकृति में कान्शेन्स सर्वोत्कृष्ट नियम है।

३. कान्शेन्स और इसका अधिकार

बटलर के अनुसार, मानव–प्रकृति की बनावट एक व्यवस्थित राष्ट्र की बनावट से मिलती है। कान्शेन्स इस राष्ट्र में राजपति है। उसके अधीन दो प्रमुख पदाधिकारी हैं :—स्वप्रेम और परहित–भावना। नैसर्गिक उत्तेजन राष्ट्र की प्रजा है। प्रजा में प्रत्येक व्यक्ति को अपना काम करने की स्वतन्त्रता है, परन्तु शर्त यह है कि इस में दूसरों की स्वतन्त्रता पर आघात न हो। मुख्य अधिकारियों को भी नियत सीमाओं में रहना होता है। कान्शेन्स का अधिकार निस्सीम है; परन्तु इस की शक्ति निस्सीम नहीं। स्वाधीनता के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण हम कभी सीधे मार्ग पर चलते हैं, और कभी उलटे मार्ग पर भी चलते हैं। बटलर ने एक विख्यात वाक्य में कहा है:—'यदि कान्शेन्स की शक्ति भी इसके अधिकार के बराबर होती, तो संसार में इस का पूर्ण शासन होता।'

तीसरे और चौथे अध्याय में जिन विचारों का वर्णन हुआ है, उन पर एक साथ दृष्टि डालने पर पता लगता है कि इन विचारकों के समक्ष दो प्रमुख प्रश्न थे :—

(१) शुभ–अशुभ का ज्ञान कैसे होता है ?

(२) जैसे कैसे भी यह ज्ञान होता है, इस का मर्म क्या है ?

पहले प्रश्न के उत्तर में सारे विचारक सहमत हैं कि यह ज्ञान किसी बाह्य शक्ति का आदेश नहीं, किन्तु आन्तरिक बोध है। इस आन्तरिक बोध के स्वरूप की बाबत उन में मतभेद हो जाता है। मानसिक प्रक्रिया में ज्ञान, भाव और कृति की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। आन्तरिक बोध को इन तीनों के साथ सम्बद्ध किया गया है। कडवर्थ और क्लार्क ने यह काम बुद्धि को सौंपा। उन के विचार में, सत्य और शुभ, असत्य और अशुभ वास्तव में एक ही श्रेणी में हैं; भेद केवल इतना है कि एक हालत में बुद्धि तथ्यों की बाबत निर्णय करती है; और दूसरी हालत में कर्मों की बाबत करती है। शैफ़्ट्सबरी और हचिसन ने नैतिक निर्णय का भार भाव पर रखा, और नैतिक बोध को सौंदर्य-अनुभूति से मिला दिया। स्मिथ ने आम भाव का स्थान एक विशेष भावना–संवेदन वा अनुभूति–को दिया। बटलर ने ज्ञान और भाव की अपेक्षा कृति को अधिक महत्व दिया, और कहा कि आन्तरिक नियम कान्शेन्स का आदेश है। कान्शेन्स बोध है, यह तुष्टि भी है, परन्तु इस का प्रमुख चिन्ह शासन है।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में विवाद स्वप्रेम और परहित-भावना में है। हाब्स ने स्वार्थ को ही अकेला लक्ष्य बताया। परहित अपने हित का ही साधन है। राज-नियम के सामने झुकने का निश्चय इसीलिये हुआ कि इस के बिना निर्वाह नहीं हो सकता। अन्य विचारकों ने समाज को 'संगठन' के रूप में देखा और कहा कि व्यक्ति का कल्याण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रखता। कल्याण तो सबका साझा है' शैफ़्ट्सबरी ने कहा कि वृत्त और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परहित–भावना एक ही हैं। जो कुछ हम केवल अपने हित में करते हैं, वह दूरदर्शिता की दृष्टि में मूल्य रखता है, परन्तु उसका नैतिक मूल्य कुछ नहीं।

बटलर ने स्वप्रेम और परहित–भावना दोनों के नैतिक मूल्य को स्वीकार किया। यदि इन में झगड़ा हो, तो इस के निपटाने के लिये, इन दोनों से ऊपर, कान्शेन्स को स्थापित कर दिया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५. भोगवाद

१. भोगवाद क्या है ?

पिछले दो अध्यायों में जिन विचारकों के सिद्धान्तों का अध्ययन किया गया है, उनके सामने प्रश्न यह था कि कर्मों के शुभाशुभ की बाबत निर्णय कैसे करते हैं। जिन विचारकों की बाबत अब कुछ कहना है, उनके समक्ष भी यही प्रश्न था। आन्तरिक-नियम में विश्वास करने वाले विचारक समझते थे कि इसके लिये कर्मों को देखना ही पर्याप्त है। जैसे एक मुद्रा पर उसका मूल्य अंकित होता है, और साधारण मनुष्य भी उसे पढ़ सकता है, उसी तरह कर्मों का नैतिक मूल्य उन पर अंकित होता है। आवश्यकता इतनी ही है कि जो कुछ उन पर अंकित है, उसे ठीक पढ़ लिया जाय। अब हम ऐसे विचारकों की ओर आते हैं जो इस दावे को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि अपने आप में तो सारे कर्म गति का रूप हैं ; इनमें अच्छे बुरे का भेद कुछ नहीं। एक मनुष्य मन्दिर में पूजा के लिये जाता है ; दूसरा डाका डालने जाता है। दोनों हालतों में कुछ पुट्ठे सुकड़ते और फैलते हैं। कर्मों के नैतिक भेद को देखने के लिये, हमें उनके परिणामों की ओर देखना चाहिये। जिस कर्म का परिणाम कल्याण या भद्र है, वह शुभ कर्म है ; जिस कर्म का परिणाम अभद्र है, वह अशुभ है। भोगवाद सुख की उपलब्धि या दुख की निवृत्ति को ही भद्र मानता है। शेष जो कुछ भी मूल्यवान है, वह केवल इसलिये मूल्यवान है कि वह इस परम-लक्ष्य की सिद्धि में सहायक होता है।

२. भोगवाद के विभिन्न रूप

सारे भोगवादी सुख वा तृप्ति के मूल्य को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके सिद्धान्त में कुछ भेद भी प्रविष्ट हो गये हैं। उनमें से कुछ भेद ये हैं :—

(१) वैज्ञानिक भोगवाद और नैतिक भोगवाद

वैज्ञानिक भोगवाद के अनुसार मनुष्य अपनी प्रकृति से ही सुख की इच्छा करता है, और दुख से द्वेष करता है। वह इसके बिना कुछ कर ही नहीं सकता। नैतिक भोगवाद कहता है कि भोग वास्तव में तो अकेली वांछित वस्तु नहीं, परन्तु यह ही अकेली वांछनीय वस्तु अवश्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा हम आगे देखेंगे, कुछ विचारकों ने इस भेद की ओर ध्यान नहीं दिया। कहीं वह वैज्ञानिक भोगवाद का समर्थन करते हैं, कहीं नैतिक भोगवाद का। यदि हम, प्रकृति से विवश, सुख के बिना किसी वस्तु की इच्छा कर ही नहीं सकते, तो सुख के वांछनीय होने न होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। बैन्थम और मिल दोनों पर यह आरोप लग सकता है।

(२) स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद

नैतिक भोगवाद के भी दो रूप हैं। एक के अनुसार प्रत्येक को अपना सुख ही लक्ष्य बनाना चाहिये। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये त्याग के रूप में जो कीमत देनी पड़े, दे देनी चाहिये। सर्वार्थवाद कहता है कि उद्देश्य सुख का उत्पन्न करना और भोगना है। भोगने वाला कौन है ? यह तो एक गौण बात है। बैन्थम ने कहा : 'प्रत्येक मनुष्य एक एकाई है; कोई मनुष्य भी एकाई से अधिक नहीं।' सर्वार्थवाद इस धारणा को मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करता है।

(३) अतीत भोगवाद और मध्यवर्ती भोगवाद

तीसरा भेद भोगी, के सम्बन्ध में नहीं, अपितु भोग के समय के सम्बन्ध में है। कुछ लोग कहते हैं--'भोग ही भोगना है, तो वर्त्तमान क्षण से परे क्यों जायें ? वर्त्तमान तो विद्यमान है; भविष्य की बाबत सब अनिश्चित है। मनुष्यों का व्यवहार बताता है कि हम भविष्य की ओर उदासीन नहीं हो सकते। सभ्यता का तत्व ही यह है कि व्यक्ति वर्त्तमान भोग को स्थगित करके भविष्य के भोग की प्रतीक्षा करता है।

(४) अनुभूत भोगवाद और वैज्ञानिक भोगवाद

ऊपर भोगवाद के जिन रूपों का वर्णन किया गया है, वह अनुभव पर आधारित हैं। अनुभव बताता है कि सुख या भोग ही वांछित वस्तु है। वह यह नहीं बताता कि हम सुख की इच्छा करते क्यों हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर कहता है कि विकासवाद की नीति इस त्रुटि को दूर कर देती है। यह बताती है कि हमें क्यों ऐसा करना चाहिये। वह भोगवाद के अन्य रूपों को 'अनुभूत भोगवाद' कहता है, और इसके मुकाबिले अपने सिद्धान्त को 'वैज्ञानिक भोगवाद' का नाम देता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. भोगवाद का विवरण

भोगवाद पर लिखा तो बहुत लोगों ने है, परन्तु हम यहाँ प्रमुख विचारकों को ही लेंगे।

बैन्थम

(१) परिभाषा

आधुनिक काल में, नीति पर लिखने वालों में जेरिमी बैन्थम* का नाम विशेष महत्व का नाम है। उसने अपने सिद्धान्त में 'उपयोगिता' को प्रमुख स्थान दिया। बैन्थम कहता है कि ह्यूम की 'मानव प्रकृति' को पढ़कर, उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी आँखों से परदे गिर गये, और वह देखने लगा कि 'उपयोगिता' सारी सुकृति की कसौटी और मापक है। इस प्रकाश का प्रभाव बैन्थम पर इतना गहरा पड़ा कि उसने शेष आयु इस विचार के प्रसार में ही व्यय कर दी। उसके विचारों में पीछे कुछ परिवर्तन हुआ, परन्तु मौलिक सिद्धान्त जैसा था, वैसा ही बना रहा।

ह्यूम के प्रभाव में, बैन्थम ने अपने सिद्धान्त को 'उपयोगितावाद' का नाम दिया। इस नाम की एक त्रुटि शीघ्र ही उसकी दृष्टि में आ गयी। जब हम किसी वस्तु की उपयोगिता का वर्णन करते हैं, तो तुरन्त प्रश्न उठता है—'उपयोगिता किसके लिये?' जो तुलायन्त्र आटा तोलता है, वह विज्ञान-निरीक्षण के काम का नहीं; जो इस निरीक्षण में काम आता है, वह दुकानदार के लिये निकम्मा है। बैन्थम ने इस शब्द को छोड़ा, और 'अधिकाधिक संख्या का अधिकाधिक सुख' अपना नैतिक ध्येय निश्चित किया। इसमें भी एक कठिनाई सामने आ गयी। ऐसी अवस्था भी हो सकती है जहाँ सुख की मात्रा एक ओर खींचे, और भोजकों की संख्या दूसरी ओर खींचे। इस कठिनाई के कारण, बैन्थम ने 'संख्या' के अंश को भी छोड़ दिया, और अपने सूत्र को 'अधिकाधिक सुख का नियम' कहना आरम्भ किया।

(२) बैन्थम का सिद्धान्त

बैन्थम का सिद्धान्त उसकी पुस्तक के पहले गद्यांश में ही स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया है :—

*Jeremy Bentham (1748-1832) : *Introduction to the Principles of Morals and Legislation.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'प्रकृति ने मानव जाति को दुख और सुख दो सशक्त स्वामियों के अधिकार में रख दिया है। यह निश्चय करना कि हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे, उन दोनों का ही काम है। एक ओर शुभ और अशुभ का मापदण्ड, और दूसरी ओर कार्य-कारण की शृंखला उनके सिंहासन से बंधी है। वह हमारे सारे कर्मों में, हमारे सारे कथन में, हमारे सारे विचारों में, हम पर शासन करते हैं। प्रत्येक यत्न जो हम अपनी दासता के जुए को उतार फैंकने के लिये कर सकते हैं, हमारी दासता को सिद्ध करेगा और पुष्ट करेगा। कहने को कोई मनुष्य कह ले कि वह इनके शासन से मुक्त हो चुका है, परन्तु सत्य यह है कि वह सदा इस शासन के अधीन रहेगा। 'उपयोगिता' का नियम इस दासता को स्वीकार करता है, और इसे उस व्यवस्था की नींव भी स्वीकार करता है जिसका उद्देश्य बुद्धि और राज-नियम के हाथों से सुख का भवन तैय्यार करना है।'

इस उल्लेख में तीन बातों का वर्णन है :—

(१) मनुष्य का सारा यत्न सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति (वा इससे बचने) के लिये होती है। (मनोवैज्ञानिक भोगवाद)।

(२) सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये। (नैतिक भोगवाद)।

(३) सुखी समाज के निर्माण के लिये बुद्धि और राज-नियम दोनों की आवश्यकता है।

बैन्थम ने अपनी पुस्तक में राज-नियम की ओर अधिक ध्यान दिया है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये काम करता है। समाज को सब नागरिकों के हित की चिन्ता होती है। बुद्धि और राज-नियम का काम व्यक्ति के स्वार्थ को सर्वार्थ के अनुकूल बना देना है। व्यक्ति समझने लगता है कि उसका हित सर्वहित में निहित है। यह कैसे होता है?

(३) नैतिक व्यवहार के 'दबाव'

सामाजिक भाव के उदय और विकास के लिये जो उपाय सहायक होते हैं, उन्हें 'दबाव' कहा जाता है। इन 'दबावों' के प्रभाव में, व्यक्ति पहले परहित को साधन के रूप में अंगीकार करता है; पीछे इसे साध्य ही समझने लगता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ये दबाव चार हैं :—

(क) सामाजिक दबाव

सामाजिक जीवन का आधार ही ऐसी व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति अपनी स्वाधीनता के एक भाग का त्याग कर देता है, ताकि शेष भाग को भले प्रकार भोग सके। ऐसे भाव को प्रोत्साहन देने के लिये, समाज 'प्रशंसा' और 'निन्दा' का प्रयोग करता है। अति विशेष स्थितियों में यह निन्दा सामाजिक बहिष्कार का रूप भी धारण कर लेती है।

(ख) राज-नीतिक दबाव

राज-नियम समाज-विरोधी कर्मों की ओर विशेष ध्यान देता है। निन्दा के स्थान में यह दण्ड का प्रयोग करता है। सर्वहितकारी कामों के लिये यह मान भी देता है, परन्तु इसका मुख्य काम अपराध करने वाले के मन पर यह अंकित करना होता है कि वह अपने लिये महँगा सौदा कर रहा है। जो कुछ उसने प्राप्त किया है, उससे कुछ अधिक ही उसे उसकी कीमत देनी होगी।

(ग) धार्मिक दबाव

साधारण मनुष्यों को व्यवस्था में रखने का सबसे बड़ा साधन धर्म भाव है। दूसरों की स्तुति और निन्दा की ओर हम उदासीन हो सकते हैं; पुलिस का सिपाही भी सदा हमारा पीछा नहीं करता। जो पुरुष परमात्मा की सत्ता में विश्वास करता है, वह बुरे कामों से इसलिये बचना चाहता है कि वह ईश्वरीय आज्ञा के प्रतिकूल हैं।

(घ) प्राकृत दबाव

प्राकृत दबाव स्वतन्त्र दबाव के रूप में काम करता है, और अन्य दबावों के लिये साधन भी बनता है। सारी पीड़ा जो समाज, राष्ट्र, वा ईश्वरीय नियम से किसी मनुष्य को मिलती है, प्राकृत नियम के अनुसार ही मिलती है। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी मानव प्रकृति के प्रतिकूल न हों, तो यह पीड़ा का साधन बन ही नहीं सकते।

बैन्थम के सारे दबाव 'बाह्य दबाव' हैं। दबाव शब्द के अर्थ में ही यह बात निहित है। बैन्थम के सिद्धान्त में यह एक त्रुटि है। जहाँ परवशता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वहाँ नीति के लिये स्थान ही नहीं। इस त्रुटि ने मिल के ध्यान को भी अपनी ओर आकर्षित किया।

(४) सुखों की तुलना

सुख एक समान नहीं होते, और न वे स्वच्छ रूप में अनुभूत होते हैं। जब हम एक सुख को दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय कहते हैं, तो यह निर्णय सुखों के कुछ चिन्हों के आधार पर होता है। बैन्थम के विचारानुसार वह चिन्ह ये हैं :—

(१) सुख की तीक्षणता वा तीव्रता

(२) सुख की अवधि

(३) सुख की निस्सन्देहता

(४) सुख की निकटता

यह प्रमुख चिन्ह हैं। इनके अतिरिक्त बैन्थम दो अन्य चिन्हों का भी वर्णन करता है :—

(५) सुख की प्रजनन शक्ति (अन्य सुखों के उत्पादन की शक्ति)

(६) सुख की स्वच्छता (दुख की मिलावट का न होना)

बैन्थम के सिद्धान्त में सुख, और केवल सुख ही, वांछित और वांछनीय वस्तु है। इसलिये सुखों में उत्कृष्ट और निकृष्ट का भेद तो है ही नहीं; उनमें चुनने के लिये उनकी मात्रा को ही देख सकते हैं। इस दृष्टिकोण से देखें, तो उपर्युक्त चिन्हों में तीसरा और चौथा चिन्ह असंगत से प्रतीत होते हैं। 'निस्सन्देहता' सुखों का विशेषण नहीं; यह तो हमारे ज्ञान-अज्ञान की प्रतीक है। इस तरह दो सुख एक ही मात्रा में हों, तो, बैन्थम के मतानुसार, कोई कारण नहीं कि क्यों कल के सुख को परसों के सुख की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाय। आज तो दोनों ही संदिग्ध हैं।

(५) क्रिया के प्रेरक

बैन्थम की सम्मति में मनुष्य जो कुछ करता है, सुख की प्राप्ति अथवा दुख की निवृत्ति के लिये करता है। वास्तव में यही उसकी क्रिया का एकमात्र प्रेरक है। परन्तु हमारे सुख और दुख अनेक कारणों से उत्पन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते हैं। इसे ध्यान में रखते हुए, हम कह सकते हैं कि मनुष्य कई प्रेरकों के प्रभाव में काम करता है। कोई सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये, कोई यश के लिये, कोई प्रेम के वश में, कोई द्वेष के वश में, क्रिया करता है। बैन्थम ने १४ प्रकार के सुखों और १२ प्रकार के दुखों का वर्णन किया है। ये सूचियाँ किसी नियम के आधार पर तैयार नहीं हुईं; न ही हम कह सकते हैं कि ये पूर्ण हैं। प्रत्येक मनुष्य देख सकता है कि वह सुख की प्राप्ति के लिये क्या साधन वर्तता है।

जान स्टूअर्ट मिल

जान स्टूअर्ट मिल* की प्रमुख पुस्तकें न्याय और अर्थशास्त्र पर ह। नीति पर एक छोटी सी पुस्तक 'उपयोगिता-वाद' विख्यात ह। मिल ने कुछ लेख एक प्रत्रिका के लिये लिखे, और वही पीछे इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। जब हम इस पुस्तक को पढ़ते हैं, तो हम अपने आपको नैयायिक मिल के नहीं, अपितु पत्रकार मिल के साथ पाते हैं।

मिल के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये, इस पुस्तक से कुछ उल्लेख नीचे दिये जाते हैं:—

(१) 'जिस हद तक कोई क्रिया सुख की उत्पत्ति में सहायक होती है, उस हद तक वह क्रिया शुभ है; जिस हद तक वह दुख का उत्पादन करने वाली होती है, उस हद तक वह अशुभ क्रिया है।

सुख से अभिप्राय हर्ष का भाव और दुख का अभाव है। दुख और हर्ष का अभाव विपरीत अवस्था का नाम है। सुख और दुख का अभाव ही उद्देश्यों के रूप में वांछनीय हैं। अन्य वांछनीय पदार्थ, जिनकी संख्या बहुत है, या तो उस सुख के लिये जो उनमें विद्यमान है, वांछनीय हैं; या इसलिये वांछनीय हैं कि वह सुख को बढ़ाने वा दुख को रोकने के साधन हैं।'

(२) 'जो सुख बुद्धि, भाव, कल्पना और नैतिक भावनाओं से उत्पन्न होता है, उसे प्रायः इन्द्रिय-जन्य सुख से बहुत ऊँचा पद दिया जाता है।

*John Stuart Mill: (1806-1873): *Utilitarianism.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपयोगितावाद पर लिखने वाले बहुधा मानसिक हर्ष को शारीरिक सुख से इसलिये ऊँचा पद देते हैं कि वह अधिक स्थायी है; अधिक सुरक्षित है; और थोड़े व्यय से प्राप्त हो सकता है। यह और ऐसी अन्य विशेषताएँ हालात या स्थिति से संबद्ध हैं; इनका सम्बन्ध मानसिक हर्ष के अपने तत्व से नहीं। परन्तु यह मानना कि सुख के कुछ रूप अन्य रूपों से अपने आप में अधिक मूल्यवान हैं, उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अनुकूल ही है। शेष सारी वस्तुओं की तुलना में मात्रा के साथ गुण-भेद को ध्यान में रखा जाता है। भोगों की तुलना को केवल मात्रा पर आधारित करना अर्थहीन है।'

(३) 'वह सुख जिसे उपयोगितावादी शुभ कामों का मापदंड स्वीकार करता है, कर्त्ता का अपना सुख नहीं, अपितु उन सब का सुख है, जिन पर उस काम का प्रभाव पड़ता है। अपने सुख और दूसरों के सुख के दरमियान उपयोगितावाद कर्त्ता को ऐसा निष्पक्ष रहने का आदेश देता है, जैसा कोई निष्काम हितैषी हो सकता है।'

इन गद्यांशों से पता लगता है कि मिल के विचार में

(१) सुख की प्राप्ति (और दुख को निवृत्ति) ही अकेली वांछनीय वस्तु है।

(२) सुखों में अधिक न्यून के भेद के साथ, उत्तम और निकृष्ट का भेद भी होता है।

(३) कर्त्ता का हित नहीं, अपितु सर्वहित प्रत्येक का परम लक्ष्य है।

इन तीनों धारणाओं को मिल युक्ति से सिद्ध करने का यत्न करता है। पुस्तक का यह भाग बहुत महत्व का भाग है।

(१) बैन्थम ने मनोवैज्ञानिक भोगवाद और नैतिक भोगवाद दोनों को स्वीकार किया था, परन्तु न उनमें भेद किया था, और न उनमें किसी विशेष सम्बन्ध को देखा था। मिल नैतिक भोगवाद को मनोवैज्ञानिक भोगवाद पर निर्धारित करता है। मिल कहता है:—

'किसी पदार्थ के दृश्यमान होने का प्रमाण यही हो सकता है कि लोग उसे देखते हैं। किसी शब्द के श्रुत होने का प्रमाण यही है कि लोग उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुनते हैं। इसी तरह, मेरे विचार में, किसी वस्तु के वांछनीय होने के पक्ष में यही प्रमाण दिया जा सकता है कि लोग वास्तव में उसकी इच्छा करते हैं।'

कुछ लोग हैरान होते हैं कि मिल की योग्यता का नैयायिक उपर्युक्त शब्द कैसे लिख सका। 'दृश्यमान' का अर्थ ही यह है–'जो देखा जा सके'; 'श्रुत' का अर्थ ही यह है–'जो सुना जा सके'। परन्तु 'वांछनीय' और 'वाँछित' का अर्थ एक नहीं। जिस वस्तु की वास्तव में इच्छा की जाती है, वह वांछित है। अनेक पुरुष अनेक पदार्थों की इच्छा करते हैं। इन इच्छाओं में हम शुभ अशुभ का भेद करते हैं, और कहते हैं कि कुछ पदार्थ इस योग्य हैं कि उन की इच्छा की जाय, और कुछ इस योग्य नहीं। पहले प्रकार के पदार्थ ही वांछनीय हैं। संभव है कि इनमें से किसी विशेष पदार्थ की वास्तव में किसी ने इच्छा न की हो। हमारी वास्तविक इच्छाओं का अध्ययन मनोविज्ञान का काम है; किस वस्तु की इच्छा करनी चाहिये? यह मनोविज्ञान का नहीं, नीति का प्रश्न है। मिल ने वास्तविकता और आदर्श के भेद को नहीं देखा, और इसलिये ऐसे शब्द लिख दिये, जिनमें साधारण मनुष्य भी हेत्वाभास देखता है।

मिल ने क्यों इस भेद को नहीं देखा? उस के आलोचकों ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया। मिल का दार्शनिक दृष्टिकोण 'अनुभववाद' था। इस दृष्टिकोण के अनुसार, हमारा सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। हमारे अनुभव का विषय विशेष घटनाएं होती हैं। जब हमारा अनुभव एक-रस, निर्विरोध, हो, तो हम उसके आधार पर व्यापक धारणाएँ बनाते हैं। परन्तु यह संभावना तो बनी रहती है कि जो कुछ हम आज तक देखते आये हैं, कल उसके प्रतिकूल कोई उदाहरण दीख पड़े। अभी तक जितने त्रिकोण हमने देखे हैं, उनमें दो बाहु मिल कर तीसरे बाहु से बड़े होते हैं; परन्तु यह संभव है कि नक्षत्रों में त्रिकोणों में यह चिह्न न हो। अनुभववादी मिल किसी वस्तु को हर समय, हर कहीं, हर हालत में, वांछनीय स्वीकार कर ही नहीं सकता था। वह यही कह सकता था कि वास्तव में मनुष्य ऐसी इच्छा करते हैं। मिल के प्रमाण में उसके न्याय का दोष न था; दोष था, तो उसके दार्शनिक दृष्टिकोण का था।

(२) मिल ने सुखों में गुण-भेद को स्वीकार किया, और इस पर विशेष बल दिया। इस भेद के पक्ष में उसने दो हेतु दिये हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(क) अन्य सभी वस्तुओं में गुण-भेद है। यह कहना कि सुखों में ऐसा भेद नहीं, अर्थहीन कथन है।

(ग) जो लोग मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के सुखों को जानते हैं, वे इनमें गुण-भेद करते हैं, और मानसिक सुखों को शारीरिक सुखों से उत्तम बताते हैं। इस सम्बन्ध में स्वीकृत सूत्र यह है कि जो सुख उत्तम प्रक्रिया के प्रयोग से पैदा होता है, वह उत्तम है; जो निकृष्ट प्रक्रिया का फल है, वह अधम है।

इन दोनों युक्तियों पर विचार की आवश्यकता है। जब हम वस्तुओं में उत्तम और अधम का भेद करते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि कोई विशेष मूल्य पहली प्रकार की वस्तुओं में पाया जाता है, दूसरी प्रकार की वस्तुओं में पाया नहीं जाता। इस मूल्य की मात्रा अधिक न्यून हो सकती है, परन्तु स्वयं इसमें उत्तम अधम, उत्कृष्ट-निकृष्ट का भेद नहीं हो सकता। तुलना–यन्त्र अन्य पदार्थों को तोलता है, अपने आप को नहीं तोलता। जो कुछ अन्य पदार्थों के मूल्य को नापता मापता है, स्वयं उसमें मूल्य-भेद नहीं हो सकता। मिल कहता है कि सुखों में ऊँच-नीच का भेद है। यह ठीक है, परन्तु मिल ने यह नहीं देखा कि इस तथ्य की स्वीकृति भोगवाद के इस मौलिक सिद्धान्त के प्रतिकूल है कि सुख ही एकमात्र स्वयं-साध्य मूल्य है। जो गुण एक सुख को दूसरे गुण से उत्कृष्ट बनाता है, वह सुख से भिन्न होना चाहिये।

अपनी दूसरी युक्ति में भी मिल भोगवाद का खंडन कर रहा है। यदि सुखों का उत्तम-अधम होना प्रक्रियाओं के उत्तम-अधम होने पर निर्भर है, तो प्रक्रियाओं की उत्तमता और अधमता तो पहले ही विद्यमान है। यह भोग पर आधारित नहीं।

बैन्थम ने सुखों की तुलना में केवल मात्रा के भेद पर बल दिया था; वह सुखों के गुण-भेद को स्वीकार ही नहीं करता था; मिल के पीछे आनेवाले कुछ उपयोगिता-वादियों ने भी अनुभव किया कि सुखों में गुण-भेद का मानना भोगवाद के मौलिक सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

(३) मिल के सिद्धान्त में तीसरा प्रमुख अंश सर्वहितवाद वा सर्वार्थवाद है। बैन्थम ने 'वैयक्तिक भोगवाद' को स्वीकार किया और कहा कि प्रत्येक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य अपना हित चाहता है, परन्तु विविध प्रकार के 'दबावों' का प्रयोग करके, समाज स्वार्थवाद को सर्वार्थवाद में बदलने का यत्न करता है, और इस यत्न में किसी हद तक सफल हो जाता है। यह विवरण मनोविज्ञान है। मिल नैयायिक था। उसने सर्वहितवाद को स्वार्थवाद पर आधारित करने का यत्न किया। मिल की युक्ति का सार यह है:—

प्रत्येक मनुष्य के लिये उस का अपना सुख वांछनीय लक्ष्य है।

समाज व्यक्तियों का समूह है। इसलिये, समूह के लिये समूह का हित वांछनीय है।

इस से अनुमान कर सकते हैं कि समूह के प्रत्येक सदस्य के लिये, समूह का हित वांछनीय है।

यह युक्ति न्याय के साथ घोर अन्याय है।

यदि मान भी लिया जाय कि समाज कुछ इच्छा कर सकता है, तो यह तो सिद्ध नहीं होता कि जो कुछ समूह के प्रत्येक सदस्य के लिये करने के योग्य है, वह समूह के करने के भी योग्य है। प्रत्येक मनुष्य के लिये २४ घंटों में दो सेर पानी पीना आवश्यक है। इससे यह परिणाम कैसे निकलता है कि सारी जाति को २४ घंटों में २ सेर पानी पीना चाहिये? मिल की युक्ति में 'संग्रह—दोष' है। फिर यदि कोई काम समूह के लिये कर्त्तव्य है, तो इस का अर्थ यह नहीं कि वह काम प्रत्येक के लिये भी आवश्यक है। समाज का काम अपराधियों को दंड देना है। साधारण नागरिक न यह काम कर सकता है, और न उसे ऐसा करने का अधिकार है। इस युक्ति में 'विग्रह-दोष' है।

मिल की दूसरी और तीसरी धारणाओं में सत्य है, परन्तु जो हेतु उसने इनकी पुष्टि में दिये हैं, उनमें कुछ सार नहीं।

भोगवाद के अन्य रूप

बैन्थम और मिल के समाधानों में कुछ त्रुटियाँ थीं। इन त्रुटियों ने उपयोगितावादियों को अपने सिद्धान्त पर पुनः विचार करने पर बाधित कर दिया। इसके फलस्वरूप सिद्धान्त को कुछ नए रूपों में प्रस्तुत किया गया। यहाँ हम दो रूपों की ओर संकेत करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) सिजविक का 'बौद्धिक–उपयोगितावाद'

(२) रैशडाल का 'आदर्श–उपयोगितावाद'

(क) सिजविक का बौद्धिक-उपयोगितावाद

सिजविक* ने जो नए चिन्ह इस सिद्धान्त में प्रविष्ट किये, वे ये हैं:—

(१) हमारा लक्ष्य सुख ही है, परन्तु लक्ष्य का निश्चित करना भाव का काम नहीं। यह बुद्धि का काम है। बैन्थम और मिल के विचार में बुद्धि केवल यह बताती है कि भाव के निश्चित किये हुए लक्ष्य की सिद्धि के सफल उपाय क्या हैं। बुद्धि सेवक का पद स्वीकार नहीं करती ; यह लक्ष्य को निश्चित करना भी अपने अधिकार में समझती है। सिजविक बुद्धि के इस अधिकार को स्वीकार करता है।

(२) तृप्ति या तुष्टि को लक्ष्य स्वीकार कर लें, तो इस बात का कोई महत्व नहीं कि भोक्ता कौन है ; महत्व तो भोग की मात्रा का है। भाव भोक्ताओं में भेद करता है। जर्मनी के दार्शनिक लोटज़े ने कहा है कि किसी कीड़े से पूछो कि दुनिया के कितने भाग हैं, तो वह कहेगा कि दो भाग हैं— एक वह, और दूसरा शेष सब कुछ। फिर पूछो कि इन दोनों में अधिक महत्व किस का है। वह हैरान हो कर तुम्हारी ओर देखने लगेगा; इस में पूछने की कौन सी बात है ? प्रत्येक प्राणी दुनिया को दो भागों में बाँटता है, परन्तु सभी विभाजक रेखा को भिन्न स्थानों पर खींचते हैं। बुद्धि ऐसे पक्षपात से ऊपर उठ सकती है। यदि सारे भोक्ता एक समान हैं, तो नैतिक भोगवाद अपने आप ही व्यापक–भोगवाद वा उपयोगितावाद बन जाता है। बैन्थम ने वैयक्तिक भोगवाद और उपयोगितावाद का अन्तर पाटने के लिये 'दबावों' का आश्रय लिया था ; मिल ने उपयोगितावाद को वैयक्तिक भोगवाद की नींव पर रखा, परन्तु उसकी युक्ति केवल उसी को सन्तुष्ट कर सकी। सिजविक ने एक सरल युक्ति का सहारा लिया, और कहा कि नैतिक भोगवाद और उपयोगितावाद दोनों ही बुद्धि पर आश्रित हैं। इसी लिये उसने अपने सिद्धान्त को 'बौद्धिक-उपयोगितावाद' का नाम दिया।

(३) यदि बुद्धि सुख की अनुभूति को ही एक मात्र लक्ष्य बताती है, तो हमारे लिये किसी विशेष स्थिति में प्रश्न यही होता है कि किस तरह

* Henry Sidgwick (1838-1900): *Methods of Ethics.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अधिक से अधिक सुख का उत्पादन हो सकता है। मिल ने, बन्थम के विरुद्ध, सुखों में गुण–भेद किया था। सिजविक ने इसे स्वीकार नहीं किया, और बैन्थम के दृष्टिकोण को ही अपनाया।

(४) बुद्धि हमारा पथ प्रदर्शन करती है; पर वह कहती क्या है? विवाद स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद में है। जैसा हम देख चुके हैं, कुछ विचारक स्वार्थ को साध्य और सर्वार्थ को साधन बताते हैं। कुछ, इसके विपरीत, सर्वार्थ को लक्ष्य और अपने हित को साधन बताते हैं। सिजविक इन दोनों विचारों में चुन नहीं सका। उसकी सम्मति में बुद्धि एक नहीं, दो आदेश देती है: (१) अपने हित को ध्यान में रखो; (२) अन्य पुरुषों के हित को ध्यान में रखो। कभी कभी इन दोनों आदेशों में विरोध भी हो जाता है, और हम इस कठिनाई से निकलने का स्पष्ट मार्ग नहीं देखते। इस स्थिति को सिजविक 'व्यावहारिक बुद्धि का द्वंद्व' कहता है। अब तो बुद्धि हमें इस कठिनाई से निकाल नहीं सकती, परन्तु धर्म हमारी सहायता कर सकता है। आस्तिक-वृत्ति का मनुष्य विश्वास कर सकता है कि कभी भविष्य में स्वार्थ और सर्वार्थ दोनों एक हो जायेंगे।

(५) तृप्ति ही अकेला लक्ष्य हो, तो सारे भोक्ताओं का अधिकार है कि उन्हें भोगने का अवसर मिले; किसी व्यक्ति वा समूह को इस से वंचित न किया जाय। सामाजिक व्यवस्था में न्याय आधार शिला है।

न्याय के नियम के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। कुछ लोग मनुष्यों की बराबरी को न्याय का तत्व समझते हैं। पूरी बराबरी तो श्मशान भूमि में ही मिल सकती है। जहाँ जीवन है, वहाँ विभिन्नता आ ही जाती है। हर प्रकार के भोग की योग्यता भी सब में एक जैसी नहीं होती। सामाजिक न्याय का अर्थ यह नहीं कि सब को एक रस्सी में बाँधा जाय; न्याय की माँग इतनी ही है कि प्रत्येक मनुष्य का एक जैसा ध्यान रखा जाय।

(६) कुछ लोग उपयोगितावाद पर आपत्ति करते हैं कि जब हम, किसी कार्य के करते समय, उसके बुरा भला होने की बाबत चिन्तन करते हैं, तब उसके सारे परिणामों को जाँचने का समय कहाँ होता है? मिल ने इसके उत्तर में कहा कि ऐसा हिसाब अब प्रत्येक को करना नहीं पड़ता; मानव जाति अगणित शतियों से यह हिसाब करती रही है, और उसकी जाँच का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फल कुछ नियमों के रूप में निश्चित कर दिया गया है। सिजविक भी इससे सहमत है। उसके विचार में प्रचलित नीति अप्रत्यक्ष उपयोगितावाद ही है। उपयोगितावाद किसी नयी नीति की रचना नहीं करता; यह प्रचलित नीति को लेता है, और उसे निर्विरोध और व्यवस्थित बना देता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि का महत्व इसीलिये है कि ये सर्वहित के साधन हैं।

(ख) रैशडाल का 'आदर्श उपयोगितावाद'

रैशडाल * अन्य उपयोगितावादियों की तरह यह तो मानता है कि कर्मों के मूल्य की जाँच उनके फल से होनी चाहिये, परन्तु यह नहीं मानता कि इस फल में सुख ही महत्व की वस्तु है। उसके विचार में, अन्तिम उद्देश्य 'निर्मित चरित्र' है। जो काम ऐसे चरित्र के निर्माण में सहायक है, वह अच्छा है; जो इसमें बाधक है, वह बुरा है। जो काम न सहायक है, न बाधक है, वह कोई नैतिक महत्व नहीं रखता।

वास्तव में रैशडाल ने भोगवाद के मौलिक सिद्धान्त को छोड़ दिया है। बैन्थम ने तो 'उपयोगितावाद' नाम का परित्याग कर ही दिया था; मिल ने इसे अपना कर फिर विख्यात कर दिया। यदि सिद्धान्त 'व्यापक–भोगवाद' के नाम से प्रसिद्ध होता, तो रैशडाल अपने आपको इस समुदाय में सम्मिलित ही न करता।

४. भोगवाद की आलोचना

(१) भोगवाद के दो अंश

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें भोगवाद की आलोचना का पर्याप्त अंश आगया है। मिल ने जो कुछ कहा, वह बैन्थम के मत की आलोचना था, और सिजविक का समाधान मिल की आलोचना है। यहाँ हम कुछ सामान्य बातों पर संक्षेप से कहेंगे।

उपयोगितावाद के सूत्र में दो अंश हैं:—

(२) दार्शनिक अंश

सुख की अनुभूति (और दुख की निवृत्ति) ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है।

---

* Hastings Rashdall: *The Theory of Good and Evil.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) सर्वजनीन अंश

सुख के भोग में सारे मनुष्यों का बराबर का अधिकार है। 'प्रत्येक मनुष्य एकाई है, और कोई मनुष्य एकाई से अधिक नहीं।'

दार्शनिक अंश दार्शनिकों को सन्तुष्ट नहीं कर सका। सर्वजनीन अंश ने इसे सर्वसाधारण के लिये प्रिय सिद्धान्त बना दिया। विधान के लिये तो यह मान्य व्यवस्था है ही। बैन्थम ने, जिसका विख्यात सूत्र ऊपर दिया गया है, अपनी पुस्तक में विधान पर ही अधिक ध्यान दिया था। उपयोगितावाद के दोनों पक्षों पर थोड़ा विचार करें।

(२) भोगवाद का दार्शनिक पक्ष

भोगवाद के प्रियत्व के कई कारण हैं:—

(१) यह केवल एक वस्तु को मनुष्यों का लक्ष्य बताता है।

(२) यह लक्ष्य ऐसा स्पष्ट और निश्चित है कि साधारण मनुष्य को भी इसके समझने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(३) यह लक्ष्य प्रत्येक मनुष्य को आकर्षित करता है। जो लोग इसे लक्ष्य स्वीकार नहीं करते, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि सुख और तृप्ति का मूल्य है, और ये हमारे लक्ष्य का अंश हैं।

(४) जो लक्ष्य हमारे सम्मुख रखा जाता है, वह एक भावात्मक वस्तु है। भोगवाद हमें कुछ करने और बनाने का आदेश देता है; निरोधवाद की भाँति निषेधात्मक आदेश ही नहीं देता।

इस सब कुछ के होते हुए भी भोगवाद अपनी प्रतिष्ठा को खोता ही गया है। इसकी आन्तरिक निर्बलता ने यह परिणाम पैदा किया है। भोगवाद की कुछ त्रुटियाँ यह हैं:—

(१) भोगवाद के अनुसार सुख, और सुख ही, जीवन का लक्ष्य है। सुख क्या है? कुछ लोग इसे क्षणिक तृप्ति के अर्थ में लेते हैं; कुछ तुष्टि के अर्थ में लेते हैं। जब अरस्तु ने कहा कि हमारा लक्ष्य जीवन को सुखी बनाना है, तो उसका अभिप्राय क्षणिक तृप्ति से नहीं, अपितु स्थिर, निर्विघ्न अवस्था से था। उसके पीछे आने वालों ने उसके अभिप्राय को ठीक न समझा,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और सुख को क्षणिक तृप्ति के अर्थ में ले लिया। यह भूल चिरकाल तक चलती रही। यदि भाव ही हमारी चेतना में अकेली मूल्य की वस्तु है, तो हम पशुओं के स्तर पर ही हैं। बुद्धि न अपने आपको, न जीवन के अन्य अंशों को अर्थहीन स्वीकार करती है।

सुख वा क्षणिक तृप्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ है ? एक पुरुष बाजार में जाता है और दुकानदार से कहता है—'मुझे मिठास दो।' दुकानदार कहता है—'मिठास तो कहीं विद्यमान नहीं ; हाँ अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जो मीठे हैं। उनमें जो चाहो, लेलो।' मिठास की तरह, तृप्ति भी एक कल्पना है ; यह किसी क्रिया वा अवस्था में तो मिलती है, स्वतन्त्र वस्तु के रूप में कहीं नहीं मिलती। हम खाना इसलिये नहीं खाते कि हम तृप्ति का पीछा कर रहे हैं, अपितु इसलिये कि हम भूखे हैं। भूख दूर होने पर तृप्ति आप ही आ जाती है।

(२) भोगवाद वर्त्तमान और भविष्य के दरमियान पुल पाटना चाहता है। भाव यह काम कर नहीं सकता। भाव के लिये तो वर्त्तमान की माँग ही प्रमुख माँग है। बुद्धि आगे भविष्य में भी देखती है। इसी तरह भोगवाद स्वार्थ और सर्वार्थ में भी मेल करना चाहता है। यह भी भाव के वश में नहीं। माता बच्चे के लिये त्याग करती है। यह उसकी प्रकृति में है ; बच्चा उसका अंग ही है। नैसर्गिक त्याग बहुत तंग सीमाओं में बन्द है। आत्महित और सर्वहित के मेल के लिये हमें बुद्धि की सहायता लेनी होती है। भोग-वाद भाव को प्रमुख स्थान देता है, और इन दोनों समस्याओं का हल करने में असमर्थ है।

(३) सुखों की तुलना करने में भी व्यावहारिक कठिनाई है। मैं यह तो सहज ही देख सकता हूँ कि एक मेज दूसरी मेज से तीन गुणा लम्बी और चार गुणा भारी है, परन्तु सुखों वा भोगों में ऐसी तुलना करना सुगम नहीं। भोग की मात्रा को ही मापदंड बनाकर कौन कह सकता है कि १ रु० का तेल, साबुन ख़रीदना चाहिये, या सिनेमा देखना चाहिये ? मेरे पास किसी खेल के २५ टिकट विद्यार्थियों में मुफ़्त बाँटने के लिये आते हैं। विद्यार्थियों की संख्या अधिक है, और मुझे चुनना है। भोग को ही ध्यान में रखकर मुझे देखना चाहिए कि कौन विद्यार्थी उस खेल से अधिक से अधिक सुख अनुभव कर सकते हैं। मेरे लिये ऐसी जाँच करना सम्भव ही नहीं। मैं विवश होकर किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और नींव पर यह चुनाव करता हूँ। यह कठिनाई और बढ़ जाती है, जब सुख के साथ दुख का भी ध्यान करना होता है। भोगवाद कहता है—'दुखों को अभावात्मक मात्रा समझ लो।' किसी विशेष अवस्था को लेकर देखो कि क्या यह हो सकता है? बाज़ार में जाते हुए मुझे धूप लगती है; किनारे पर धूप नहीं, परन्तु नाली की दुर्गन्ध है। मैं जैसा सूझता है, चुनाव करता हूँ; परन्तु इस चुनाव का आधार उस हिसाब पर नहीं होता, जो भोगवाद बताता है।

(४) मिल ने भोगों में गुण-भेद को दाख़िल करके, भोगवाद के लिये एक और कठिनाई पैदा कर दी। वह कहता है कि अतृप्त सुकरात होना तृप्त सुअर होने से अच्छा है। अवश्य अच्छा है, परन्तु इसका कारण यह है कि सुकरात में एक ऐसी मूल्यवान चीज़ है, जो शूकर में नहीं। जैसा हम देख चुके हैं, सिजविक ने इस कठिनाई को अनुभव किया और भोगों के गुण-भेद को अस्वीकार किया। मिल ने जो भेद देखा, वह ठीक देखा; उसने यह नहीं देखा कि यह भेद भोगवाद के मौलिक सिद्धान्त का खंडन करता है।

(५) कुछ लोग कहते हैं कि नैतिक कठिनाइयों में, विद्वानों की अपेक्षा सन्तों वा भले पुरुषों से प्रकाश लेना चाहिये। ऐसे पुरुषों की बड़ी संख्या भोगवाद को अपना सिद्धान्त नहीं बनाती। वह आदर्शों के लिये जीते और आदर्शों के लिये मरते हैं। अपने व्यवहार में वह भोगों को बहुत साधारण स्थान देते हैं। सर्वसाधारण में जो श्रद्धा और सम्मान का भाव ऐसे लोगों के लिये है, वह भी बताता है कि आत्मा का काम इन भोगों से ऊपर उठना है।

(३) भोगवाद का सार्वजनीन अंश

बैन्थम कहता है कि प्रत्येक मनुष्य एकाई है, और कोई मनुष्य एकाई से अधिक नहीं। जीवन में तो कहीं यह बराबरी दिखाई नहीं देती। उपयोगितावाद कहता है कि सुख के भोग में सारे मनुष्यों का भाग बराबर होना चाहिये। इस विचार को क्रिया रूप कैसे दे सकते हैं? एक सरल ढंग यह है कि संसार के सुख को इकट्ठा करके सारे मनुष्यों में बराबर बराबर बाँट दिया जाय, और उन्हें आदेश दिया जाय कि वह अपनी अनुभूति को एक दूसरे से बढ़ने घटने न दें। परन्तु इसमें कठिनाई यह है कि सुख का स्थान मनुष्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अन्दर है, बाहर नहीं। हम सुख के साधारण साधनों को बाँट सकते हैं; स्वयं सुख को एक से लेकर दूसरे को दे नहीं सकते। सारे स्कूल को मैच देखने के लिये बन्द किया जा सकता है; परन्तु यह कौन कर सकता है कि बालक खेल में जो सुख अनुभव करें, वह सब की हालत में बराबर हो ? कुछ भोगवादी जब सुख के बटवारे का जिक्र करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह सुख के स्वरूप को समझने का यत्न नहीं करते। 'जीवन का केन्द्र हमारे अन्दर है, बाहर नहीं।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६. शिव संकल्प

कांट

उपयोगितावाद ने कर्मों की नैतिक जाँच के सम्बन्ध में दो बातों पर बल दिया :—

(१) इस जाँच के लिये कर्मों के फल को देखना चाहिये।

(२) इस फल में सुख-दुख की अनुभूति ही महत्व रखती है।

अब हम जिन विचारों का अध्ययन करेंगे, उनके अनुसार भोगवाद की दोनों उपर्युक्त धारणाएँ अमान्य हैं। कर्मों की नैतिक जाँच के लिये, उनके परिणाम को नहीं, अपितु उनके स्रोत को देखना चाहिये। जो कर्म अच्छी भावना से किया जाता है, वह शुभ कर्म है; जो कर्म बुरी भावना से किया जाता है, वह बुरा है। इस सम्बन्ध में हम जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट* के सिद्धान्त को लेंगे।

१. कांट के जीवन की एक झलक

'प्रत्येक मनुष्य स्वयं आप ही अपने प्रचार का विषय होता है।' कांट के जीवन और उसकी शिक्षा की समानता इस कथन का अच्छा समर्थन है। कांट कानिग्सबर्ग में पैदा हुआ; वहीं पढ़ा; वहीं पढ़ाया; वहीं जीवन के ८० वर्ष व्यतीत किये। उसके सोने, जागने, खाने, पढ़ने-पढ़ाने, लिखने और भ्रमण करने का समय नियत था। लोग अपने द्वारों पर खड़े जब उसे दैनिक भ्रमण पर जाते देखते थे, तो अपनी घड़ियाँ ठीक कर लेते थे। यह उसके संयम का हाल था।

कांट आयु भर कुंवारा रहा। मनुष्य का भावमय जीवन प्रायः पत्नी और सन्तान के गिर्द घूमता है। प्रथम तो दार्शनिक का जीवन ही विचार–प्रधान होता है; इसके साथ पारिवारिक जीवन का अभाव भी मिल जाय, तो हम कल्पना कर सकते हैं कि भाव की बाबत उसका दृष्टिकोण क्या होगा।

कांट जर्मन था। जर्मनी में सदा अनुशासन की पूजा होती रही है। इस जातीय चरित्र का प्रभाव कांट के जीवन और विचारों

---

* Immanuel Kant (1724–1804) : *Metaphysics of Ethics.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर पड़ना स्वाभाविक है। एक बार कांट को फल का एक पार्सल कहीं से भेजा गया। जब जहाज़ जिसमें यह पार्सल था, गंतव्य स्थान पर पहुँचा, तो पता लगा कि जहाज़ पर खाद्य पदार्थ समाप्त हो गये थे, और इस आपत्ति में कप्तान ने ऐसे पार्सलों को खोल कर कर्मचारियों और मुसाफ़िरों के लिये वर्त लिया था। जब कांट ने यह सुना, तो वह पुकार उठा–'कुछ आदमी मर जाते, तो क्या आपत्ति हो जाती ? नैतिक नियम का भंग नहीं होना चाहिये था।' सुनने वालों में से एक ने पूछा––'क्या वास्तव में तुम्हारा यही विचार है ?' कांट ने कहा—'निस्सन्देह ऐसा ही है।' यह कह कर वह छड़ी उठा कर वहाँ से चल दिया।

ऐसे पुरुष के नैतिक सिद्धान्त की बाबत हम पहले से ही कुछ कल्पना कर सकते हैं।

२. शिव संकल्प

कांट अपनी पुस्तक को इस वाक्य से आरम्भ करता है:—

'संसार में, वा इसके बाहर भी, 'शिव संकल्प' के अतिरिक्त किसी सत्ता का चिन्तन ही नहीं हो सकता, जिसे किसी शर्त के बिना भद्र कह सकें।

इस छोटे से वाक्य में कई मर्म की बातें कही गयी हैं:––

(१) भद्र और अभद्र का भेद वास्तविक है; कल्पना मात्र नहीं।

(२) भद्र वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—एक वह जिन का मूल्य विशेष शर्तों पर निर्भर है; दूसरी वह जो हर हालत में मूल्यवान हैं।

(३) निरपेक्ष मूल्य केवल एक वस्तु में ही पाया जाता है, और वह 'शिव संकल्प' है।

(४) यह कथन केवल उस जगत की बाबत ही सत्य नहीं, जिसमें हम रहते हैं, अपितु अन्य सृष्टियों में भी, यदि कोई हैं, सत्य है।

(५) यह सत्य हमारे अनुभव पर जिसे हम प्राप्त करते हैं, आधारित नहीं। हमारा अनुभव तो सीमित है। इस ज्ञान का आधार अनुभव हो, तो संभव है कि कोई अन्य निरपेक्ष मूल्य भी दीख पड़े; परन्तु हम तो किसी ऐसे मूल्य का चिन्तन भी नहीं कर सकते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धृति, और साहस मानव-स्वभाव में बहुमूल्य चिन्ह समझे जाते हैं, परन्तु शिव संकल्प के अभाव में ये भी हानिकारक और घृणित हो जाते हैं। शक्ति, धन, मान, स्वास्थ्य जीवन को सुखी बनाते हैं, परन्तु इनका प्रयोग करने वाला संकल्प शिव संकल्प न हो, तो इनकी कीमत भी कुछ नहीं। केवल शिव संकल्प ही ऐसी वस्तु है, जो सदा, हर कहीं, हर हालत में, स्वच्छ चमकती है।

३. शिव संकल्प और बुद्धि

हम अपने जीवन में शारीरिक आवश्यकताओं, शारीरिक माँगों और चेष्टाओं को काम करता देखते हैं। सोये हुए हों, तो भी प्राण चलता है, नाड़ियों में रक्त बहता है, और मेदा काम करता है। ऐसी आवश्यकताओं का पूरा होना हमारी चेतना पर निर्भर नहीं। शरीर की माँगें चेतन अवस्था में प्रस्तुत होती हैं, और उनका सम्बन्ध वर्त्तमान से होता है। शरीर में पानी की कमी हो, तो प्यास लगती है, और जल पीने पर मिट जाती है। चेष्टाएँ भी प्राकृत जीवन से संबद्ध हैं। आवश्यकताएँ, माँगें और चेष्टाएँ–तीनों पशु पक्षियों में भी पाई जाती हैं। मनुष्य, और केवल मनुष्य ही, इनके शासन से ऊपर उठता है। वह संकल्प कर सकता है और करता है। सकल्प में शासन बुद्धि के हाथ में होता है। माँगें और चेष्टाएँ अलग नहीं हो जातीं ; वह भी अपना शासन बनाये रखना चाहती हैं। इस तरह मनुष्य का जीवन एक रणक्षेत्र बन जाता है। नैसर्गिक उत्तेजन अपना अधिकार जमाना चाहते हैं ; बुद्धि अपना अधिकार जमाना चाहती है।

जब संकल्प विशुद्ध बुद्धि के अनुकूल निश्चय करता है, तो यह शिव संकल्प कहलाता है। जब संग्राम रहता ही नहीं, तो शिव संकल्प 'परम-पवित्र संकल्प' बन जाता है। यह एक आदर्श है जिसकी ओर चलने के लिये नैतिक बोध हमें प्रेरणा करता है। शिव संकल्प बौद्धिक संकल्प ही है।

४. कर्त्तव्य की भावना

कामनाएँ मनुष्य को अपनी ओर खींचती हैं ; बुद्धि अपना शासन स्थापित करना चाहती है। इस संघर्ष में जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसे बुद्धि का आदेश मानना चाहिये, तो कर्त्तव्य-भावना का उदय होता है। पशुओं के लिये ऐसी भावना संभव ही नहीं। वह कामना के वेग को रोक ही नहीं सकते। दूसरी ओर 'पवित्र' आत्माओं के लिये संघर्ष होता ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। कर्त्तव्य-बोध केवल मनुष्यों के लिये है; उनकी प्रकृति में ही दो विरोधी अंश–चेष्टा और बुद्धि– विद्यमान हैं।

शिव संकल्प ही निरपेक्ष मूल्यवान वस्तु है। कर्मों का फल उनके शुभ-अशुभ होने का निश्चय नहीं कर सकता; यह फल कर्मों के गुण-दोष से असंबद्ध है।

५. सापेक्ष और निरपेक्ष आदेश

आदेश दो प्रकार के होते हैं–सापेक्ष और निरपेक्ष। सापेक्ष आदेश का रूप यह होता है—

'यदि अमुक फल की इच्छा करते हो, तो इस आदेश पर आचरण करो।'

निरपेक्ष आदेश का रूप यह है—

'इस आदेश पर आचरण करो।'

हम अनेक फलों की इच्छा करते हैं। प्रत्येक फल की उपलब्धि के लिये विशेष साधनों का प्रयोग करना होता है। जो पुरुष वकील बनना चाहता है, उसके लिये नियत परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। डाक्टर बनने के लिये यह आवश्यक नहीं। किसी विशेष योग्यता के प्राप्त करने के लिये सापेक्ष आदेश पर चलना होता है। मनुष्यों के मनोरथ भिन्न भिन्न होते हैं; इसलिये 'योग्यता-आदेश' भी भिन्न भिन्न होते हैं। एक मनोरथ सारे मनुष्यों को प्रेरित करता है, और वह सुख की प्राप्ति या तुष्टि है। इसकी पूर्ति के लिये जिस आदेश पर चलना होता है, उसे 'दीर्घदर्शिता' कहते हैं। यह आदेश भी सापेक्ष है, क्योंकि यह तो अनुभव से ही जान सकते हैं कि कौन सा कर्म कोई विशेष फल देता है। नैतिक आदेश ही निरपेक्ष आदेश है। यह आदेश पूर्णतया अपने अधिकार पर ही आधारित होता है। इसके सम्बन्ध में कर्मों के फल की बाबत वा किसी की पसन्द की बाबत पूछना कोई अर्थ नहीं रखता। 'योग्यता-आदेशों' और 'दूरदर्शिता-आदेशों' के सम्बन्ध में इनकी ओर से उदासीन नहीं हो सकते।

६. नैतिक आदेश का विवरण

कर्मों के फल और कर्त्ता की पसन्द को छोड़ दें, तो नैतिक आदेश के लिये नींव क्या रह जाती है? कांट के मत में, यह नींव इस नियम की व्यापकता है। कांट नैतिक नियम को इस तरह वर्णन करता है:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'ऐसी भावना से काम करो कि तुम इस भावना को व्यापक नियम के रूप में देखने की चेष्टा कर सको।'

'भावना' और 'नियम' में भेद है। भावना आन्तरिक प्रेरक है; नियम प्राकृतिक क्रम है, जिसके अनुसार घटनाएं होती हैं; वा ऐसा क्रम है, जिसके अनुसार उन्हें होना चाहिये। कुदरत का नियम पहली प्रकार का नियम है; नैतिक आदेश दूसरी प्रकार का नियम है। कांट के कथन का अर्थ यह है कि शुभ कर्म में व्यक्ति की भावना और व्यापक आदेश में कोई अन्तर नहीं रहना चाहिये।

कांट अपने अभिप्राय को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करता है। एक पुरुष देखता है कि झूठ बोल कर वा झूठा इकरार करके वह कुछ लाभ उठा सकता है। ऐसी अवस्था में वह अपने आप से पूछे कि क्या वह यह इच्छा कर सकता है कि सारे मनुष्य अपने लाभ के लिये ऐसा किया करें? यदि वह ऐसी इच्छा नहीं कर सकता, और केवल अपने आप को सत्य-भाषण के नियम से छूट देना चाहता है, तो उसका कर्म बुरा है। चोर आप तो चोरी करना चाहता है, परन्तु यह नहीं चाहता कि उसका धन, चाहे वह चोरी का माल ही हो, चुराया जाय। दूसरी ओर सत्यभाषण और अस्तेय को हम सब व्यापक नियम बनाने के लिये उद्यत होते हैं। इससे पता लगता है कि सत्य-भाषण और अस्तेय अच्छे कर्म हैं, और झूठ और चोरी बुरे कर्म हैं।

सामाजिक जीवन में इस नियम का प्रयोग कैसे होता है? यह नियम सारे मनष्यों के लिये है, और सब के लिये एक जैसा अधिकार रखता है। 'मृत्यु की भाँति नीति भी मनुष्यों के भेद को मिटा देती है।' नैतिक आदेश की दृष्टि में सारे मनुष्य बराबर हैं। यह 'आत्मिक प्रजातंत्र' हैं। यदि हम इसे ध्यान में रखें, तो कोई कारण नहीं कि कोई मनुष्य अपने आप को साध्य और किसी अन्य मनुष्य को निरा साधन समझ ले। जब कोई डाकू मुझ से मेरी मास की कमाई छीन लेता है, तो वास्तव में वह कहता है कि महीना भर मैं अपने लिये नहीं, अपितु उस के लिये काम करता रहा हूँ। जहां दासता की प्रथा है, वहाँ तो मनुष्यों में साध्य और साधन का भेद स्पष्ट ही है। इसे स्पष्ट करने के लिये, कांट ने नैतिक नियम को एक दूसरे रूप में भी प्रस्तुत किया है:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'ऐसा व्यवहार करो कि मानवता, तुम्हारी अपनी और अन्य सारे मनुष्यों की हालत में, साध्य भी हो, केवल साधन मात्र न हो।'

इस वाक्य के अन्त में 'केवल' महत्व का शब्द है। समाज में कोई पुरुष पूर्ण रूप से अपने लिये पर्याप्त नहीं। सामाजिक जीवन लेने और देने पर निर्भर है। जब कोई मनुष्य देता नहीं, केवल लेता ही है, तो वह दूसरों को 'केवल साधन' बना देता है। ऐसा करना नैतिक नियम से विमुख होना है।

साध्यों का प्रयत्न सम्मिलित प्रयत्न होता है। कुछ लोगों के विचार में तो नैतिक व्यक्ति का अस्तित्व ही अन्य ऐसे व्यक्तियों से बँधा होता है। कांट ऐसे व्यक्तियों के समूह को 'साध्यों का राष्ट्र' कहता है। राष्ट्र का तत्व यह है कि उस के सदस्य रेत के दानों की तरह, एक दूसरे से असंबद्ध नहीं होते, अपितु एक नियम के अधीन होने के कारण, एक दूसरे से गठित होते हैं। इस सम्बन्ध को प्रमुखता में लाने के लिये, कांट नैतिक नियम को एक तीसरे रूप में भी प्रस्तुत करता है:—

'तुम्हारा व्यवहार साध्यों के राष्ट्र के सदस्य का व्यवहार हो।'

इस राष्ट्रका विधान कौन बनाता है? प्रत्येक सदस्य विधान बनाता भी है, और उस पर चलता भी है। इस अंश में साध्य-राष्ट्र की प्रथा प्रचलित मर्य्यादा और राजनियम दोनों से भिन्न है। मर्य्यादा में बहु-संख्या का आचरण अल्प-संख्या के लिये अनुकरणीय होता है, चाहे अल्प संख्या बुद्धि और चरित्र के लिहाज से ऊँचे स्तर पर स्थित हो। राज-नियम के बनाने वाले अल्प-संख्या में होते हैं, और वह बहु-संख्या के लिये नियम बनाते हैं। साध्यराष्ट्र में ऐसा नहीं होता। वहाँ सारे एक स्तर पर होते हैं, और प्रत्येक सदस्य अपने लिये और अन्य सब सदस्यों के लिये विधान बनाता है। वोट लेने का प्रश्न तो वहाँ उठता है जहाँ सारे स्पष्ट न देखते हों, या बुद्धि के अधीन काम न करते हों। साध्यों की स्थिति में ये दोनों त्रुटियां नहीं होतीं। इसलिये सब का बनाया हुआ विधान एक ही होता है।

ये तीनों सूत्र एक दूसरे से असंगत नहीं, और न इन में विरोध है। यह नैतिक आदेश के विभिन्न पहलुओं पर बल देते हैं। कांट इन पहलुओं को एक ही सूत्र में मिला नहीं सका। पहला सूत्र नैतिक आदेश की व्यापकता पर जोर देता है। किसी मनुष्य के लिये उचित नहीं कि जिस कसौटी पर वह दूसरों के कर्मों को परखता है, उसी कसौटी पर अपने कर्मों को न परखे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह सूत्र आकृतिमात्र है । यह त्रुटि दूसरे सूत्र में दूर की जाती है, और इस में मानवता को परम लक्ष्य बताया गया है । कोई अन्य उद्देश्य ऐसा नहीं, जिस के लिये मानवता को साधन बनाया जा सके । एक मनुष्य अपने आप को दूसरों के लिये निछावर कर सकता है, परन्तु दूसरों का कोई अधिकार नहीं कि वह अपने हित में उसे निछावर कर दें । तीसरे सूत्र में एक और पग उठाया गया है । जो नियम सारे मनुष्यों के लिये मान्य है, वह उन का अपना बनाया हुआ है । इस नियम में स्वाधीनता और नियमबाधिता मिल जाती है । कांट के मत में स्वाधीनता का स्थान बहुत महत्व का स्थान है ।

७. स्वाधीनता

हमारी मानसिक बनावट में बुद्धि और कामनायें दोनों विद्यमान हैं । कामनाओं का पूरा करना हमारी प्रकृति में है । पशु-पक्षी भी ऐसा ही करते हैं । बुद्धि कहती है : 'पाशव जीवन से ऊँचा उठो ; कामनाओं की जाँच करो ; और उस जाँच के पीछे निश्चय करो कि उन्हें पूरा करना है, वा रोकना है ।' मनुष्य नदी में कभी बहाव के साथ जाता है, कभी विपरीत दिशा में जाता है । जैसा एक लेखक ने कहा है, महत्व की बात यह नहीं कि किधर जाता है, अपितु यह कि वह तैरता है, बहा नहीं जाता । प्रश्न पैदा होता है कि क्या हमारे लिये कामनाओं को रोकना संभव भी है । क्या हम जीवन की नदी में वास्तव में तैर सकते हैं ? वा बहाव के साथ विवश बहे जाते हैं ?

विज्ञान प्रकटनों का अध्ययन करता है । प्रकटनों की दुनिया में नियम का व्यापक राज है, और स्वाधीनता के लिये कोई स्थान नहीं । रेलगाड़ी का इंजन गाड़ी को खींच कर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है । ऐसा हम कहते हैं, परन्तु वास्तव में वह आप ही नहीं जाता ; गाड़ी के डिब्बों को क्या ले जायगा ? वह भी डिब्बों की भाँति ले जाया जाता है । जाने और ले जाने वाला तो ड्राइवर है । सारे प्राकृत पदार्थों की यही दशा है । मनुष्य प्रकटनों की दुनिया का वासी ही नहीं ; वह प्रकटनों के स्रोत, स्वयं-सत्ताओं की दुनिया का वासी भी है । प्रकटनों की दुनिया का वासी होने की स्थिति में वह स्वाधीन नहीं ; स्वयं-सत्ता होने की स्थिति में स्वाधीन है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'विशुद्ध बुद्धि की आलोचना'* में कांट इस परिणाम पर पहुँचा कि स्वाधीनता सिद्ध नहीं हो सकती। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह सम्भव है। बुद्धि स्वाधीनता को सिद्ध नहीं कर सकती, परन्तु नीति का अस्तित्व ही स्वाधीनता पर निर्भर है। कांट का विख्यात कथन है:—'तुम्हें करना चाहिये ; इस लिये तुम कर सकते हो।' स्वाधीनता कर्त्तव्यबोध में निहित है। यदि हम स्वाधीन नहीं, तो नैतिक बोध भ्रम है, और नीति भी कल्पना ही है।

८. आलोचना

कांट का सिद्धान्त कठिन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त पर आलोचना भी बहुत हुई है। इस आलोचना में बहुतेरा भाग तो ऐसा है, जो सिद्धान्त के मर्म को न समझने का फल है। कांट की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ बातें, जो शायद पाठक को भी सूझी हों, ये हैं :—

(१) कांट का द्वन्द्व

कांट के विचारों में द्वन्द्व बहुत प्रसिद्ध है। वह वास्तविक सत्ता और प्रकटनों में भेद करता है। दृष्ट संसार प्रकटनों का समूह है; इससे परे और इसका सहारा, स्वयं–सत्ता का विश्व है। विज्ञान का विषय प्रकटनों की दुनिया है। यह प्रकटनों का परीक्षण करता है, इन्हें श्रृंखलित करता है, और इनका समाधान करने का यत्न करता है। प्रकटनों के सम्बन्ध में यह तीन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है:—'क्या ? कैसे ? और क्यों ?' प्रकटनों का जगत नियम–बद्ध है। इस में स्वाधीनता के लिये कोई स्थान नहीं। स्वयं–सत्ताओं की दुनिया में स्वाधीनता के लिये स्थान है। पशु होने की स्थिति में मनुष्य प्रकटनों की दुनिया का अंश है, और पराधीन है। बुधान-जीव की स्थिति में वह स्वाधीन है।

यह ज्ञान हमें कैसे होता है ?

यहाँ फिर कांट का द्वन्द्व आगे आ जाता है। उसके विचार में प्रकटनों की दुनिया का ज्ञान 'विशुद्ध बुद्धि' से मिलता है ; स्वयं–सत्ताओं की दुनिया की बाबत 'व्यावहारिक बुद्धि' बताती है। 'विशुद्ध बुद्धि' मानव की स्वाधीनता को सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि इस का क्षेत्र प्रकटनों तक सीमित है।

**Critique of Pure Reason.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह यह भी नहीं कहती कि मनुष्य स्वाधीन नहीं। यह प्रश्न को खुले प्रश्न की स्थिति में छोड़ती है। 'व्यावहारिक बुद्धि' नैतिक-बोध से आरंभ करती है। नैतिक बोध वा कर्त्तव्य की भावना सत्य है। इस असंदिग्ध तथ्य वा सत्य में स्वाधीनता निहित है। स्वाधीनता के अभाव में कर्त्तव्य का कुछ अर्थ ही नहीं। 'तुम्हें करना चाहिये; इस लिये तुम कर सकते हो।' अन्य पदार्थ नियम के अधीन काम करते हैं; मनुष्य 'नियम के प्रत्यय' के अधीन काम कर सकता है। इसीलिये नियम का उल्लंघन करना भी उसके लिये संभव है।

यह द्वन्द्व कांट के सिद्धान्त में पहली बड़ी कठिनाई है। जहाँ तक नीति का सम्बन्ध है, वह इसे स्वाधीनता पर आधारित करता है। साधारण पुरुष आशा करता है कि कांट स्वाधीनता को सिद्ध करके, नीति को पक्की नींव पर स्थिर कर देगा। कांट यह नहीं करता। वह इतना ही कहता है कि एक दृष्टिकोण से देखें, तो मनुष्य पराधीन है; दूसरे दृष्टिकोण से देखें, तो स्वाधीन है। हम तो देखते ही प्रायः प्रथम दृष्टिकोण से हैं, और हमारा जीवन प्रकटनों की दुनिया में ही व्यतीत होता है। साधारण मनुष्य को कांट का समाधान निराश करता है।

(२) भद्र और कर्त्तव्य

प्राचीन यूनान के विचारकों के सामने नीति का प्रमुख प्रश्न निःश्रेयस या सर्वश्रेष्ठ भद्र की खोज करना था। कर्त्तव्य निःश्रेयस पर आधारित है। जो कर्म निःश्रेयस की सिद्धि में सहायक है, वह कर्त्तव्य है। कांट ने इस क्रम को बदल दिया, और कर्त्तव्य को नीति का प्रमुख प्रत्यय बनाया। कर्त्तव्य पालन का फल, जो कुछ भी वह हो, ऐसा फल होने के कारण ही भद्र हो जाता है। प्राचीन यूनान की भाँति प्राचीन भारत के विचारक भी निःश्रेयस वा सर्वश्रेष्ठ भद्र को मौलिक प्रत्यय समझते थे। यही दृष्टिकोण न्याय के अनुकूल भी प्रतीत होता है।

कर्त्तव्य के सम्बन्ध में, कांट ने 'कर्त्तव्यों' पर नहीं अपितु 'कर्त्तव्य' पर बल दिया। यह भेद भी महत्वपूर्ण है। हम किसी कठिनाई में कांट से पूछते हैं कि हम क्या करें। वह कहता है—'मैं क्या कह सकता हूँ? मैं तुम्हें नहीं जानता; तुम्हारी योग्यता और स्थिति को नहीं जानता। मैं तो तुम्हें एक व्यापक नियम बता सकता हूँ, और वह यह है कि तुम अपने आप पर वही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नियम लागू करो, जिसे अन्य सारे मनुष्यों पर लागू करने के लिये तैयार हो।' कुछ आलोचक कहते हैं कि कांट कोई स्थूल परामर्श देने के स्थान में एक सामग्री-विहीन सूत्र बता देता है। यह कोई आपत्ति नहीं। कांट का तो दृष्टिकोण ही यह है कि नीति कोई निश्चित मर्य्यादा नहीं ; प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि की सहायता से हरेक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चय करना चाहिए।

(३) आदेश की कठोरता

कुछ लोग कहते हैं कि कांट ने नैतिक आदर्श को बहुत ऊँचा रख दिया है। मनुष्यों के काम बहुधा या तो तत्कालीन तृप्ति के लिये होते हैं, या किसी परिणाम के लिए, जिसका उनकी दृष्टि में कुछ मूल्य है। कांट तृप्ति और परिणाम दोनों को महत्व नहीं देता। वह तृप्ति को दूषित नहीं कहता, परन्तु इसे नैतिक निर्णय में असंगत तो समझता ही है। उसके विचार में जहाँ भाव का दख़ल हो, वहाँ नैतिक विचार में गड़बड़ होने की संभावना होती ही है। इसलिए भाव को परे ही रखना चाहिये। एक उदाहरण से हम स्थिति को स्पष्ट कर सकते हैं। गौ बच्चा देती है, और उसे चाटने लगती है। बच्चे की रक्षा के लिए कुदरत ने गौ में यह मोह डाल दिया है। मनुष्यों में भी ऐसा ही होता है। बछड़ा शीघ्र ही अपनी सुध आप लेने के योग्य हो जाता है। मनुष्यों में बाल्यावस्था २०–२२ वर्षों तक जारी रहती है। माता पिता अपने बच्चे को शिक्षा देना चाहते हैं। क्यों ? यहाँ प्रेम के साथ दूरदर्शिता भी मिल जाती है। वे समझते हैं कि जब वे वृद्ध होंगे, तब बच्चा उनकी सहायता कर सकेगा। कांट भाव और फल की इच्छा दोनों से हमें ऊपर उठाना चाहता है। माता पिता बच्चे को क्यों शिक्षा दें ? केवल इसलिये कि ऐसा करना उनका कर्त्तव्य है। यदि शिक्षा देना ही अच्छा कर्म है, तो उसे देनी चाहिये, जो अधिक लाभ उठा सकता है। बच्चे वा किसी अन्य सम्बन्धी को विशेष प्राथमिकता नहीं देनी चाहिए। कांट ने विवाह नहीं किया ; उसके बच्चे न थे। होते, तो भी सम्भव है कि वह अपने नियत किये आदर्श तक पहुँच सकता। परन्तु साधारण पुरुषों में कितने पिता ऐसा कर सकते हैं ? ऐसा करना ही हो, तो शायद परिवार की व्यवस्था को ही समाप्त करना पड़े। अफ़लातूं ने तो यही सुझाव दिया था।

कांट कहता है कि नैतिक आदेश 'निरपेक्ष आदेश' है, और यह हालात की ओर से पूर्णरूप में उदासीन होता है। जो नियम एक के लिए लागू है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वही सबके लिए लागू है। 'निरपेक्ष आदेश' के प्रत्यय में दो कठिनाइयाँ दीखती हैं। आदेश और स्वाधीनता दोनों साथ नहीं रह सकते। जब हम 'प्राकृत नियम' का वर्णन करते हैं, तो एक व्यापक क्रम का वर्णन करते हैं; यहाँ आदेश का प्रश्न ही नहीं उठता। जब हम राज्य के नियम का ज़िक्र करते हैं, तो इस आदेश को, चाहें वा न चाहें, मानना ही होता है। नैतिक नियम इन दोनों से भिन्न है। यह न तो कहता है कि 'ऐसा होता है,' न यह कि 'ऐसा करना पड़ेगा;' अपितु यह कि 'ऐसा होना चाहिये।' ऐसे नियम के लिए 'आदेश' शब्द का प्रयोग ठीक प्रतीत नहीं होता। फिर कांट कहता है कि यह आदेश निरपेक्ष है। जब हम विशेष आदेशों की ओर आते हैं, तो कोई आदेश ऐसा नहीं दीखता जिसके सम्बन्ध में हम कह सकें कि हर संभव स्थिति में उसे मानना चाहिये। इस कठिनाई से बचने के लिये ही कांट ने वृत्त को निराकार रखा; एक सूत्र दे दिया, जो यह नहीं बताता कि क्या करें; केवल इतना ही कहता है कि जो कुछ करें, शुद्ध भाव से करें।

(४) वृत्त और कर्म-फल

कांट कहता है कि नैतिक आदेश हमें कर्मों के फल की ओर से उदासीन रहने की आज्ञा देता है। क्या फल की ओर से उदासीन रहना सम्भव है? कांट के सूत्र को ही लें। इसकी पुष्टि में वह झूठी प्रतिज्ञा और चोरी को लेता है। झूठी प्रतिज्ञा करना क्यों बुरा है? कांट कहता है कि यदि सारे मनुष्य प्रतिज्ञा को मूल्यहीन समझें, तो प्रतिज्ञाओं का करना ही बन्द हो जायगा। आलोचक कहता है—'हो जाय।' कांट कहता है कि ऐसी अवस्था में सामाजिक जीवन क़ायम नहीं रह सकता। आलोचक कहता है—'न रहे।' कांट फर्ज कर रहा है कि सामाजिक जीवन का क़ायम रहना अपने आप में मूल्य रखता है। यदि ऐसा है, तो कांट का यह दावा कि 'शिवसंकल्प' ही अकेली स्वयं-साध्य वस्तु है, स्थिर नहीं रहता। इसी तरह चोरी करना बुरा है, क्योंकि इसके व्यापक रूप में अपनाये जाने से सम्पत्ति की व्यवस्था क़ायम नहीं रह सकती। कांट फर्ज कर रहा है कि इस व्यवस्था का क़ायम रहना मूल्यवान है। यदि ऐसा है, तो फिर शिवसंकल्प ही अकेली स्वयं-साध्य वस्तु नहीं। कांट ने यह नहीं देखा कि वह आप परिणामों की ओर से पूर्ण रूप में उदासीन नहीं रह सका।

(५) वृत्त और तुष्टि

कांट वृत्त वा कर्त्तव्यपरायणता पर ही बल देता है, और भाव को परे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रखना चाहता है। परन्तु भाव उसके सिद्धान्त में घुस ही आता है। भाव दो द्वारों से उसके सिद्धान्त में आता है :—

(१) कांट कहता है कि मेरे आदर्श के दो अंश हैं—अपनी आत्म-उन्नति और दूसरों का सुख। दूसरों की आत्म-उन्नति मेरा कर्त्तव्य नहीं ; यह तो मेरे वश में ही नहीं। आत्म-उन्नति प्रत्येक का अपना काम है। अपनी तृप्ति भी मेरा कर्त्तव्य नहीं ; यह तो मेरा स्वभाव ही है। तृप्ति अपनी न सही, दूसरों की सही ; यह वृत्त का अंश तो बन गई है। बहुतेरे लोगों को यह भी समझ में नहीं आता कि अन्य मनुष्यों को सुखी बनाना उनका कर्त्तव्य है, परन्तु अपने लिये सुख की चेष्टा करने में वह मानवता के स्तर से नीचे आ जाते हैं।

(२) कांट कहता है कि नैतिक बोध के अनुसार वृत्त और तुष्टि में मेल होना चाहिये। परन्तु दुनिया में हम देखते हैं कि अनेक दशाओं में भले पुरुष दुखी होते हैं, और बुरे पुरुष सुखी होते हैं। हम वृत्त और सुख का मेल कराने में असमर्थ हैं। परमात्मा अपनी शक्ति से ऐसा कर सकता है। कांट परमात्मा की सत्ता को भी नैतिक बोध से संबद्ध करता है। यहाँ यह हमारे विचार का विषय नहीं। वर्त्तमान विचार से संगत बात यह है कि वह वृत्त और सुख के मेल को आवश्यक समझता है। इस दूसरे द्वार से भाव उसके सिद्धान्त में प्रविष्ट हो जाता है।

दर्शन के अन्य विभागों की तरह, कांट ने अपने पीछे आने वाली नीति पर भी अपूर्व प्रभाव डाला है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

७. आत्म-सिद्धि वा सर्वांश विकासन

१. 'भूमा' और 'अल्प'

पिछले दो अध्यायों में दो विरोधी सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। भोगवाद तृप्ति को जीवन में अकेली मूल्यवान वस्तु बताता है। कांट बुद्धि के शासन को ही मूल्यवान बताता है। वह भाव को नैतिक विवेचन की पृष्ठ-भूमि में धकेल देता है। उसके मत को निरोधवाद कह सकते हैं।

भोगवाद और निरोधवाद में एक ही त्रुटि है: ये दोनों एक भाग को समस्त का स्थान दे देते हैं। भाव और बुद्धि दोनों हमारी प्रकृति का अंश हैं। कोई कारण दिखाई नहीं देता कि क्यों एक अंश के पक्ष में दूसरे अंश को त्याज्य समझा जाय। आरम्भ से ही कुछ विचारकों का ख़्याल रहा है कि जीवन का लक्ष्य 'सर्वांश विकासन' वा 'आत्म–सिद्धि' है। यह हो सके, तो किसी अंश को निछावर करने की आवश्यकता नहीं, और भोगवाद और निरोधवाद का समन्वय हो जाता है। ऐसे समन्वय को 'सम्पूर्णतावाद' का नाम दिया जाता है। यह नाम बहुत उपयोगी नहीं: मनुष्य की क्रिया में सम्पूर्णता कहाँ है? इसका अभिप्राय आत्म-सिद्धि वा सर्वांश-विकासन से अच्छा व्यक्त होता है।

सुख (क्षणिक तृप्ति नहीं, अपितु तुष्टि) को लक्ष्य कहें, तो इस धारणा का स्पष्ट और सरल विवरण 'छांदोग्य उपनिषद' के एक वाक्य में मिलता है, जो सनत्कुमार ने नारद से कहा है :—

'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।'

'जहाँ पूर्णता है, वहीं सुख है; अल्प (टुकड़े) में सुख नहीं।'

भाव और बुद्धि दोनों अल्प हैं; इनमें से कोई एक 'सुख' का कारण नहीं हो सकता; सुख सारे अंशों के उत्थान में है।

वर्त्तमान अध्याय इस विचार की व्याख्या ही है।

इस सम्बन्ध में हम पश्चिम के प्राचीन विचारकों में अफ़लातूं और अरस्तु को, और नवीन विचारकों में हेगल और ग्रीन को लेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. अफ़लातूं और अरस्तु*

सुकरात के कुछ शिष्यों ने उसकी शिक्षा में भोगवाद को देखा। एक दूसरे दल ने इसमें निरोधवाद को देखा। ये दल 'सिनिक' और 'सिरेनेइक' के नामों से प्रसिद्ध थे। पीछे इसी भेद ने 'स्टोइक' और 'ऐपिक्यूरियन' विचारों का रूप धारण किया। सुकरात की नैतिक शिक्षा, इन दो विरोधी उपधाराओं से अलग, एक मध्य धारा में चली। सुकरात के विख्यात शिष्य अफ़लातूं, और अफ़लातूं के विख्यात शिष्य अरस्तु ने इस शिक्षा को जारी रखा।

अफ़लातूं ने कहा कि आत्मा के तीन अंश हैं–बुद्धि, साहस (कर्मनिष्ठता) और नैसर्गिक उत्तेजन। इनमें कोई अंश ऐसा नहीं. जिसे वर्जनीय कह सकें। आत्म-उत्थान में सबका स्थान तो है, परन्तु व्यवस्था में। बुद्धि का काम भावनाओं पर शासन बनाये रखना है। बुद्धि यह काम शासक अंश, साहस, को करण बना कर करती है। इस प्रकार जो व्यवस्था उत्पन्न होती है, उसी को 'न्याय' कहते हैं। यही जीवन में उत्कृष्ट वृत्त है। ऐसी स्थिति आत्मा का स्वास्थ्य है, और यही नैतिक लक्ष्य है।

अरस्तु ने वृत्तों में बौद्धिक और नैतिक का भेद किया। दूरदर्शिता, विवेक, और सूझ-बूझ बौद्धिक वृत्त हैं। इनका सम्बन्ध बुद्धि के निरपेक्ष प्रयोग से है। नैतिक वृत्तों में, बुद्धि भावनाओं को नियम में रखती है। साहस, संयम, उदारता आदि ऐसे वृत्त हैं। प्रत्येक भावना के लिये नियम में रहना ही उत्तम अवस्था है। एक लेखक ने कहा है कि मानव संस्कृति में यूनान की प्रमुख देन तीन शब्दों के वाक्य में निहित है–'अतीव से बचो।' अरस्तु ने नैतिक वृत के तत्व को 'मध्यवर्तितता' में ही देखा। मनुष्यों की उचित प्रक्रिया यही है कि सारे कार्यों में, बुद्धि की आज्ञा के अनुसार मध्यता बर्ती जाय। प्रत्येक मनुष्य धन का व्यय कर सकता है; दूसरों को सहायता भी दे सकता है। परन्तु उपयोगी पुरुष को, उपयोगी समय पर, उपयोगी मात्रा में, उपयोगी प्रयोजन के लिये, उपयोगी रीति से देना सुगम नहीं।

---

* Plato (427-347 B. C.): *The Republic*, and other *Dialogues*.
Aristotle (384-322 B. C.): *Nicomachean Ethics*.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. हेगल* का आत्म-विकासन

नवीन काल में संपूर्णतावाद ने आत्म-विकासन का रूप ग्रहण किया है, और इसके साथ हेगल का नाम विशेष रूप से सम्बन्धित है।

कांट ने कहा था कि केवल नैतिक क्रिया ही स्वाधीन क्रिया है; अन्य सारी क्रियाएं बाहर की परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं। हेगल ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया।

हेगल के दार्शनिक विचार में 'विधि' का विशेष महत्व है। उसकी सम्मति में बाह्य जगत और मानसिक प्रक्रिया का विकास एक ही रूप में होता है। मन का विकास विशेष क्रम से होता है। हम एक 'धारणा' को अपनाते हैं। शीघ्र ही हमें पता लगता है कि इस 'धारणा' में तो आन्तरिक विरोध है, और इस लिये यह मान्य नहीं हो सकती। हम इस धारणा को त्याग देते हैं, और इस की विरोधी 'परि-धारणा' को स्वीकार करते हैं। इस में भी हमें वही दोष दीखता है, जो पहली 'धारणा' में विद्यमान था। इसलिये इसे भी छोड़ना पड़ता है, और हम इन दोनों के स्थान में, इनके 'समन्वय' को स्वीकार करते हैं। यह 'समन्वय' एक नयी धारणा बनता है, और फिर पुराना क्रम आरम्भ हो जाता है। यह विकास की विधि है। इस विधि का एक अच्छा उदाहरण हमारे वर्त्तमान विषय में मिलता है। नैतिक विवेचन 'भोगवाद' से आरम्भ करता है। शीघ्र ही इसमें आन्तरिक विरोध दीखने लगता है, और इसे त्याग कर इस के विरोधी मत, 'निरोध-वाद' को स्वीकार किया जाता है। इस की त्रुटि को देख कर, इनका समन्वय 'सर्वांश-विकासन' वा 'आत्म-सिद्धि' स्वीकार किया जाता है।

हेगल ने व्यक्ति के विकासन की अपेक्षा मानव समाज के विकास पर अधिक ध्यान दिया। उसके विचारों में सामाजिक व्यवस्था और संस्थाओं का विशेष महत्व है। समाज के विकास में भी तीन मंजिलें आती हैं। आरम्भ में व्यक्ति भावनाओं का पुंज होता है, परन्तु इस अवस्था में भी दूसरों से अलग-थलग उसका विकासन नहीं हो सकता। वास्तव में व्यक्तित्व परिवार का है। परिवार का आधार प्रेम पर है। परिवार एक दूसरे से सम्बद्ध हो कर समाज बनाते हैं। प्रत्येक परिवार अपने आप को समाज

*G. W. F. Hegal (1770-1831): *Philosophy of Right.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अंग के रूप में देखने लगता है। जो कुछ परिवार करता है, उसका फल उसकी 'सम्पत्ति' होता है, और वह सम्पत्ति का स्वामी होता है। स्वामी और सम्पत्ति के सम्बन्ध में तीन बातें आवश्यक हैं:—

(१) सम्पत्ति स्वामी के अधिकार में है।

(२) स्वामी सम्पत्ति के प्रयोग में स्वाधीन है।

(३) स्वामी चाहे, तो सम्पत्ति को अलग कर सकता है :

चाहे तो बेच दे, चाहे यों ही किसी को दे दे।

समाज व्यवस्था करता है कि स्वामी के इन तीनों अधिकारों को सर्व-साधारण स्वीकार करें। यह स्वीकृति 'दबाव' का परिणाम होती है। इस मंजिल में व्यक्ति 'नियम' के अधीन होता है। जब समाज में राज्य की स्थापना हो जाती है, तो यह नियम राज्य-नियम होता है, और सामाजिक भावना नियम-पालन की भावना होती है। दूसरी मंजिल में दूसरों के अधिकार को 'दबाव' के कारण नहीं, अपितु स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है; व्यक्ति ऐसी स्वीकृति को वृत समझने लगता है। यह स्थिति उसे 'नियम-बाध्यता' के स्तर से उठा कर 'नीति' के स्तर पर ले जाती है। व्यक्ति अपने हित को दूसरों के हित में देखता है। वैयक्तिक संकल्प और सर्वजनीन संकल्प की एकता नीति का तत्व है।

समाज का विस्तार कहाँ तक है ? स्टोइक विचार के अनुसार मनुष्य मात्र समाज में सम्मिलित है। हेगल इतनी दूर नहीं जाता। उसने राष्ट्रों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया। हेगल के विचार में राष्ट्र नैतिक संस्था है। व्यक्ति का नैतिक उत्थान भी राष्ट्र की सहायता के बिना हो नहीं सकता। जब कोई व्यक्ति अपराध करता है, तो उसका वैयक्तिक संकल्प क्रिया करता है। राष्ट्र उसके सर्वजनीन संकल्प को जगाता है; और इस संकल्प के प्रतिनिधि की स्थिति में ही वैयक्तिक संकल्प को दंड देता है। दंड की व्यवस्था किसी बाह्य परिणाम के लिये नहीं होती; यह तो बुद्धि की मांग है। अपराध वास्तव में दंड मिलने पर ही समाप्त होता है। दंड अपराधी का अधिकार है। दंड ही अपराधी के स्वाधीन पुरुष होने की घोषणा करता है। जो लोग यहाँ वा आगे पापों की क्षमा का उल्लेख करते हैं, वह अपराध के तत्व को नहीं समझते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस स्तर पर व्यक्ति का कर्त्तव्य यही है कि वह राष्ट्र के बनाये नियमों पर चले। यही नहीं, उन्हें अपने कल्याण और उत्थान का आवश्यक साधन भी समझे। हेगल ने नीति को राज-नीति का अंग बना दिया।

समाज वा राष्ट्र के स्तर पर व्यक्ति वा परिवार के अधिकार, जिनमें 'सम्पत्ति' और 'इक़रार' के अधिकार प्रमुख हैं, सुरक्षित होते हैं। यह भी यत्न होता है कि मनुष्यों में सामाजिक भावना प्रबल हो। इस स्तर से मानव ऊपर उठना चाहता है। 'नियम-बाध्यता' और 'नीति' से आगे, अन्तिम लक्ष्य 'सभ्यता' है। हेगल के अनुसार, इसमें भी तीन प्रमुख अंग हैः—

(१) ललित कला
(२) धर्म
(३) तत्व-ज्ञान

उन्नत समाज के लिये यही पर्याप्त नहीं कि उसमें मनुष्यों के अधिकार प्रथा वा राज-नियम से सुरक्षित हों, और उसके सदस्यों में नैतिक भाव प्रबल हो ; इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उसमें सभ्यता के इन तीन अंगों का भी अच्छा विकास हो।

जैसा ऊपर कहा गया है, विकास एक क्रम से होता रहा है। इतिहास इस विकास की कथा है। यह ऐसी घटनाओं की कथा नहीं, जिनके क्रम में कोई हेतु नहीं, और जो वास्तविक क्रम से भिन्न क्रम में भी हो सकती थीं। जो कुछ हुआ है, वह बुद्धि के अनुसार हुआ है। इतिहास का अध्ययन हमें बताता है कि मानव समाज किस मार्ग पर चला है, और किधर जा रहा है। हम यह नहीं कह सकते कि यात्रा का गंतव्य किस रूप-रंग का होगा, क्योंकि अभी वहाँ हम पहुँचे नहीं। हाँ, इतना कह सकते हैं कि वहाँ पहुँचने का मार्ग किधर चल रहा है।

इंग्लैंड में जिन विचारकों ने हेगल के नैतिक सिद्धान्त को मान्य सिद्धान्त बना दिया, उन में टामस हिल ग्रीन का नाम प्रमुख है।

४. ग्रीन का मत

(१) नीति की नींव

ग्रीन * अपनी नीति का निर्माण तत्व-ज्ञान की नींव पर करता है। ह्यूम ने कहा था कि संसार में प्रकटन ही प्रकटन हैं, जो एक दूसरे से जुड़े हैं,

* Thomas Hill Green (1836-1882) : *Prolegomena to Ethics.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परन्तु सम्बद्ध नहीं। जब हम कारण-कार्य के सम्बन्ध का वर्णन करते हैं, तो सम्बन्ध को अपनी ओर से डाल देते हैं; तथ्य तो यही होता है कि एक घटना के बाद दूसरी घटना, और दूसरी के बाद तीसरी प्रकट होती है। जिस क्रम को हम देखते रहते है, उसे कारण-कार्य के रूप में देखने लगते हैं; हमारी आदत इस प्रत्यय को जन्म देती है। इस विवरण में हम 'हम' 'हमारी' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु वास्तव में आत्मा भी चेतना-अवस्थाओं की पंक्ति वा पालि है। जैसा बौद्धों ने कहा था, ज्ञानधारा तो विद्यमान है, इसके अतिरिक्त ज्ञानी कोई नहीं। ग्रीन इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि ज्ञान असंबद्ध मनकों का नाम नहीं है; यह पिरोए हुए मनकों की माला है। ज्ञान के अस्तित्व के लिये आवश्यक है कि विविध चेतना-अवस्थाओं को संगठित करने वाला कोई नियम उन अवस्थाओं से अलग विद्यमान हो। इसी तरह बाह्य जगत भी असंबद्ध घटनाओं का ढेर नहीं; अपितु एक संगठन है। इस संगठन का आधार भी एक संगठन करने वाला नियम है। हम बाह्य जगत को समझ सकते हैं; जब इसे देखते हैं, तो इस के चेहरे को पहचानते हैं; जिस भाषा में यह बोलता है, उससे हम परिचित हैं। इसका कारण यह है कि जो नियम जगत की अनेक घटनाओं को एक संगठन बनाता है, वही हमारी विविध चेतना-अवस्थाओं को भी एक संगठन बनाता है। सारे मनुष्यों के लिये एक ही बाह्य जगत है। इसका कारण यह है कि सारे मनुष्यों में एक ही चेतन नियम संगठन का जन्म देने वाला है। उसी पूर्ण नियम का प्रकटन, हमारे शरीरों के सीमित होने के कारण, अपूर्ण रूप में होता है। इस अपूर्णता को दूर करना और पूर्णता की ओर चलते जाना हमारा काम है। 'हमारा काम है,' अर्थात् जो उद्देश्य है, वह सांझा है, और उसकी सिद्धि और उसके भोग में सारे मनुष्यों को भाग लेना चाहिये।

(२) भद्र और अभद्र संकल्प

शुभ और अशुभ संकल्प का भेद नीति की नींव है। प्रत्येक संकल्प में स्वत्व अपनी तुष्टि ही चाहता है। जिन विषयों से यह तृप्ति हो सकती है, उनकी बाबत एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में भेद होता है, और एक ही मनुष्य के लिये भी विविध अवस्थाओं में भेद होता है। एक समय हम किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये पागल से हो जाते हैं; कुछ समय बीतने पर हम अपनी समझ पर हँसते हैं। शुभ अशुभ संकल्प का भेद इस बात पर निर्भर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि हम किस वस्तु के प्रत्यय को अपने स्वत्व के साथ पूर्ण रूप से मिला देते हैं।

भोगवादी भोग वा तृप्ति को इस तरह अपनाता है। इस में दो दोष हैं: एक यह कि यह तृप्ति समस्त स्वत्व की नहीं, अपितु एक भाग की तृप्ति होती है और भाव जीवन के अन्य अंशों को पीछे धकेल कर अपना अधिकार जमाता है; दूसरा यह कि भाव की तृप्ति भी क्षणिक होती है। इधर तृप्ति हुई, और उधर उसका अन्त हो गया। 'भोगों का पुजारी सदा दिवालिया ही रहता है।' भोगों में एक दूसरे में मुकाबला होता है, और एक के भोगों का दूसरे के भोगों से मुकाबला होता है। इसलिये अच्छे और बुरे संकल्प का भेद भोग वा अनुभूति पर आधारित नहीं हो सकता। बुद्धि भी अकेली इस भेद का कारण नहीं हो सकती। इस भेद की नींव समस्त स्वत्व के विकास पर होनी चाहिये।

(३) भद्र और नैतिक व्यक्ति

यहाँ व्यक्ति और समष्टि का विवाद उठ खड़ा होता है। कुछ लोग कहते हैं कि भद्र व्यक्ति का विकास है; इसके विपरीत कुछ दूसरे कहते हैं कि व्यक्ति की स्थिति तो उन बुलबुलों की सी है, जो दम भर के लिये पानी की सतह पर प्रकट होते हैं, और फिर उसी में मिल जाते हैं। व्यक्ति का नहीं, समाज का विकास परम-भद्र या निःश्रेयस है। ग्रीन कहता है कि व्यक्तियों के अतिरिक्त समाज कोई सत्ता नहीं। इसलिये परम-भद्र व्यक्ति की चेतना में ही प्रकट हो सकता है। हाँ, यह भी सत्य है कि कोई व्यक्ति अकेला इसकी सिद्धि नहीं कर सकता। यह सिद्धि समाज में ही हो सकती है। मुझे दूसरों की सहायता की आवश्यकता है; दूसरों को मेरी सहायता की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कोई मनुष्य ऐसा नहीं, जिसे बेकार समझा जा सके। कांट ने कहा था—'मानवता को जिस रूप में भी वह विद्यमान हो, साध्य समझो; केवल साधन न समझो।' हेगल ने इस भाव को अधिक स्पष्ट किया और कहा —

'नैतिक व्यक्ति (स्वयं-साध्य) बनो, और अन्य मनुष्यों को भी व्यवहार में नैतिक-व्यक्ति समझो।'

ग्रीन इसे परम-भद्र स्वीकार करता है।

(४) परम-भद्र का रूप

जैसा हमने देखा है, ग्रीन भोग वा तृप्ति को, चाहे वह अपनी हो, चाहे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्य मनुष्यों की हो, परम भद्र नहीं समझता। बड़ा हेतु यह है कि यह लक्ष्य सबका सांझा लक्ष्य नहीं हो सकता, और इस लिये इसमें आन्तरिक विरोध है। वृत्त में ऐसा विरोध नहीं। मैं सत्य बोलूं, तो मुझे दूसरों के सत्य बोलने में कोई आपत्ति नहीं होती; मेरा व्यवहार सरल हो, तो मैं तो चाहता हूँ कि दूसरों का स्वभाव भी सरल हो। बुद्धि बताती है कि परम-भद्र किस दिशा में है; संकल्प हमें उधर चलाता है। अपने चिन्तन के लिये, हम बुद्धि और संकल्प को अलग करते हैं; वास्तव में यह दोनों एक ही स्वत्व के दो पक्ष हैं। दोनों का उद्देश्य हमें निश्रेःयस वा सम्पूर्णता की ओर ले जाना है। इस सम्पूर्णता में मानव की सारी शक्तियों का उत्थान सम्मिलित है। हम पथिक हैं; अपने गंतव्य को अभी देख नहीं पाते। इस लिये यह नहीं कह सकते कि अन्तिम अवस्था में हमारी विकसित शक्तियों का रंग-रूप क्या होगा। हां, इतना कह सकते हैं कि अन्तिम लक्ष्य किस दिशा में है। इस से पूर्व भी बुद्धि काम करती रही है, और हमें ठीक मार्ग पर ही चलाती आई है।

गंतव्य को पूर्ण रूप से हम देख नहीं सकते, परन्तु परम-भद्र के कुछ प्रमुख चिन्हों को तो देख ही सकते हैं।

(५) परम-भद्र के प्रमुख चिन्ह

ग्रीन परम-भद्र के दो प्रमुख चिन्हों पर बल देता है :—

(१) भद्र की व्यापकता

(२) अध्यात्म का प्रभुत्व

इन दोनों पर कुछ ध्यान दें।

(१) भद्र की व्यापकता

भद्र की व्यापकता से ग्रीन का अभिप्राय यह है कि सारे मनुष्य इस भद्र में भाग प्राप्त करने के अधिकारी हैं। कोई मनुष्य भी इस अधिकार से वंचित नहीं हो सकता।

यह अनुभव बहुत धीरे-धीरे लोगों को हुआ है। प्राचीन यूनान सभ्यता का घर था, परन्तु वहाँ समाज की व्यवस्था में अल्प संख्या स्वाधीन नागरिकों की थी, और उसके साथ, उनसे कहीं अधिक संख्या में दास विद्यमान थे। उन लोगों की समझ में नहीं आता था कि स्वतन्त्रता मनुष्य मात्र का अधि-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कार है। वह तो दूर की बात है, पिछली शती में, अमेरिका में उत्तर और दक्षिण के राज्य, चार पाँच वर्ष तक रक्त की नदियाँ बहाते रहे, क्योंकि दक्षिण के राज्य दासता को जारी रखना चाहते थे। जिस दिन उत्तर की विजय हुई, उसी दिन लिंकन पर प्रहार हुआ, और उसका देहान्त हो गया। इस समय नैतिक बोध और राज-नियम भी सबको बराबरी देने के पक्ष में हैं, परन्तु वर्ण का भेद अभी इस नियम को चलने नहीं देता। ग्रीन कहता है कि प्रगति धीमी हो, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि मानवता का व्यापक अधिकार अब दबाये दब नहीं सकेगा। विद्या, धन, रंग आदि की नींव पर ऊँच नीच का भेद मिटना ही चाहिये। भेद तो रहेंगे ही, परन्तु यह भावना होनी चाहिये कि सारे मनुष्य मनुष्य हैं, और इसलिये भद्र में सबका अधिकार है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो अधिकारों से वंचित हो, वा कर्त्तव्य से ऊपर हो।

(२) अध्यात्म का प्रभुत्व

नैतिक उत्थान के साथ, भद्र में दूसरा चिन्ह यह व्यक्त होता है कि हमारी दृष्टि बाहर से हटकर अन्दर की ओर होने लगती है। शारीरिक क्रिया की अपेक्षा हम आन्तरिक भाव को अधिक महत्व देते हैं; आचरण की अपेक्षा आचार की अधिक चिन्ता करते हैं। इस भेद को स्पष्ट करने के लिये ग्रीन यूनान की मनोवृत्ति और वर्त्तमान की नैतिक मनोवृत्ति का विस्तार से मुकाबला करता है। हम कह चुके हैं कि यूनान में सारे मनुष्यों को नागरिक के अधिकार प्राप्त न थे। ऊपर की दो श्रेणियों–ब्राह्मण और क्षत्रिय–को ही यह अधिकार प्राप्त थे, और उन में भी पुरुषों को ही प्राप्त थे। अब सारे पुरुष स्त्रियों को, जो बालिग़ हों और किसी विशेष कारण से अयोग्य न होते हों, यह अधिकार प्राप्त हैं। अध्यात्म के प्रभत्व के सम्बन्ध में ग्रीन साहस और संयम को लेता है। ये दोनों अफ़लातूं के चार प्रमुख वृत्तों में सम्मलित हैं। साहस का अर्थ युद्ध में निर्भय होकर लड़ना और कठिनाइयों का दिलेरी से मुकाबला करना था। स्पार्टा में तो उद्देश्य ही यह था कि प्रत्येक बच्चे को योद्धा बनने के योग्य बनाया जाय। जिस बच्चे की बाबत यह निश्चय होता था कि वह किसी शारीरिक त्रुटि के कारण ऐसा जीवन व्यतीत नहीं कर सकेगा, उसे जीवित रहने का अवसर ही न मिलता था। बच्चों को कष्ट सहन करने का अभ्यास कराया जाता था। अब साहस के विषय में हमारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार बदल गया है। १००० पुरुषों में तीन चार ही सैनिक का जीवन अपने लिये चुनते हैं, परन्तु सारे नागरिकों के लिये साहस के अनेक अवसर विद्यमान होते हैं। इस समय नैतिक–साहस का विशेष महत्व समझा जाता है। जब किसी नियम का प्रश्न सामने आ जाय, तो साधारण मनुष्य यह देखने लगता है कि लोग क्या चाहते हैं; साहसी पुरुष देखता है कि सत्य और धर्म की माँग क्या है। वह बहुसंख्या की राय की परवाह न करके अपने नियम पर कायम रहता है, और इसके फलस्वरूप हर प्रकार के कष्ट को खुशी से सहन करता है। एक निर्धन परिवार में माता-पिता अपने बच्चों के हित में बड़े से बड़ा त्याग करने पर तैयार होते हैं। उनका साहस सैनिक के साहस से कम मूल्य का नहीं होता। साहस के सम्बन्ध में, अब शारीरिक क्रिया की ओर नहीं, अपितु मानसिक वृत्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

संयम का चिन्तन करते हुए, यूनानियों के सम्मुख दो बुराइयाँ विशेष रूप से होती थीं: एक विषय–भोग, दूसरी पेट–पूजा। संयम का अर्थ यही था कि मनुष्य काम चेष्टा को शासन में रखे, और खाने पीने में उपयोगी सीमाओं के अन्दर रहे। भोग विलास की ओर रुचि आम लोगों में थी। सुकरात जैसे प्रतिष्ठित पुरुष भी इतना ही करते थे कि इतनी न पी लें जिससे सूझ-बूझ जाती रहे। विषय भोग की बुराई भी अधिकतर इसके बुरे परिणाम में थी। अब हम इन दोनों बुराइयों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं। विषय-भोग की बुराई यह है कि यह मनुष्य को मनुष्यत्व के स्तर से नीचे खींचकर पशु स्तर से भी नीचे पहुँचा देता है। पशु जो कुछ करता है, नैसर्गिक उत्तेजन के वश में करता है; मनुष्य बुद्धि रखता हुआ भी, बुद्धि का प्रयोग नहीं करता, और साध्य होता हुआ भी अपने आप को साधन बना देता है। पेट पूजा में बुराई यही है कि मनुष्य अपने आप को शरीर ही समझने लगता है, और यह भूल जाता है कि वह आत्मा है। जैसा कार्लाइल ने कहा है, भोगवादी आत्मा को मेदा समझ लेता है।

६. वृत्त का तत्व

ग्रीन की सम्मति में वृत्त का तत्व यह है कि मनुष्य अपने आप से ऊपर उठे; अपनी दिलचस्पियों को स्वत्व से परे ले जाय। कुछ हद तक तो ऐसा करना हमारी प्रकृति में ही है। अरस्तू ने ठीक कहा था कि समाज में अन्तिम एकाई व्यक्ति नहीं, अपितु परिवार है। व्यक्ति का जन्म ही दो व्यक्तियों के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सहयोग पर निर्भर है। बच्चा माता–पिता के स्वत्व का विस्तार ही होता है। शेक्सपीयर के शब्दों में, 'माता हमारा अधिकांश बनाती है।' इसलिये माता का प्रेम अपने असहाय बच्चे के लिये निस्सीम होता है। साधारण मनुष्य के लिये वृत्त का बड़ा भाग यह है कि वह अपने परिवार की सर्वांग उन्नति के लिये जो कुछ कर सकता है, करे। इसके बाद अपने सेवाक्षेत्र को विस्तृत करता जाय। यह चुनाव योग्यता और हालात पर निर्भर होना चाहिये। अफ़लातूं ने वृत्तों के विवरण में समाज की आवश्यकताओं को प्रमुख रखा था। बुद्धिमत्ता, साहस और संयम वैयक्तिक वृत्त हैं; न्याय सामाजिक वृत्त है। वह न्याय से आगे नहीं गया। हम इससे आगे जाते हैं, और परोपकार वा सेवा को नैतिक जीवन में प्रमुख स्थान देते हैं। यूनान में नागरिक थोड़े थे, और अच्छी दशा में थे। दासों की संख्या बहुत थी, और उन्हें साधन मात्र ही समझा जाता था। अब यह स्थिति नहीं। सर्वोत्तम सेवा वह है जो सबसे निचले वर्ग की की जाय। जो पुरुष अपने जीवन को कंगालों, कोढ़ियों, पतितों और अपराधियों की सेवा में व्यतीत करता है, और, योग्यता रखने पर भी, अपने आप को वैयक्तिक उत्थान से वंचित कर देता है, उसका त्याग महान त्याग है। प्राचीन यूनानी ऐसे त्याग की कल्पना ही नहीं कर सकते थे। वर्त्तमान की कान्शेन्स के लिये ऐसा त्याग बहुत महत्व की चीज है। 'जो पुरुष आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है, और सारे प्राणियों को आत्मा में देखता है, वह किसी से द्वेष नहीं करता।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८. विकासवाद और नीति

१. विकासवाद

१९ वीं शती में, जिन विचारों ने पढ़े लिखे लोगों को बहुत प्रभावित किया, उन में विकासवाद का स्थान प्रमुख है। विकासवाद के सम्बन्ध में दो नाम विशेष महत्व के हैं–चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर। डार्विन वैज्ञानिक था; स्पेन्सर दार्शनिक था। डार्विन ने अपने अनुसन्धान को प्राण-विद्या तक सीमित रखा; स्पेन्सर ने ऐसे सूत्र की खोज की जो सृष्टि और उसके प्रत्येक विभाग की वर्त्तमान स्थिति का समाधान कर सके।

२. डार्विन का सिद्धान्त

डार्विन* के सिद्धान्त का सार तीन पदों में आजाता है:—

(१) 'जीवन–संघर्ष,'

(२) 'स्वाभाविक चुनाव,'

(३) योग्यतम का अवशेष (बच रहना)

जीवन के लिये अन्न और अन्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। यह पर्याप्त मात्रा में विद्यमान नहीं। जहाँ विद्यमान हैं, वहाँ भी इनके प्राप्त करने में कठिनाई होती है। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि ऐसे पदार्थों के लिये संघर्ष होने लगता है। जितने प्राणी पैदा हुए हैं, उतने जी नहीं सकते। कुदरत अपनी सन्तान में चुनाव करती है। इसे प्राकृत वा स्वाभाविक चुनाव कहते हैं। यह चुनाव नियमाभाव में नहीं होता। जिन को बचाया जाता है, वह इस योग्य होते हैं कि उन्हें बचाया जाय। जिन में यह योग्यता नहीं होती, वह मर जाते हैं, वा मारे जाते हैं। स्वाभाविक-संघर्ष में बहुसंख्या तो समाप्त हो जाती है; बच रहना अल्पसंख्या का भाग्य होता है।

डार्विन वैज्ञानिक था। उसने जो कुछ देखा, उसका वर्णन कर दिया, और अपनी समझ के अनुसार, उसका समाधान कर दिया। नीति उसका

---

* Charles Darwin (1809-1892): *Origin of Species.*
Descent of Man.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय न था। फिर भी उसके विचारों का प्रभाव नीति पर पड़ा। बहुतेरे लोगों को ख्याल आया कि यदि संघर्ष प्रकृति का नियम है, तो नीति में भी इसे अपनाना चाहिये। हम इसके विपरीत कर ही क्या सकते हैं? कुछ वैज्ञानिकों ने इस विचार को स्वीकार नहीं किया। टामस हक्सले ने यह तो माना कि सारे जीवित प्राणियों में जीवन के लिये संघर्ष हो रहा है और कुदरत बलवान को बचाती है, और निर्बल पर दया नहीं करती; परन्तु उसने यह स्वीकार नहीं किया कि हमें भी इस नियम को नैतिक जीवन में प्रयुक्त करना चाहिये। यह नियम मानव के आदर्शों के प्रतिकूल है; इसलिये हमें, जहाँ तक हमसे बन पड़े, इसके विरुद्ध लड़ना चाहिये। नैतिक क्रिया प्राकृत क्रिया का भाग नहीं; यह एक भिन्न प्रकार की क्रिया है।

एक और वैज्ञानिक, सर आर्थर कीथ, ने कहा है कि हक्सले ने डार्विन के विवरण को ठीक नहीं समझा। डार्विन ने यह नहीं कहा कि मनुष्यों में जीवन-संघर्ष व्यक्तियों में होता है, और उन में हरेक दूसरों को मिटा कर जीना चाहता है। डार्विन की सम्मति में यह संघर्ष व्यक्तियों में नहीं, अपितु समूहों में होता है। समूह के जीवन का आधार ही इस बात पर है कि व्यक्ति समूह के हित को अपना हित समझे। इस तरह समूह के जीवन में एक नहीं, अपितु दो नैतिक व्यवस्थाएं मान्य होती हैं:—'समूह के अन्दर मित्रता रखो; समूह के बाहर संघर्ष के लिये उद्यत रहो।' अब जब कि समूहों ने राष्ट्रों का रूप धारण कर लिया है, यही दुहरी-नीति काम करती है। हक्सले का सुझाव समूह की आन्तरिक-नीति के सम्बन्ध में है; और डार्विन का दृष्टि कोण भी इसके प्रतिकूल न था।

डार्विन के सिद्धान्त का तत्व यह है कि जो प्राणी जीने के योग्य हैं, वह बच रहते हैं, वा बचाए जाते हैं। यह योग्यता क्या है? हम कैसे जान सकते हैं कि किसी व्यक्ति वा जाति में ऐसी योग्यता है वा नहीं? हम कुदरत से पूछते हैं, तो वह कहती है—'आंखें खोलो, और देख लो। जो बच रहे हैं, वह बचे रहने के योग्य हैं।' इस तरह योग्यता का प्रमाण बचा रहना है। इसके अतिरिक्त प्राण-विद्या योग्यता का कुछ अर्थ नहीं समझती।

नीति के लिये इस दृष्टिकोण को अपनाना संभव नहीं। नीति यह नहीं मान सकती कि संघर्ष में सफलता योग्यता का चिन्ह है। इसके लिये योग्यता प्रमुख प्रत्यय है: जो कुछ कायम रहने के योग्य है, उसे बचाने का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यत्न होना चाहिये। प्राकृत संघर्ष में बलवान और निर्बल का मुकाबला होता है; नीति के लिये उत्कृष्ट और निकृष्ट, उच्च और निम्न, का भेद प्रमुख है।

३. स्पेन्सर का सिद्धान्त

स्पेन्सर* ने भी योग्यता को प्राण विद्या के दृष्टिकोण से ही देखा है। इसके साथ इस बात को स्पष्ट किया है कि यह योग्यता कैसे प्राप्त होती है। उसके विचारानुसार जीवन आन्तरिक और बाह्य सम्बन्धों की अनुकूलता का दूसरा नाम है। जब तक व्यक्ति अपने वातावरण के अनुकूल चलता है, वह जीवित रहता है; इस अनुकूलता के अभाव में जी नहीं सकता।

डार्विन ने अपने अनुसन्धान को प्राण-विद्या तक सीमित रखा था; स्पेन्सर ने अपने ऊपर ऐसी बाधा नहीं लगाई। उसने सृष्टि के विकास को भी अपने अनुसन्धान का विषय बनाया। उसने विकास के क्रम को समझने का यत्न किया। विकास एक परिवर्तन है जिसमें निम्न चिन्ह पाये जाते हैं:—

(१) समानता के स्थान में विभिन्नता प्रकट होती है; जहाँ एकता थी, वहाँ अनेकता आ जाती है।

(२) अनिश्चितता के स्थान में निश्चितता प्रकट होती है।

(३) विगठन के स्थान में संगठन प्रकट होता है।

सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा भिन्न प्राकृत पदार्थ हैं; इनका अपना अपना निश्चित आकार है; और यह एक ही मंडल के भाग हैं। आज यह स्थिति है, परन्तु यह विकास का परिणाम है। आरंभ में न विभिन्नता थी, न निश्चितता थी, न मंडल का संगठन था। प्रकृति अव्यक्त दशा में थी। विकास ने नानात्व पैदा कर दिया। आगे चलकर जीवन प्रकट हुआ, और जीवित पदार्थों में विभिन्नता, निश्चितता, और संगठन प्रकट हुए। चेतना के उदय होने पर फिर ऐसा ही हुआ।

यह विकास की कथा है। इसका ठीक होना न होना हमारे लिये बहुत महत्व नहीं रखता, क्योंकि हमारा प्रश्न यह नहीं कि भूत काल में परिवर्तन का क्रम क्या रहा है; अपितु यह कि चेतन कर्त्ताओं को क्या करना चाहिये। वास्तविकता और आदर्श का भेद, अनिवार्य रूप से, हमारे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करता है। स्पेन्सर इस भेद की ओर से उदासीन रहा। इस

---

* Herbert Spencer (1820-1903): *Data of Ethics. Justice.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के फलस्वरूप उस की नीति में कई त्रुटियाँ विद्यमान हो गई हैं। उनमें कुछ ये हैं:—

(१) स्पेन्सर कहता है कि जीवन में व्यक्ति और उसके वातावरण में अनुकूलता का होना आवश्यक है। यह अनुकूलता हमारे जीवन की अवधि को बढ़ा देती है। विकास की गति के साथ, वातावरण असरल वा मिश्र होता जाता है। अनुकूलता कठिन होती जाती है, और इस के लिये नाना उपाय करने पड़ते हैं। स्पेन्सर के शब्दों में, सफल जीवन में 'लम्बाई' के साथ 'चौड़ाई' भी होती है। जो पुरुष १०० वर्ष सोकर ही व्यतीत कर सकता है, उसका जीवन लम्बा तो है, परन्तु चौड़ा नहीं: उसमें क्रिया का अंश न होने के बराबर है। यह प्राण-विद्या का तथ्य है। स्पेन्सर इसे नीति में भी नियम बनाना चाहता है। नीति के लिये प्रमुख प्रश्न जीवन की मात्रा का नहीं, उसके मूल्य का है। जीवन की लम्बाई-चौड़ाई नहीं, अपितु इसकी 'गहराई' अधिक महत्व की चीज़ है। स्पेन्सर ने जीवन की मात्रा पर अधिक ध्यान दिया, और इस की कीमत पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया।

(२) नीति का काम आचरण की परख करना है। आचरण क्या है? स्पेन्सर के विचारानुसार आचरण ऐसी क्रिया है, जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। इस प्रयोजन का ज्ञान क्रिया के समय कर्त्ता के लिये आवश्यक है वा नहीं? स्पेन्सर इसे आवश्यक नहीं समझता। पशु-पक्षियों में नर और मादा के संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है। संयोग में वह अपनी क्षणिक तृषा को तृप्त करते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि इस क्रिया के फलस्वरूप सन्तान पैदा होगी। नसल का जारी रखना कुदरत का प्रयोजन है; व्यक्ति तो करण मात्र प्रयुक्त होते हैं। मनुष्यों के कामों में संकल्प का अंश भी होता है। वह प्रयोजन के ज्ञान से और उसकी सिद्धि के लिये काम करते हैं। ऐसे कर्म ही आचरण के अन्तर्गत आते हैं, और यही नैतिक निर्णय का विषय होते हैं। स्पेन्सर आचरण को विस्तृत अर्थों में लेकर पशु-पक्षियों की क्रियाओं को भी आचरण का पद देता है। इस तरह वह मनुष्यों और पशुओं की क्रिया को एक स्तर पर ले आता है। प्राण-विद्या के लिये इसमें कोई आपत्ति न हो, तो भी नीति तो इस भेद की ओर उदासीन नहीं हो सकती। यहाँ भी स्पेन्सर ने गुण-दोष भेद की ओर ध्यान नहीं दिया।

(३) नीति को प्राण-विद्या से बांध देने का एक और फल यह है कि स्पेन्सर व्यक्ति के महत्व को पूर्णरूप में स्वीकार नहीं करता। प्रकृति में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नसल की क़ीमत व्यक्ति की क़ीमत से बहुत अधिक है। एक वा दूसरे कुत्ते के जीने मरने का महत्व बहुत नहीं ; कुत्तों की नसल जारी रहनी चाहिये। मनुष्यों की हालत में भी प्रकृति को व्यक्ति की चिन्ता नहीं ; जाति की चिन्ता है। नीति में व्यक्ति के मूल्य पर बल दिया जाता है। कांट ने कहा था कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में स्वयं-साध्य है। विकासवाद ऐसी धारणा को स्वीकार नहीं करता। संघर्ष होता रहता है ; विकास की प्रगति के साथ व्यक्ति और सामाजिक वातावरण की अनुकूलता बढ़ती जायगी, और संघर्ष की तीव्रता कम होती जायगी। अन्त में संघर्ष सर्वथा मिट जायगा, क्योंकि इसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

विकास के साथ बुद्धि में प्रगति होती जाती है। मानवज़ाति का अनुभव बहुत अल्प है ; परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि बुद्धि की प्रगति के साथ संघर्ष तेज़ होता जाता है। आगे बढ़ने की इच्छा तीव्र होती जाती हैं ; और संघर्ष के नए नए साधन बनते हैं। संघर्ष को जीवन का तत्व समझें, तो प्रतीत होता है कि विकास के साथ इसकी प्रभुता भी बढ़ती जायगी।

(४) स्पेन्सर अपने सिद्धान्त को 'वैज्ञानिक भोगवाद' का नाम देता है। भोगवाद वा उपयोगितावाद कहता है कि सारे मनुष्य सुख की ही इच्छा करते हैं ; इसलिये सुख ही वांछनीय है। क्यों सुख की इच्छा करते हैं ? इसकी बाबत भोगवाद कुछ नहीं बताता। स्पेन्सर के विचारानुसार विकासवाद इस प्रश्न का उत्तर देता है। जीवन का उद्देश्य स्वयं जीवन ही है। जो कर्म जीवन को प्रफुल्लित करता है, वह शुभ कर्म है ; जो कर्म जीवन के लिये हानिकारक है, वह अशुभ कर्म है। यह कैसे जान सकते हैं कि कोई कर्म जीवन को प्रफुल्लित करता है, वा इसे हानि पहुँचाता है ? स्पेन्सर के विचार में, कुदरत ने अपने बेसमझ बच्चों के लिये एक सरल साधन प्रस्तुत कर दिया है। उसने जीवन की सफलता और असफलता के साथ सुख और दुख को जोड़ दिया है। जो क्रिया जीवन के लिये हितकर है, वह सुखदायक भी है ; जो क्रिया हानिकारक है, वह दुखदाई भी है। सुख जीवन का लक्ष्य नहीं, परन्तु इस लक्ष्य का स्थायी चिन्ह है। इस स्थायी सम्बन्ध के कारण विकास वाद की नीति को भोगवाद भी कह सकते हैं।

इस धारणा पर दो आपत्तियां की जाती हैं:—

(१) हितकर क्रियाएं बहुधा सुखद होती हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कि यह सम्बन्ध अनिवार्य है। बहुतेरे काम करते समय दुख देते हैं, परन्तु होते लाभकारी हैं; दूसरी ओर कई काम सुख देते हैं, परन्तु हानिकारक होते हैं। जीवन में अनुशासन का महत्व तो इसी में है कि यह हितकर कामों को सुखद बनाने का साधन है। आरंभ में तो हमारे लिये साफ सुथरा रहना, समय पर खाना, व्यायाम करना, नियत काम करना सब कुछ अप्रिय ही होता है।

(२) स्पेन्सर ने विकासवाद की नीति का अनावश्यक गठजोड़ भोगवाद से कर दिया है। यह सत्य भी हो कि सारे कार्य जो जीवन को प्रफुल्लित करते हैं, सुख देते हैं, तो भी विकासवाद का लक्ष्य तो बदल नहीं जाता। किसी पुस्तक का नाम पुस्तकालय के रजिस्टर में हो, तो हम अनुमान करते हैं कि पुस्तक भी पुस्तकालय में होगी; परन्तु इन दोनों तथ्यों में बहुत भेद है। वृक्ष की छाया की लम्बाई वृक्ष की ऊँचाई की प्रतीक है; परन्तु इन दोनों में भेद है। अपने सिद्धान्त को 'वैज्ञानिक भोगवाद' कहकर स्पेन्सर ने इस विश्वास का प्रोत्साहन किया कि विकासवाद भी सुख को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करता है।

४. विरोधी मतों का मेल

विकासवाद एक बात पर गौरव करता है, और वह यह कि इस ने विरोधी मतों का मेल करके, नैतिक विवाद को कम कर दिया है। जैसा हम ने देखा है, नीति में दो विवाद प्रमुख रहे हैं:—

(१) मानव का ध्येय क्या है?

(२) इसे हम कैसे जानते हैं?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में प्रमुख विवाद स्वार्थवाद और परार्थवाद में रहा है। स्वार्थवाद के अनुसार प्रत्येक का काम है कि अपने हित के लिये यत्न करे। सर्वार्थवाद के अनुसार समूह का हित व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिये। विकासवाद कहता है कि विकास इस विवाद को निरन्तर मिटा रहा है, और अन्त में यह बिलकुल मिट जायगा। मानव के विकास के साथ व्यक्ति और समूह के झगड़े कम होते जाते हैं, और प्रत्येक को अपना हित और दूसरों का हित मिला हुआ दीखता है। स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद का संघर्ष अस्थायी है। कुदरत की व्यवस्था इसे मिटाने के लिये यत्न कर रही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैतिक-बोध के सम्बन्ध में, अनुभववाद और आन्तरिक बोधवाद में झगड़ा है। अनुभववाद कहता है कि, सत्य-असत्य की तरह, शुभ-अशुभ का भेद भी अनुभव से जाना जाता है; आन्तरिक बोधवाद कहता है कि यह ज्ञान अनुभव पर निर्भर नहीं। विकासवाद के अनुसार मतभेद का कारण यह है कि 'अनुभव' को संकुचित अर्थ में लिया जाता है। किसी नसल का अनुभव उस नसल के साथ समाप्त नहीं हो जाता; वह आने वाली नसल की सम्पत्ति बन जाता है। जो अनुभव अनेक नसलों तक होता रहता है, वह आन्तरिक बोध ही बन जाता है। आन्तरिक बोध जाति के अनुभव का दूसरा नाम ही है। अनुभव को विस्तृत अर्थ में लें, तो नैतिक विवाद मिट जाता है।

५. 'निरपेक्ष' और 'सापेक्ष' नीति

स्पेन्सर ने निरपेक्ष और सापेक्ष नीति पर भी लिखा है। जैसा अभी हमने देखा है, उसकी सम्मति में विकास के साथ स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद का संघर्ष कम होता जाता है, और अन्तिम मंज़िल में यह भेद पूर्ण रूप से मिट जायगा। वास्तव में जो कुछ उस समय मनुष्यों का आचरण होगा, वही पूर्ण नैतिक आचरण होगा। उसी को स्पेन्सर 'निरपेक्ष नीति' का नाम देता है। उस अवस्था के आने से पहले सारी नीति 'सापेक्ष नीति' है। यह देश, काल, और स्थिति से सम्बद्ध होती है।

अन्तिम अवस्था की बाबत आज हम जान नहीं सकते। यदि यह आयगी, तो बहुत लम्बे समय के बाद आयगी। हमें तो वर्त्तमान में जीना है, और हमारे लिये उसी नीति का महत्व है, जिसे स्पेन्सर सापेक्ष नीति का नाम देता है। इसके सम्बन्ध में हम स्पेन्सर के विकासवाद से क्या सीख सकते हैं? जैसा पहले कहा गया है, स्पेन्सर का सूत्र विकास के कुछ चिन्हों का वर्णन करता है। प्रकृति के विकास में विभिन्नता, निश्चितता, और संगठन प्रकट होते हैं। जब जीवन का उदय होता है, तो क्षमता वा कुशलता भी प्रस्तुत हो जाती है। प्रकृति के परिवर्तनों के सम्बन्ध में इन प्रत्ययों का कोई स्थान ही नहीं। चेतना के उदय होने पर, प्रगति का एक और चिन्ह प्रकट हो जाता है। पशु-पक्षी वर्त्तमान में ही जीते हैं, और 'प्रत्यक्ष' का सहारा लेते हैं। मनुष्य की बुद्धि 'कल्पना' और 'विचार' का प्रयोग करती है। हम यह नहीं करते कि जब कोई कठिन स्थिति आ पहुँचे, तो उपयोगी प्रयत्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करें; हम ऐसी स्थिति आने के पूर्व ही, उसके लिये तैयार होना चाहते हैं। भविष्य में जीना इसी का नाम है। चेतना के स्तर पर, 'दीर्घदर्शिता' विकास का चिन्ह है। सामाजिक जीवन में, सामाजिक-भाव उन्नति का निशान है।

इस सारे विवरण को एक साथ देखें, तो 'सापेक्ष नीति' में निम्न बातें प्रमुख दिखाई देती हैं:—

(१) नैतिक आचरण में

(क) विविध क्रियाएँ व्यक्त होती हैं,

(ख) यह क्रियाएँ निश्चित होती हैं,

(ग) यह क्रियाएँ संगठित होती हैं।

(२) जीवन की सफलता के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति स्वस्थ और बलवान हो। वह पूरा जीवन भोग सके।

(३) मनुष्य जो कुछ करे, सोच विचार कर करे। प्रत्यक्ष से अधिक महत्व कल्पना और विचार को देना चाहिये।

(४) मनुष्य सर्वहित में अपना हित समझे। विस्तृत दृष्टिकोण संकुचित दृष्टिकोण से बहुत अच्छा दृष्टिकोण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

९. मूल्य और नीति

१. मूल्य का प्रत्यय

जिस दुनिया में हम रहते हैं, उसे जानने की आवश्यकता है; निरी कल्पना से काम नहीं चल सकता। इस मनोवृत्ति ने विज्ञान को जन्म दिया है। विज्ञान ने प्रकृति की शक्तियों को मनुष्य के नियन्त्रण में रख दिया है। अपनी टांगों पर हम घंटे में ३-४ मील जाते हैं; रेलगाड़ी में ४० मील और वायुयान में ४०० मील निकल जाते हैं, और पाँव हिलाना नहीं पड़ता। विज्ञान का काम घटनाओं को देखना, उन्हें शृंखलित करना, और उनका समाधान करना है। इसकी दृष्टि में सारी घटनाएं एक ही मूल्य की हैं। सत्य तो यह है कि विज्ञान तथ्य को देखता है; मूल्य को अपने विचार का विषय ही नहीं बनाता।

नीति और कुछ अन्य विद्याओं में, मूल्य का प्रत्यय केन्द्रीय प्रत्यय है। वर्तमान युग को कला का युग कहा जाता है। १९वीं शती की औद्योगिक क्रान्ति का एक परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार की वस्तुएँ बहुत अधिक मात्रा में बनने लगीं; और पहले जो कुछ बड़े बड़े आदमियों को कठिनाई से प्राप्त होता था, साधारण मनुष्यों की पहुँच में हो गया। पदार्थों का अदल-बदल होने लगा, और इसके लिये उनका मूल्य निश्चित हुआ। 'अर्थशास्त्र,' जो वस्तुओं के मूल्य और उनके अदल-बदल का अध्ययन है, एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में आगे आया। इसके साथ ही राज-नीति ने भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। राज-नीति भी नीति की तरह 'मूल्य' का अध्ययन करती है; भेद यह है कि नीति में हम देखते हैं कि व्यक्ति अपने यत्न से कैसे मूल्य का उत्पादन कर सकता है; राज-नीति में देखते हैं कि सामूहिक यत्न से इसका उत्पादन कैसे होता है।

नीति में मूल्य के प्रत्यय को कांट के प्रभाव ने भी महत्वपूर्ण प्रत्यय बना दिया। कांट ने शिव-संकल्प को अकेला निरपेक्ष मूल्य कह कर, मूल्य और इसके भेदों की ओर विचारकों का ध्यान आकर्षित किया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. जीवन के प्रमुख मूल्य

ऊपर कहा गया है कि कुछ मूल्यों का उत्पादन राज्य का काम है, और कुछ मूल्यों का उत्पादन व्यक्ति करता है। जीवन के प्रमुख मूल्यों की बाबत जानने के लिये हम इन दोनों की प्रक्रिया को अलग अलग देखेंगे। पहले राज्य को लें।

भारत में केन्द्र का काम चलाने के लिये, निम्न विभागों के मंत्री नियत हैं:—

(१) रक्षा (२) आन्तरिक व्यवस्था (३) राज-नियम (४) शिक्षा (५) स्वास्थ्य (६) वित्त (७) डाक-तार (८) खाद्य और कृषि (९) व्यापार और उद्योग (१०) यातायात और रेल (११) नहर, सड़क आदि (१२) श्रम (१३) उत्पादन।

वास्तव में सारी प्रक्रियाएँ जीवन और अच्छे जीवन के गिर्द घूमती हैं। रक्षा विभाग और आन्तरिक व्यवस्था का उद्देश्य नागरिक के जीवन-अधिकार को सुरक्षित करना है। राज-नियम का उद्देश्य व्यक्ति की स्वाधीनता को सुरक्षित करना है। शिक्षा और स्वास्थ्य जीवन को ऊँचे स्तर पर पहुँचाने के लिये आवश्यक हैं। शेष प्रक्रियाओं का उद्देश्य ऐसी आर्थिक स्थिति का प्रस्तुत करना है, जिससे जीवन का निर्वाह भली भांति हो सके।

व्यक्ति अपने यत्न से कौन से मूल्यों का उत्पादन करना चाहता है? जिस किसी पदार्थ की भी कोई मनुष्य चेष्टा करता है, वह उसकी दृष्टि में उस समय मूल्यवान होती है। यह आवश्यक नहीं कि उसका निर्णय ठीक निर्णय ही हो। व्यक्ति की प्रमुख चेष्टाओं को देखें, तो हमें पता लगेगा कि किन वस्तुओं को मूल्यवान समझा जाता है। 'वृहदारण्यक उपनिषद' (१:४:१७) में कहा है:—"पहले आत्मा अकेला था। उसने कामना की 'मेरी पत्नी हो'। फिर चेष्टा की—'मेरी सन्तान हो'। फिर चेष्टा की—'मुझे धन मिले'। फिर चेष्टा की—'मैं कुछ करूं'। बस कामना यहाँ तक ही जाती है; इच्छा करने पर भी इससे अधिक कुछ नहीं मिलता। अब भी मनुष्यों की कामनायें यही होती हैं—'मुझे पत्नी मिले; मेरी सन्तान हो; मुझे धन मिले; मैं कुछ कर सकूँ।' जब तक इनमें से एक वस्तु की भी कमी रहती है, मनुष्य अपने आप को अपूर्ण समझता है।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह कविता की भाषा है। गद्य की भाषा में, उपनिषद का भाव यह है कि मनुष्य काम की माँग को पूरा करना चाहता है; विवाह के बाद सन्तान की चेष्टा करता है; जीवन के निर्वाह के लिए धन सम्पत्ति का संग्रह करना चाहता है; और अपनी शक्तियों को कार्यरूप देने के लिए आत्म-विकासन का कोई उपयोगी ढंग ढूँढ़ता है। व्यक्ति को तीन क्षेत्रों में जीवन का काम करना होता है। पहला क्षेत्र घर है। परिवार का उद्देश्य नैसर्गिक कामना की व्यवस्थित तृप्ति, जाति का जारी रखना, और गृह का स्थापित करना है। गृह में प्रेम का शासन होता है। यहां अर्थों की एकता होती है, और प्रत्येक के मन में दूसरों के व्यक्तित्व के लिए सत्कार का भाव होता है। घर सुख का प्रमुख स्थान है। परिवार का आरम्भ तो लैंगिक आकर्षण से होता है, परन्तु इसकी स्थिरता सन्तान पर निर्भर होती है। दूसरा कार्य-क्षेत्र वह है, जहाँ व्यक्ति अपने और परिवार के निर्वाह के लिए काम करता है। आर्थिक कुशलता आत्मा की स्वाधीनता के लिए अनिवार्य है। परन्तु कोई मनुष्य ऐसी कुशलता से संतुष्ट नहीं हो सकता; आत्मा अपने विकासन के लिए बेचैन रहता है। समाज का भला भी इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार जो कुछ कर सकता है, करे। शिक्षा का उद्देश्य भी यही है कि व्यक्ति की अव्यक्त शक्तियों का विकास हो, और वह उन्हें कार्यरूप दे। भगवद्गीता में कहा है कि प्रत्येक के लिए उसका अपना धर्म सर्वश्रेष्ठ है। इस कथन का आशय भी यही है।

प्रत्येक चेष्टा स्वत्व के लिए होती है। विल्यम जेम्स ने कहा है कि स्वत्व को तीन पहलुओं में देख सकते हैं: प्राकृत स्वत्व, सामाजिक स्वत्व और आत्मिक स्वत्व। प्राकृत स्वत्व में शरीर प्रमुख है। शरीर से परे भी प्रकृति के कुछ अंशों के प्रति हमारी भावना उसी प्रकार की होती है, जैसी शरीर के प्रति होती है। इनमें गृह और सम्पत्ति, विशेषकर वह भाग जिसे हमने अपने श्रम से कमाया है, खास तौर पर सम्मिलित हैं। सामाजिक स्वत्व में अन्य पुरुषों की राय, जो वह हमारी बाबत बनाते हैं, आती है। बहुतेरे लोग स्वस्थ, धनी और विद्वान होने की अपेक्षा इस बात का अधिक महत्व समझते हैं कि अन्य लोग उन्हें स्वस्थ, धनी और विद्वान समझें। आत्मिक स्वत्व में तीन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंश हैं—ज्ञान, भावना और चरित्र। भावना में आम दृष्टिकोण, भक्ति और श्रद्धा सम्मिलित हैं। चरित्र में आचार और आचरण दोनों लिए जाते हैं।

स्वत्व के इस विश्लेषण को लें, तो जीवन के प्रमुख मूल्यों की सूची ऐसी बनती है:—

(१) शारीरिक मूल्य (स्वस्थ, सुडौल और आकर्षक शरीर)
(२) सुखद घर और आर्थिक कुशलता
(३) परिचित लोगों में आदर; मित्रता आदि
(४) विद्या और बौद्धिक तुष्टि
(५) सौंदर्य अनुभूति, श्रद्धा–भक्ति, प्रेम–भाव
(६) शुद्ध आचार और आचरण।

इन मूल्यों में आर्थिक मूल्य साधन मात्र हैं। अन्य मूल्यों में कुछ ऐसे हैं जो साधन और साध्य दोनों हैं। ज्ञान और सोच विचार अपने आप में भी मूल्य रखते हैं, और अन्य मूल्यों का उत्पादन भी करते हैं। कुछ मूल्यों की बाबत मतभेद है। नीति में प्रमुख प्रश्न सर्वश्रेष्ठ-मूल्य वा निःश्रेयस के स्वरूप की बाबत विवेचन ही है।

३. निःश्रेयस का स्वरूप

निःश्रेयस के स्वरूप के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह है कि यह एक वस्तु है, वा एक से अधिक वस्तुएं हैं।

जैसा हम देख चुके हैं, भोगवाद की दृष्टि में तृप्ति ही अकेला स्वयं–साध्य मूल्य है। कांट शिव-संकल्प को निःश्रेयस बताता है। अन्य विचारक प्रेम वा भक्ति को यह पद देते हैं। यह सारे मत नैतिक 'एकवाद' के रूप हैं। 'एकवाद' सरल सिद्धान्त तो है, परन्तु इस के विविध रूपों में निश्चय करना सहज नहीं। डाक्टर मूर ने, ऐसे निश्चय के लिये, एक सूत्र दिया है। वह कहता है—'कल्पना करो कि दो ब्रह्मांड एक दूसरे के समान हैं; केवल इतना भेद है कि एक वस्तु एक ब्रह्मांड में विद्यमान है, और दूसरे में विद्यमान नहीं। क्या इस भेद की नींव पर तुम यह कह सकते हो कि दोनों में से यदि एक की सत्ता हो सकती है, तो पहले की सत्ता होनी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहिये ? यदि तुम यह कह सकते हो, तो तुम्हारी सम्मति में वह वस्तु जो पहले में विद्यमान है, पर दूसरे में नहीं, स्वयं–साध्य मूल्य है।'

इस कसौटी का प्रयोग करें, तो हमें सुख, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य–अनुभूति सारे स्वयं–साध्य मूल्य प्रतीत होंगे। सर्व साधारण भी एक से अधिक वस्तुओं को ऐसा मूल्य स्वीकार करते हैं। मिल ने कहने को तो कहा कि सुख ही एक मात्र ऐसा मूल्य हैं, परन्तु सुखों के गुण-भेद को स्वीकार करके पिछले द्वार से बुद्धि को अन्दर आ जाने दिया। इसी तरह कांट ने भी शिव-संकल्प के साथ तुष्टि को भी दबी जुबान से स्वीकार कर ही लिया।

'अनेकवाद' एक कठिनाई को दूर करता है, परन्तु इसके साथ एक और कठिनाई को खड़ा कर देता है। यदि एक से अधिक वस्तुएँ स्वयं-साध्य हैं, तो उनमें विरोध की अवस्था में चुनाव कैसे करें ? ज्ञान की एक विशेष मात्रा कितने शारीरिक वा मानसिक सुख के बराबर है ? सत्य बोलना अच्छा है, वा देश को आपत्ति से बचाना अच्छा है ?

इन दोनों कठिनाइयों से बचने के लिये, कुछ विचारक 'एकवाद' और 'अनेकवाद' का समन्वय 'संगठनवाद' में करते हैं। उनके विचार में निःश्रेयस न तो एक वस्तु है, न कई वस्तुओं का समूह है, अपितु एक संगठन है, जिसमें अनेकता और एकता का भेद मिट जाता है। हमारा शरीर एक संगठन है; इसमें कई अंग हैं, परन्तु वह सब एक दूसरे पर आश्रित हैं, और अपने लिये नहीं, परन्तु समस्त के लिये काम करते हैं। निःश्रेयस भी इसी तरह एक संगठन है।

४. संगठन का नियम

डाक्टर मूर ने इस संयोग वा संगठन के संबन्ध में एक विशेष स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित किया है। मात्रा के संबन्ध में योग का नियम लागू होता है। ८ छटांक पानी में १ छटांक खांड डालें, तो शरबत ९ छटांक होगा; इस से अधिक वा न्यून नहीं हो सकता। पानी का बोझ भी उसके अंशों—आक्सीजन और हाइड्रोजन—का योग ही होगा। योग करने में प्रकृति न बढ़ती है, न घटती है। जब मूल्यों का समन्वय होता है, तो वहां योग का नियम लागू नहीं होता। यह आवश्यक नहीं कि जब दो वा तीन मूल्यों का संयोग हो, तो उसका मूल्य युक्त होने वाले मूल्यों का योग हो। योग होने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण ही यह मूल्य बढ़ वा घट भी सकता है। यह एक अजीब स्थिति है। इसे स्पष्ट करने के लिये हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं। सौंदर्यशास्त्र भी एक प्रकार के मूल्य का अध्ययन करता है। राग में मधुरता है। राग जिन शब्दों से बनता है, उन में मधुर-अमधुर का प्रश्न नहीं होता। जिस क्रम से वह शब्द एक दूसरे के बाद आते हैं, उस से मधुर बनते हैं। मधुरता–विहीन अंशों के योग से मधुर राग पैदा हो जाता है। अब चार रागियों को कहें कि वह एक साथ अपने राग अलापें। चार रागों के मिलाप का फल शोर हो जाता है। राज–नीति भी मूल्य से संबद्ध है। इस से एक दृष्टान्त लें। अपराध बुरा है; पीड़ा भी बुरी है। किसी राज्य में चार अवस्थाओं की कल्पना कर सकते हैं :—

(१) अपराध होता है, और अपराधी को दण्ड के रूप में पीड़ा दी जाती है।

(२) अपराध होता है, परन्तु अपराधी को दण्ड नहीं मिलता।

(३) अपराध नहीं होता, परन्तु अपराध न करने वालों को भी दण्ड दिया जाता है।

(४) अपराध नहीं होता, और दण्ड भी नहीं दिया जाता।

इन चारों अवस्थाओं को मूल्य की दृष्टि से हम किस क्रम में रखेंगे ?

चौथी अवस्था में दोनों बुराइयों में कोई भी विद्यमान नहीं। यह श्रेष्ठ अवस्था है। दूसरी और तीसरी अवस्था में, एक बुराई—अपराध वा पीड़ा––विद्यमान है; पहली अवस्था में यह दोनों विद्यमान हैं। हरेक पहली अवस्था को दूसरी और तीसरी अवस्था से अच्छा कहेगा। इस का अर्थ यह है कि दो बुराइयों का मेल किसी एक को बढ़ाता नहीं, अपितु कम कर देता है। जहाँ एक बुराई हो, वहाँ ऐसा भी हो सकता है कि बुराई को कम करने के लिये, एक और बुराई को प्रस्तुत करना पड़े।

व्यक्ति के जीवन से एक उदाहरण लें। एक बच्चा रोग से तड़प रहा है। पास उसकी माता बैठी है। उस के लिये तीन सम्भावनाएँ हैं—(१) वह भी दुखी हो, (२) वह उदासीन वृत्ति बनाये रखे, (३) वह कोई प्रेम–कथा पढ़ कर अपने आप को प्रसन्न करे। पहली अवस्था में एक पीड़ा के स्थान में दो पीड़ाएँ प्रस्तुत हो जाती हैं; दूसरी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवस्था में एक ही पीड़ा बनी रहती है; तीसरी अवस्था में एक दुख के साथ कुछ सुख उत्पन्न होकर संसार के दुख की मात्रा को कुछ कम कर देता है। इनमें से कौन सी अवस्था अच्छी और कौन सी बुरी है? पहली अवस्था में ही माता माता का व्यवहार करती है। बात यह है कि माता का दुख विशुद्ध दुख नहीं; इसके साथ प्रेम मिला है। दुख अपने आप में बुराई है; परन्तु जब यह प्रेम से मिल जाता है, तो इसकी बुराई भलाई में बदल जाती है। सुख अपने आप में मूल्य-वान है, परन्तु जब यह तड़पते बच्चे के पास बैठी माता से अनुभूत होता है, तो यह भद्र नहीं रहता, अभद्र बन जाता है।

यह स्थिति वैयक्तिक और सामूहिक व्यवहार में एक बड़ी नैतिक कठिनाई पैदा कर देती है। नैतिक जीवन में पग पग पर सावधान रहने की आवश्यकता है।

५. सत्य, शिव और सुन्दर

सत्य, भद्र और सौंदर्य जीवन के प्रमुख मूल्य समझे जाते हैं। सत्य ज्ञान में आदर्श है; भद्र कर्म में आदर्श है; और सौंदर्य भाव में आदर्श है। कुछ लोगों का विचार है कि यह तीन स्वतंत्र आदर्श नहीं, अपितु एक ही आदर्श के तीन पक्ष हैं। कवि जान कीट्स ने कहा है:—

'सत्य सौंदर्य है, और सौंदर्य सत्य है। हम इतना ही जानते हैं, और इतना जानना ही पर्याप्त है।'

प्राचीन यूनान में, 'सुन्दर' और 'भद्र' के लिए एक ही शब्द बर्ता जाता था। हमारे साहित्य में शुभ वा धर्म सत्य के अन्तर्गत आ जाता है।

यह दार्शनिकों के लिए विवेचन का विषय है। हमारे लिए, इन तीनों में सम्बन्ध है, परन्तु वह एक दूसरे से अलग हैं। उनका अध्ययन भी तीन अलग विद्याओं का काम है। नीति का सम्बन्ध शुभ वा भद्र से है; सत्य और सौंदर्य, न्याय और सौंदर्यशास्त्र के विषय हैं।

६. साध्य और साधन मूल्य

ऊपर प्रमुख मूल्यों की सूची देते हुए कहा गया है कि मूल्य तीन प्रकार के हैं—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) वह जो अपने आप में, बिना किसी शर्त के, वांछनीय हैं ।

(२) वह जो उपर्युक्त प्रकार के मूल्यों का साधन हैं।

(३) वह जो साधन भी हैं और साध्य भी हैं।

पहली प्रकार के मूल्यों की बाबत जो विवाद है, उसकी ओर हम संकेत कर चुके हैं। कांट के विचार में शिव-संकल्प, और मिल के विचार में तृप्ति ही ऐसा अकेला मूल्य है। ऐसे विचारकों के लिए तीसरी प्रकार के मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं; क्योंकि जो कुछ अकेला स्वयं-साध्य है, वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं हो सकता। 'अनेकवाद' में विश्वास करने वालों के लिए यह आपत्ति नहीं। सारे आर्थिक मूल्य दूसरी प्रकार के मूल्य हैं। जाड़े में गर्म वस्त्रों की कीमत है; गर्मी में पंखे की कीमत है। इसका कारण यह है कि शरीर का ताप वाह्य ताप से भिन्न होता है। ऐसा न होता, तो गर्म वस्त्रों और पंखे की कोई कीमत न होती। मेरी ऐनक मेरे लिए कीमत की चीज है, क्योंकि वातावरण में देखने के पदार्थ हैं, प्रकाश विद्यमान है, और मैं देख सकता हूँ। इनमें से किसी एक का अभाव हो जाय, तो ऐनक शीशे का एक टुकड़ा ही हो जाती है।

स्वस्थ और आकर्षक शरीर की कीमत क्या है? स्वास्थ्य अपने आप में मूल्यवान है, वा केवल इस लिये अच्छा है कि स्वस्थ मनुष्य प्रसन्न होता है, और अपना काम भली प्रकार कर सकता है? बहुतेरे लोग कहेंगे कि यदि स्वास्थ्य के साथ ये बातें मिली न हों, तो इसकी कोई कीमत नहीं। कल्पना करें कि दुनिया की स्थिति ऐसी हो जाती है कि न स्वास्थ्य सुखदायक होता है, न रोग दुख देता है; वा स्थिति ऐसी हो जाती है कि करने को कुछ रहता ही नहीं। ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य का क्या मूल्य है? इस तरह, आर्थिक मूल्यों की तरह, शारीरिक मूल्य भी साधन मात्र ही प्रतीत होते हैं। ज्ञान, तृप्ति और वृत्त की बावत भी यही प्रश्न पूछा जा सकता है। जैसा हम देख चुके हैं, इनके मूल्य के स्वरूप की बाबत बहुत मतभेद है। प्रत्येक को अपनी राय कायम करनी चाहिये।

७. मूल्यों की रक्षा और वृद्धि

मूल्यों की उपलब्धि बहुत अच्छी है; परन्तु यह भी आवश्यक है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपलब्ध मूल्यों को सुरक्षित रखा जाय, और, जहाँ तक बन पड़े, उनकी वृद्धि की जाय। यह कैसे हो सकता है ?

प्रथम तो आवश्यक है कि मूल्यों के लिये पर्याप्त मात्रा में श्रद्धा विद्यमान हो। भगवद्गीता में कहा है—'पुरुष श्रद्धामय ही है।' जिस पुरुष में उच्च जीवन के लिये कोई उमंग और उल्लास नहीं, वह पाशव स्तर पर ही रेंगता रहता है। मूल्यों के उत्पादन में सब से प्रमुख साधन मनोवैज्ञानिक वृत्ति है। श्रद्धा अनिवार्य तो है, परन्तु पर्याप्त नहीं। हमारा जीवन शून्य में व्यतीत नहीं होता। वातावरण के प्रयोग से ही हम अपना मनोरथ पूरा कर सकते हैं। श्रद्धा के साथ ज्ञान भी होना चाहिये। इस ज्ञान में दो बातें सम्मिलित हैं—

(१) हम समझ लें कि जिस स्थिति में हम हैं, उसमें क्या कुछ करना हमारे लिये संभव है। अपने उद्देश्यों को समझ सोच कर नियत करें।

(२) हम यह जानें कि इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये कौन से साधन आवश्यक हैं। अपनी शक्ति को व्यर्थ न खोएँ।

इस ज्ञान के बाद तीसरी मंज़िल यह है कि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उद्देश्य की पूर्त्ति में लगा दें। ऐसा करने पर भी संभव है, हम सफल न हों ; तो भी यह संतोष तो होगा कि हम ने अपना काम कर दिया है।

यह भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का मेल है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१०. अहंवाद और आत्म समर्पण

नीटशे और गांधी

अभी तक जिन सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है, उनमें प्राय: भाव और ज्ञान का विवाद रहा है। भोगवाद तृप्ति को सर्वोपरि मूल्य बताता है; इसके विपरीत ज्ञान के भक्त निरोध को मूल्यवान बताते हैं। कुछ कहते हैं कि भाव हमारी उन्नति में बाधा है, और इसलिये इसे दबा देना चाहिये; कुछ इतनी दूर नहीं जाते, और कहते हैं कि नैतिक विचार में भाव असंगत है। दोनों दशाओं में, ज्ञान और भाव की अपेक्षा, क्रिया गौण स्थिति में ही रही है। अब हम ऐसे सिद्धान्तों की ओर आते हैं, जो संकल्प को प्रमुख स्थान देते हैं। ऐसे सिद्धान्तों में यहाँ दो सिद्धान्तों को लेंगे। इनमें एक अहंवाद का समर्थन करता है, और कहता है कि जीवन का लक्ष्य शक्ति-सम्पन्न होना है। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति शक्ति का पुजारी हो, और दूसरों पर शासन करने के लिये इस का प्रयोग कर सके। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार आत्म-समर्पण जीवन का लक्ष्य है। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति अहंभाव को मिटा दे। इन दोनों विचारों के प्रतिनिधित्व के लिये जर्मनी के दार्शनिक नीटशे और महात्मा गांधी को लेंगे।

अहंवाद

नीटशे

१. पृष्ठभूमि

नीटशे* के प्रारम्भिक विचारों पर शापनहावर और वैग्नर का विशेष प्रभाव पड़ा। वैग्नर के प्रभाव से तो वह शीघ्र ही मुक्त हो गया, परन्तु शापनहावर का प्रभाव थोड़ा बहुत बना ही रहा। एक और कारण, जिसने उसकी विचारधारा के निश्चित करने में बड़ा भाग लिया, उसका स्वास्थ्य था। उसका जीवन एक रोगी का जीवन था। दो बार उसने सैनिक के रूप में देशसेवा का यत्न किया, परन्तु दोनों बार, अल्प काल के बाद ही, सेवा के

---

*Friedrich Nietzsche (1844-1900): *Thus Spake Zarathustra.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अयोग्य होने के कारण उसे अलग होना पड़ा। अपने निर्बल शरीर के प्रति जो भाव भी पैदा हुआ हो, इस स्थिति ने सैनिक–जीवन के लिये उसके मन में अगाध श्रद्धा पैदा कर दी। रणभूमि में लड़ने की आज्ञा उसे नहीं मिल सकी; विचार–क्षेत्र में लड़ना तो उस के वश में था। उसने इस क्षेत्र में लड़ने का निश्चय किया, और शक्ति को अपना सेनापति चुना। वर्त्तमान युग में नीटशे अहंवाद का सब से बड़ा समर्थक है। जिन कारणों ने जर्मनी को पहले महायुद्ध में धकेल दिया, उन में नीटशे के विचारों का स्थान प्रमुख है।

२. 'सामाजिक द्वन्द्व'

नीटश की पहली पुस्तक से ही पता लगता है कि उसने मानव जाति के इतिहास को किस रूप में देखा। इतिहास समाज की भूतगति की कथा है। आम विचारकों का ख्याल है कि यह गति एक विशेष दिशा में प्रगति है, और समय आयेगा जब मनुष्य जाति अपने गंतव्य पर जा पहुंचेगी। कुछ लोगों का यह भी ख़याल है कि सत्य-युग भविष्य में आने वाला नहीं, अपितु बीत चुका है। नीटशे इन दोनों विचारों में से किसी को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि मानव जाति का यत्न अल्पसंख्यक उच्च वर्ग पैदा करने के लिये है। इस वर्ग के अस्तित्व का अर्थ यही है कि मनुष्यों की अधिक संख्या नीचे स्तर पर हो। सारे मनुष्य एक स्तर पर हो ही नहीं सकते। ऐसी बराबरी के लिये यत्न करना इतिहास की गति के प्रतिकूल चलने का यत्न है। ऐसा यत्न उन्नति का विनाशक है, क्योंकि उन्नति का आधार ही उच्च वर्ग का अस्तित्व है। जो लोग सारे मनुष्यों को एक स्तर पर लाने का यत्न करते हैं, वह अपने परिश्रम का दुरुपयोग करते हैं। सामाजिक द्वन्द्व-उच्च वर्ग और निम्नवर्ग–की नींव पर नीटशे ने अपनी नीति का निर्माण किया, और इसे 'स्वाभाविक नीति' वा कुदरती नीति का नाम दिया।

३. 'स्वामी-नीति' और 'दास-नीति'

समाज स्वभाव से ही उच्च-वर्ग और निम्न-वर्ग में बँटा है। उच्च वर्ग के लोग अल्प संख्या में होते हैं। उनका प्रमुख चिन्ह उनकी स्वतन्त्रता है। सर्व-साधारण, जिन्हें नीटशे मूढ़ मण्डली के नाम से याद करता है, भेंड़चाल चलते हैं, और यही उनके लिये पर्याप्त है। उच्च वर्ग का पुरुष अपनी इच्छा के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुसार विचरता है, और अपनी शक्ति को बढ़ाने का यत्न करता रहता है। उसमें कोमलता नहीं होती; वह कठोर होता है। नीटशे इस भेद को एक उदाहरण से प्रकट करता है। कोयले ने हीरे से कहा—'मेरे भाई ! हम तुम एक ही हैं (दोनों कार्बन ही हैं); तुम इतने कठोर क्यों हो ?' हीरे ने उत्तर में कहा : 'मेरे भाई ! हम तुम एक ही हैं; तुम इतने नर्म क्यों हो ?'

निम्न वर्ग के लोगों का काम उच्च वर्ग के लिये मेहनत का मोटा काम करना है। दोनों वर्गों का जीवनपथ अलग अलग है। उच्च वर्ग का पथ 'स्वामी-नीति' है। इसमें प्रमुख कर्त्तव्य शक्ति का बढ़ाना और इसका प्रयोग करना है। निम्न वर्ग का पथ 'दास–नीति' है। इस का प्रमुख काम आज्ञा का पालन करना और बोझ उठाना है। उच्च वर्ग एक उपवन है। इसका सर्वोत्तम फल 'शुभ्र-मानस' (सुपरमैन) है। वास्तव में मानव जाति का विकास ऐसे पुरुष के आगम के लिये ही होता है।

चिर काल तक स्वामी-नीति का प्रभुत्व रहा। तब दास क्रुद्ध हुए, और उन्होंने इस नीति के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया। दोनों नीतियों में जो संघर्ष हुआ, उस में 'दास-नीति' की जीत हुई। पहले इसे यहूदियों ने अपनाया; फिर ईसाइयत ने इसे बढ़ावा दिया। इस नीति में, शक्ति, साहस, कठोरता, निर्भयता आदि के स्थान में नम्रता, सहानुभूति, करुणा आदि को प्रमुख वृत्तों का पद दे दिया गया। 'शुभ्र-मानस' का काम स्वामी-नीति की पुनः स्थापना है। यही नीटशे की नैतिक शिक्षा का विषय है।

४. मानव का विकास

नीटशे अपनी पुस्तक, 'ज़रतुष्ठ्र के कथन' के पहले व्याख्यान में ही मानव के विकास की बाबत लिखता है:—

"मैं तुम्हें आत्मा के तीन परिवर्तनों की बाबत बताता हूँ : किस तरह आत्मा ऊँट बनता है; किस तरह ऊँट शेर बनता है; और अन्त में, किस तरह शेर मनुष्य का बच्चा बनता है।

आत्मा के लिये अनेक भारी बोझ हैं—बलवान आत्मा के लिये, जो बोझ उठाने की योग्यता रखता है और श्रद्धावान है। इसकी शक्ति भारी और अति भारी बोझों की मांग करती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोझ उठाने वाला आत्मा पूछता है—'कौन सी वस्तु भारी है ?', और ऊँट की भान्ति घुटने टेक कर चाहता है कि उसे अच्छी तरह लाद दिया जाय। ....

इसके बाद, दूसरा परिवर्तन होता है, और आत्मा शेर बन जाता है। शेर, अपने शिकार की भान्ति, स्वतन्त्रता को पकड़ना चाहता है, और अपने मरुस्थल वा रेगिस्तान में शासन करना चाहता है।.........पहले शेर को आदेश मिलता था—'तुम्हें करना होगा।' अब वह कहता है—'मैं करूँगा।'

मेरे भाइयो ! आत्मा में शेर की आवश्यकता क्यों है ? त्याग करने वाला और लद्दू पशु क्यों पर्याप्त नहीं ? नए मूल्यों का उत्पादन तो शेर भी नहीं कर सकता, परन्तु नए उत्पादन के लिये जिस स्वाधीनता की आवश्यकता है, उसे पैदा करने के लिये शेर की शक्ति पर्याप्त है।.........

परन्तु, मेरे भाइयो ! बताओ कि मनुष्य का बच्चा क्या कर सकता है, जो शेर भी नहीं कर सकता था ? फाड़ने वाले शेर को मनुष्य क्यों बनना चाहिये ?

मनुष्य का बच्चा निर्दोष है ; वह भूत की विस्मृति है, और नया आरंभ है ; वह एक खेल है ; अपने आप घूमने वाला पहिया है ; आरंभ की गति है ; एक पवित्र अहम्मति है।"

मानव के विकास में तीन मंज़िलें हैं:—पहली मंज़िल 'आज्ञा पालन' की है ; दूसरी मंज़िल 'स्वाधीनता' की है ; तीसरी मंज़िल 'रचना' की है।

५. मनुष्य पुल है, गन्तव्य-स्थान नहीं।

वर्तमान दशा में मनुष्य गन्तव्य-स्थान नहीं ; वह पुल है। इससे गुज़र कर आगे बढ़ना होगा। शुभ्र-मनुष्य भी कोई स्थाई अवस्था नहीं। प्रगति में प्रत्येक अवस्था से आगे बढ़कर दूसरी अवस्था में जाना होता है। यह दूसरी अवस्था पहली अवस्था के मनुष्य के लिये शुभ्र-मनुष्य होती है। दूसरी अवस्था को तीसरी अवस्था की ओर चलना होता है। प्रगति जारी रहती है। उच्च वर्ग के लोग पीछे की ओर नहीं, आगे की ओर देखते हैं। वह लोकाचार को अपने व्यवहार का नियम नहीं बनाते ; आप अपना पथ निश्चित करते हैं। वह जो कुछ करते हैं, खेल के भाव से करते हैं। वह अहंभाव को दबाते नहीं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसे प्रफुल्लित करते हैं। वह अपने लिये और दूसरों के लिये कठोर होते हैं। भोगविलास में उनके लिये कोई आकर्षण नहीं होता।

नीटशे ऐसे लोगों से कहता है:—

'तुम में हरेक अपने शत्रु को ढूंढ़े ; हरेक अपना युद्ध लड़े, और अपने विचारों के लिये लड़े। यदि तुम्हारे विचारों की हार हो जाय, तो भी तुम्हारी सत्य-निष्ठा की तो जीत ही होगी।'

'वास्तव में वही पुरुष शान्त हो सकता है, जिस के हाथ में तीर-कमान है। विजय को अपनी शान्ति बनाओ।'

'युद्ध और साहस ने करुणा की अपेक्षा अधिक काम किया है। तुम्हारी करुणा ने नहीं, अपितु तुम्हारे साहस ने अबतक अभागे पुरुषों की रक्षा की है।'

'निरी दीर्घ आयु किस काम की है ? कौन योद्धा चाहता है कि उसे छोड़ दिया जाय ? मैं तुम्हें छोड़ता नहीं।'

'भयंकर जीवन व्यतीत करो।

अपने नगरों को ज्वालामुखी पर्वत, वैसुवियस, की बग़ल में बनाओ। अपने जहाज़ों को उन समुद्रों में ले जाओ, जिन की खोज अभी नहीं हुई।

युद्ध के लिये तैयार हो जाओ।'

आत्म-समर्पण वा त्याग

मोहनदास कर्मचन्द गांधी

१. नीटशे और गांधी

१९ वीं शताब्दी के अन्त में, योरोप में दो विरोधी विचारधाराएं प्रभुत्व के लिये संघर्ष कर रही थीं। एक विचारधारा नीटशे ने चलाई थी, जिसका वर्णन अभी हो चुका है ; दूसरी विचारधारा रूस के काउंट टाल्स्टाय ने चलाई। टाल्स्टाय अहिंसा का पुजारी था। टाल्स्टाय के विचारों का प्रभाव भारत में गांधीजी पर पड़ा, और उन्होंने इसे अपने मन्तव्य में प्रमुख स्थान दिया। नीटशे से अलग हो कर, गांधीजी के पास पहुँचना रणभूमि से निकल कर किसी साधन आश्रम में प्रवेश करना है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नीटशे और गांधीजी के जीवन में एक समानता थी: दोनों अपने आप को अकेला पाते थे। जब नीटशे की प्रसिद्ध पुस्तक 'जरतुष्ट्र' प्रकाशित हुई, तो किसी ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। वह अपने साथियों के दरमियान भी अजनबी था। यही हाल गांधीजी का भी था। उनके भक्तों की संख्या बहुत बड़ी थी, परन्तु वह अपने आप को अकेला समझते थे। १९१५ में वह दक्षिण-अफ़्रीका से लौट कर भारत आये, और निरन्तर अहिंसा का प्रचार करते रहे। उन का कार्य-क्षेत्र राज-नीति था, और ऐसा प्रतीत होता था कि उनका प्रभाव निस्सीम है। स्वराज्य प्राप्ति के बाद जब द्वेष की अग्नि ने देश के बड़े भाग को अपनी लपेटों में ले लिया, तो वह असह्य दुख में चीख़ उठे: 'यह मेरे ३० वर्षों के काम का शर्मनाक अन्त है।'

नीटशे और गांधीजी के जीवन में एक असमानता भी थी। नीटशे शुभ्रमानस का ही चिन्तन करता रहता था, परन्तु, कई अंशों में, कुदरत ने उसे साधारण मनुष्य की स्थिति देने में भी संकोच किया। उसका स्वास्थ्य अच्छा न था, और उसका रोगी शरीर उसके मानसिक उबाल को सहन न कर सका। उसके जीवन के अन्तिम ११ वर्ष, सारे जीवन का २०%, पागलपन में कटे। इस पहलू में गांधीजी बहुत भाग्यवान थे। उन्होंने अपने लिये जो आदर्श निश्चित किया, वह उनकी पहुँच से बाहर न था। उनका जीवन उनकी शिक्षा का सबसे अच्छा व्याख्यान है।

२. गांधीजी की नैतिक शिक्षा

गांधीजी दार्शनिक न थे। नीति पर भी उन्होंने विशेष विवेचन नहीं किया। वह हिन्दू पैदा हुए, और जीवन भर उन्होंने यत्न किया कि हिन्दू जीवन-आदर्श को, जैसा वह इसे समझते थे, अपने जीवन में स्पष्ट करें। वह इस में सदा गौरव अनुभव करते थे।

प्राचीन यूनान में सारे कर्त्तव्यों को देशभक्ति के रूप में देखा जाता था; भारत में उन्हें धर्म का अंग समझा जाता है। गांधीजी के लिये नीति धर्म पर आधारित थी। वह जब कभी विशेष कठिनाई में होते थे, तो, सुकरात की तरह, विश्वास करते थे कि 'आन्तरिक आवाज़' उनका पथ प्रदर्शन करेगी। वह मौलिक रूप से, धार्मिक वृत्ति के मनुष्य थे। इस वृत्ति में प्रमुख बातें ये हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) जो कुछ मनुष्य करता है, वह अपने स्वामी की दृष्टि में करता है।

(२) विश्व में प्राकृत नियम के साथ, नैतिक नियम भी विद्यमान है। 'सत्य' और 'ऋत' दोनों ही एक परमात्मा पर आधारित हैं, और इसलिये एक दूसरे के सहायक होते हैं।

(३) सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ, के संघर्ष में अन्तिम विजय सत्य और शुभ की होती है, अनृत की नहीं होती। धार्मिक पुरुष और कुदरत की शक्तियाँ इस संघर्ष में एक ही ओर से लड़ते हैं।

इस विश्वास ने गांधीजी को सदा अपने पांव पर खड़ा रखा। इसी ने उन्हें सब्र करने की अपूर्व सामर्थ्य दी। वह प्रतीक्षा कर सकते थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि जो आज ठीक नहीं होता, वह कल ठीक हो जायगा; मनुष्य असफल हो सकते हैं, शुभ और भद्र पराजित नहीं हो सकते।

भारत की नीति में 'संयम' और 'तप' को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। गांधीजी का जीवन संयम और तप का जीवन था। लेखक को, १९४१ में, एक सप्ताह गांधीजी के पास सेवाग्राम आश्रम में रहने का अवसर मिला, और वह उन के दैनिक जीवन को निकट से देख सका। वह ११ बजे और सायं के पांच बजे आश्रमवासियों के साथ खाने पर बैठ जाते थे। दूसरे २०-३० मिनटों में खाकर उठ जाते थे; गांधीजी ६०-७० मिनटों का समय खाने को देते थे; इन सीमाओं से कभी इधर उधर नहीं हुए। प्रार्थना का समय नियमबद्ध था। सायं के भ्रमण का समय नियत था; जब एक विशेष खंभे के पास पहुँचते, तो वापस हो जाते; न १० गज़ इधर रहते, न उधर जाते। उनकी घड़ी उनकी कमर से लटकी रहती थी, और वह उस से पूरा काम लेते थे।

उन की तपस्या भी अपूर्व थी। शायद आश्रम के सारे वासी चारपाई पर सोते थे; गांधीजी लकड़ी के पटड़े पर सोते थे; दूसरे मसहरी का प्रयोग करते थे; गांधीजी इसे अनावश्यक समझते थे। रेलगाड़ी में जाना होता, तो तीसरे दर्जे में जाते थे। कमरा तो उनके लिये ख़ाली हो जाता था, परन्तु लकड़ी के तख़्ते तो कठोर बने रहते थे। गाड़ी में एक रात रहना हो, वा दो रातें, उनके भक्त उन्हें सोने नहीं देते थे। उन के पहनने के वस्त्र एक धोती और चद्दर ही थे, क्योंकि वह समझते थे कि भारत जैसे निर्धन देश में उनके हिस्से में इतना वस्त्र ही आता है। ऐसा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रतीत होता था कि कभी कभी उनकी तपस्या उपयोगी सीमाओं से परे चली जाती है। वह अपने पत्रव्यवहार का अच्छा भाग अपने हाथ से करते थे। एक दिन उन्होंने लेखक को २ बजे मिलने को कहा, ताकि कुछ बातचीत कर सकें। तीन घंटों में उन्हें एक मिनट इस के लिये नहीं मिला । समाचार-पत्र सुने, कुछ पत्रों का उत्तर लिखवाया ; फिर आप लिखने लगे। पहले बैठकर घुटनों पर कागज रखकर लिखते रहे ; कुछ थकावट हुई, तो पीछे बड़ा तकिया रखकर, तिरछे हुए और लिखने लगे। और थके, तो लेट गये, और स्लेट को बाएँ हाथ में पकड़ा, उस पर कागज़ रखे, और दाएं हाथ से लिखना आरंभ किया। उनके पास कुर्सी मेज न था, न वह अपने त्वरा-लेखक को उदारता से वर्तते थे।

तपस्या का एक चिन्ह यह होता है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को यथा संभव घटा देता है । गांधीजी ने तो साबरमती आश्रम बनाते समय सदस्यों के लिये नियम बनाया था कि वह कुछ भी अपनी सम्पत्ति के रूप में नहीं रख सकेंगे।

३. सत्य और अहिंसा

गाँधी जी ने अपने समय का बड़ा भाग राजनीति को दिया। इस क्षेत्र में उनकी विलक्षणता यह थी कि उन्होंने राजनीति को नीति और धर्म के साथ गठित कर दिया। राजनीति में उन्होंने सत्य और अहिंसा को आधार शिला बनाया। सत्य धर्म की देन था, और अहिंसा नीति की देन थी। उनकी पुस्तकों में सबसे प्रमुख उनका 'जोवन चरित्र' है। इसका नाम उन्होंने 'सत्य के साथ मेरे निरीक्षण' रखा। वह यह नहीं समझते थे कि सत्य कहीं पड़ा है, और उनका काम उसका पता लगाना और उसे उठा लेना है। उनका ख्याल था कि क्रिया करते हुए वह सत्य को देख सकते हैं। उनका सारा जीवन ही सत्य की खोज था। इस दृष्टिकोण को अपनाने का फल यह होता है कि मनुष्य अपने मन को खुला रखता है, और दूसरों के विचारों को आरम्भ से ही अमान्य नहीं समझता। सत्य का पता लग जाय, तो मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह उसे ग्रहण करे; अपनी वाणी और कर्म में उसे व्यक्त करे। ऐसा करने में सबसे बड़ी बाधायें भय और आसक्ति होती हैं। गाँधी जी इन दोनों से मुक्त हो चुके थे। वह चाहते थे कि राजनोति में, जहाँ साध्य की चिन्ता में साधनों को ओर उदासीन वृत्ति बर्ती जातो है, सत्य को प्रधान स्थान दिया जाय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यवहार में वह अहिंसा के समर्थक थे। संकुचित अर्थों में, हिंसा को हत्या तक सीमित किया जाता है। विस्तृत अर्थ में इससे हर प्रकार की हानि, जो एक मनुष्य दूसरे की कर सकता है, समझी जाती है। आम तौर पर अहिसा का क्षेत्र नागरिकों का आपसी सम्बन्ध ही समझा जाता है। गांधी जी ने इसका क्षेत्र बहुत विशाल बना दिया, और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी इसका प्रयोग करने पर ज़ोर दिया। इसमें वह बहुत लोगों को अपने साथ मिलाने में समर्थ नहीं हुए।

उदारता और क्षमा वैयक्तिक जीवन में सराहनीय समझी जाती है; यह त्याग का प्रकटन है। परन्तु कई अवस्थाओं में मनुष्य व्यक्ति की स्थिति में नहीं, अपितु समाज के प्रतिनिधि की स्थिति में काम करता है। समाज का ढांचा न्याय पर खड़ा है। न्यायाधीश वा अन्य अधिकारी का काम यह देखना होता है कि समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए उसे क्या करना है। यथा संभव उसे अपने भाव को पीछे रखना होता है। उसके लिए 'नियम' प्रथम है।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में अहिंसा बहुत मूल्यवान है, परन्तु इसका प्रयोग तभी हो सकता है, जब दोनों पक्ष वा दल इसके लिए तैयार हों। ऐसी अवस्था न हो, तो अहिसा हिंसा की विजय ही बन जाती है।

वास्तव में बल का प्रयोग दो हालतों में हो सकता है:—

(१) दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए,

(२) दूसरे की हानि को रोकने के लिए।

पहली अवस्था में यह प्रयोग हिंसा है, और नैतिक दृष्टिकोण से निन्दनीय है। दूसरी अवस्था में, यह हिंसा को पराजित करना और अहिंसा के गौरव को बढ़ाना है। अपने जान माल और सम्मान की रक्षा के लिए बल का प्रयोग हमारा अधिकार ही नहीं; कर्त्तव्य भी है। गाँधी जी को मानव प्रकृति में इतना विश्वास था कि वह अपराधी को पर्याप्त अवकाश देने के पक्ष में थे, और समझते थे कि कभी न कभी अपराधी की आत्मा जाग्रत होकर, उसे ठीक कर देगी। अन्य पुरुष न तो इतनी प्रतीक्षा ही कर सकते हैं, और न ही समझते हैं कि ऐसा करना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वयं गाँधी जी भी अपनी धारणा से कुछ हिले। उन्होंने 'बलवान की अहिंसा' और 'निर्बल की अहिंसा' में भेद किया। बलवान अपने आप पर आक्रमण करने वाले पर प्रति-आक्रमण कर सकता है, परन्तु करता नहीं, क्योंकि वह अहिंसा में विश्वास करता है। निर्बल प्रत्याक्रमण का साहस ही नहीं कर सकता। वह कायर है। ऐसी अहिंसा से गाँधी जी हिंसा को उत्तम समझते थे। इसका अर्थ यही है कि गांधी जी साहस को अहिंसा से भी ऊँचा स्थान देते थे।

सत्य और अहिसा योग–दर्शन के पाँच 'यमों' में पहले दो यम हैं। शेष तीन यमों का प्रभाव भी गाँधी जी के जीवन पर बहुत था। इनका विवरण अगले अध्याय में होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

११. 'अष्टांग योग' और 'अष्टांग आर्य्य मार्ग'

पातंजलि और गौतम बुद्ध

अफ़लातूं ने अपनी पुस्तक 'गणतन्त्र-राज्य' में कई विषयों पर लिखा, जिन में नीति एक विषय है। अरस्तू ने इन विषयों पर अलग अलग पुस्तकें लिखीं। भारत में बहुधा अफ़लातूं का तरीका वर्त्ता गया है। नीति पर अनेक पुस्तकों में लिखा गया है, परन्तु नीति को ही स्वतन्त्र विषय बनाने वाले विचारक बहुत कम हुए हैं। इस अध्याय में हम पातंजलि और बुद्ध को लेंगे। पातंजलि का 'योगदर्शन' नीति पर दार्शनिक विवेचन है। बुद्ध ने अपने पीछे कोई लेख नहीं छोड़ा; वह भिक्षुओं और गृहस्थों को मौखिक उपदेश देता रहा। उसका काम सुकरात के काम से मिलता था। वह दार्शनिक नहीं था; उपदेष्टा था।

पातंजलि का 'अष्टांगयोग

१. 'योग' क्या है ?

साधारण भाषा में 'योग' का अर्थ 'संयोग' है। आत्मा का परमात्मा से संयोग जीवन का लक्ष्य कहा जाता है। एक वेद मंत्र में कहा है—'आत्मा पास बैठे हुए को देखता नहीं; पास बैठे हुए को छोड़ता नहीं'। पहले पास बैठे हुए से अभिप्राय परमात्मा है, दूसरे से प्रकृति है। आत्मा के क्लेशों का कारण यह है कि प्रकृति इसे जकड़ लेती है, और यह परमात्मा के अति निकट होने पर भी, उसे नहीं देखता। इस स्थिति से छूटने का सरल उपाय यह हैं कि आत्मा प्रकृति से अपने आप को अलग करे। इस दृष्टिकोण से देखें, तो 'योग' का अर्थ 'वियोग' (प्रकृति से अलग होना) है। एक तीसरे अर्थ के अनुसार, योग एक प्रकार का 'उद्योग' है, जो व्यक्ति अपने उत्थान के लिये करता है। वास्तव में योग में यह तीनों बातें आ जाती हैं। योग वह उद्योग है जो आत्मा परमात्मा से संयोग करने के लिये करता है, और जो प्रकृति से वियोग का रूप धारण करता है। योग एक कड़ा आत्म-अनुशासन है, जिसका उद्देश्य सिद्धि होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. योग के अंग

योग के आठ अंग हैं। इसीलिये इसे 'अष्टांग-योग' कहा जाता है। आठ अंग ये हैं:—

१. यम

२. नियम

३. आसन

४. प्राणायाम

५. प्रत्याहार

६. धारणा

७. ध्यान

८. समाधि

पहले दो अंग नैतिक अनुशासन हैं। यम के अन्तर्गत सामाजिक वृत्त आते हैं; नियम के अन्तर्गत वह कर्त्तव्य आते हैं, जिनका संबन्ध प्रायः वैयक्तिक जीवन से है। इन दोनों पर अभी कुछ विस्तार से कहेंगे।

मध्य के तीन अंगों का विशेष संबन्ध शारीरिक अनुशासन से है। आसन ऐसी स्थिति में बैठना है, जिसमें मन की एकाग्रता प्राप्त हो सके, और योग की क्रिया निर्विघ्न चल सके। प्राणायाम का उद्देश्य प्राणनिग्रह, अर्थात् साँस के आने जाने को शासन में रखना है, ताकि एकाग्रता में पूर्ण सफलता हो सके। प्रत्याहार मन की वृत्तियों को उन के विषयों से अलग करना है। इन तीनों साधनों के प्रयोग के पीछे, उन क्रियाओं का समय आता है जो प्रधानतया मानसिक हैं। ये तीन हैं– धारणा, ध्यान, और समाधि।

धारणा में मन को अनेक विषयों से हटा कर एक विषय पर लगाया जाता है। ध्यान धारणा की पूर्णता है। इसमें यत्न होता है कि जिस विषय पर मन लगा है, उसी पर लगा रहे। समाधि में जो अवस्था हो जाती है, उसमें व्यक्ति को अपनी सुध-बुध भी नहीं रहती। मनुष्य परमात्मा का चिन्तन करता है, तो उसमें ही पूर्ण रूप से विलीन हो जाता है।

हमारे लिये यहाँ योग के पहले दो अंग –यम और नियम– विशेष महत्व के हैं। योग दर्शन में, अधिक महत्व के ख़याल से, यमों का वर्णन नियमों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहले किया है। हम यहां नियमों को, जिनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन से है, पहले लेंगे।

३. 'नियम'

नियम पाँच हैं:—

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर–प्रणिधान।

शौच का सम्बन्ध स्वास्थ्य से है। हमारा जीवन अन्न, जल और वायु पर आधारित है। जो अन्न हम खाते हैं, उसका एक भाग रक्त में मिलकर शरीर के घटकों को स्वस्थ अवस्था में रखता है; जो भाग अपना काम कर चुका है, वा काम का है ही नहीं, वह शरीर के बाहर फेंक दिया जाता है। जल अपना काम करके मूत्र और पसीने के रूप में बाहर निकल जाता है। वायु की हालत में भी ऐसा ही होता है। जो कुछ अन्दर जाता है, वह स्वच्छ होता है, वा होना चाहिए; जो कुछ बाहर आता है, वह अन्दर से मैल को साथ ले आता है। स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है कि मैल के बाहर फेंकने में कोई बाधा न हो। इस के लिये जो कुछ किया जाता है, वह 'शौच' का साधन है। शौच वा स्वास्थ्य सुखी जीवन का प्रथम साधन है।

मानसिक प्रक्रियाओं में तीन प्रसिद्ध हैं– भाव, कृति, और ज्ञान। भाव के सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि इस की तृप्ति का भरोसा नहीं हो सकता। छिलनी को पानी से भरना उतना ही सुगम है, जितना भोगों से पूर्ण तुष्टि प्राप्त करना। एक कथन में यह भी कहा जाता है कि भोगों से तुष्ति प्राप्त करना ऐसा ही है, जैसा प्रचंड अग्नि को घी के छींटों से बुझाना है। तुष्टि का उपाय यही है कि मनुष्य पूरा यत्न करे, और इसका जो कुछ परिणाम होता है, उसे स्वीकार करे। इस वृत्ति को ही संतोष कहते हैं। कार्लाइल ने कहा है कि मनुष्य का सुख एक भिन्न में प्रकट हो सकता है:—

$$\frac{\text{प्राप्य पदार्थ}}{\text{माँगें}}$$

इस भिन्न की मात्रा बढ़ाने के दो उपाय हैं: एक यह कि अंश (प्राप्य पदार्थों) को बढ़ाया जाय; दूसरा यह कि हर (माँगों) को घटाया जाय। पहला उपाय बहुधा हमारे वश में नहीं होता; दूसरा हमारे वश में होता है। जीवन की तुष्टि में त्याग का बड़ा भाग है। त्याग संतोष का ही फल है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रिया का मानसिक पक्ष संकल्प है। संकल्प की दृढ़ता के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। यह अभ्यास ही तप है। इसका फल शरीर और मन की कठोरता है, जिससे मनुष्य हर प्रकार के खतरों और प्रलोभनों का मुकाबला कर सकता है। विलयम जेम्स ने कहा है कि प्रत्येक दिन कुछ तपस्या इसी लिये करनी चाहिये कि इसका करना न करने से अच्छा है। भारत की सभ्यता में तपस्या को गौरव का स्थान दिया गया है। व्यक्ति का जीवन जिन चार भागों में बाँटा गया है, उन्हें 'आश्रम' कहते हैं। 'आश्रम' का अर्थ ही 'श्रम का स्थान' है। मनुष्य की रचना श्रम से ही हुई है। श्रम और तप एक दूसरे से गठित हैं।

ज्ञान–प्राप्ति के दो प्रमुख साधन हैं: (१) अपना अनुभव और मनन, (२) दूसरों से सीखना। ज्ञान का बड़ा भाग दूसरों की देन होता है; और इन देने वालों में अधिक संख्या उन लोगों की है, जो अब विद्यमान नहीं, परन्तु अपने अनुभव और विचारों को लेखबद्ध करके हमारे लिये छोड़ गये हैं। उन से सीखने का एक मात्र उपाय स्वाध्याय है। शिक्षा का काम जन्म होते ही आरम्भ होता है, और जीवन भर जारी रहता है। इस शिक्षा में स्वाध्याय का स्थान प्रमुख स्थान है।

भाव, क्रिया और ज्ञान एक ही सत्ता की तीन प्रक्रियाएँ हैं। समस्त सत्ता अपने वातावरण की ओर क्या दृष्टिकोण अपना सकती हैं? धार्मिक वृत्ति का पुरुष अपनी ओर से पूरा यत्न करता है, परन्तु यह भी समझता है कि वह विश्व का तुच्छ भाग है, और इस की व्यवस्था में उसकी चेष्टाओं का स्थान केन्द्रीय स्थान नहीं। वह ईश्वर पर भरोसा करता है, और इस विश्वास के सहारे आगे बढ़ता जाता है। पाँचवाँ और अन्तिम नियम 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

४. 'यम'

अब यमों की ओर ध्यान दें। वास्तव में 'यम', 'नियम', 'संयम' एक ही अर्थ रखते हैं। योग की परिभाषा में 'यम' सामाजिक वृत्तों का नाम है। यह वृत्त क्या हैं? कर्त्तव्य और अधिकार साथ साथ चलते हैं। मेरा सामाजिक कर्त्तव्य यही है कि अन्य पुरुषों के अधिकारों का मान करूं। व्यक्ति के अधिकार, जिन्हें आम तौर पर स्वीकार किया जाता है, ये हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) जीवन का अधिकार

जो मनुष्य पैदा हुआ है, उसका अधिकार है कि वह जीता रहे। विशेष स्थितियों में, वह अधिकार का दुरुपयोग कर के इससे वंचित हो सकता है।

(२) सम्पत्ति का अधिकार

जीवन के निर्वाह के लिये जो सामग्री आवश्यक होती है, उसे आरंभ में इकट्ठा किया जाता है; पीछे उसका उत्पादन किया जाता है। हर हालत में, जो कुछ किसी पुरुष के श्रम का फल होता है, वह उसकी सम्पत्ति समझा जाता है। सम्पत्ति के प्रयोग का अधिकार दूसरा सामाजिक अधिकार है।

(३) 'इकरार' का अधिकार

सम्पत्ति के अधिकार में यह भी सम्मिलित है कि मालिक चाहे तो, दूसरी वस्तु के बदले, इसे दूसरे को दे सके। इस लेन देन में जो मुआयदा वा इकरार हो, उसे मान्य बनवाना व्यक्ति का तीसरा अधिकार है। सामाजिक जीवन में आवश्यक है कि सारे अपने इकरारों पर कायम रहें।

(४) सम्मान का अधिकार

सम्पत्ति की आवश्यकता प्रायः परिवार में होती है।

परिवार के प्रमुख उद्देश्य तीन हैं—

(क) लैंगिक उत्तेजन की स्थायी तृप्ति,

(ख) निश्चित गृह का होना,

(ग) बच्चों का पालन-पोषण।

गृहस्थ में मौलिक आवश्यकता यह है कि इसके सम्मान और इसकी पवित्रता पर कोई आक्रमण न हो।

(५) आर्थिक न्याय का अधिकार

आम समाज में यह भाव होना चाहिये कि व्यक्ति आप जिये, औरों को जीने दे। कोई पुरुष आर्थिक अन्याय का शिकार न हो।

इन अधिकारों का सम्मान कैसे हो सकता है ?

पहले अधिकार का सम्मान अहिंसा है।

दूसरे अधिकार का सम्मान चोरी न करना है।

तीसरे अधिकार का सम्मान सत्य-भाषण और सत्य-व्यवहार है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चौथे अधिकार का सम्मान इन्द्रिय-संयम है।

पाँचवें अधिकार का सम्मान लालच से बचना है।

योग दर्शन में पांच यमों का वर्णन है। वे ये हैं:—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (हर ओर से समेटने की चेष्टा न करना)।

यम और नियम सामाजिक और वैयक्तिक वृत्तों तथा कर्त्तव्यों की अच्छी सूची है।

गौतम बुद्ध का 'अष्टांग आर्य्य मार्ग'

१. सत्य की खोज

गौतम का जन्म एक क्षत्रिय घराने में हुआ। उसकी शिक्षा की बाबत कुछ नहीं कह सकते। जो कुछ उस समय किसी राजपुत्र को पढ़ाया सिखाया जाता होगा, वही उसे भी पढ़ाया सिखाया गया होगा। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जो कुछ 'बुद्ध' बनने के बाद उसने किया, उसके संबन्ध में उसने कुछ नहीं पढ़ा। २९ वर्ष की आयु में, उसने घर को छोड़ा, और साधारण साधु के रूप में इधर उधर भ्रमण किया। कुछ समय घोर तपस्या में भी गुज़ारा। इस अवस्था में एक दिन जंगल में उसके पास से गाने बजाने वालों की एक टोली गुज़री। उसमें एक युवती मधुर स्वर में एक गीत गा रही थी, जिसका अर्थ यह है:—

'जब सितार ठीक कसी हो, तो राग के साथ का नाच भी अच्छा होता है। सितार को न अधिक कसो, न थोड़ा कसो। ऐसा करने पर, हमारे नाच के साथ सुनने वालों के दिल भी नाचने लगेंगे।

यदि तार बहुत खींचा जाय, तो वह टूट जाता है। यदि वह ढीला रहे, तो सितार से शब्द ही नहीं निकलता, और राग बन्द हो जाता है। सितार को न बहुत अधिक कसो, न बहुत थोड़ा कसो।'

गाने वाले तो आगे निकल गये, परन्तु जाते जाते गौतम की आंखें खोल गये। उसे ख़्याल आया—'कई बार अनजान भी बुद्धिमानों को शिक्षा दे देता है। मैं अपनी सितार को इतना कस रहा हूं कि यह टूट जायगी, और इससे कोई राग न निकल सकेगा। मुझे तो कुछ काम करना था, और मैं अपने आपको मृत्यु के मुंह में झोंक रहा हूं।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गौतम वहां से उठा और एक बड़े वृक्ष के नीचे जा बैठा। उसने घोर तपस्या को निष्फल समझ कर जीवन–कार्य की बाबत सोचना आरंभ किया। उसी रात उसे प्रतीत हुआ कि उसे प्रकाश मिल गया है। उस बोध ने 'मित्र गौतम' को 'बुद्ध' बना दिया।

साधुओं में दार्शनिक विचार और योग–क्रिया दो प्रिय काम होते हैं। गौतम को दार्शनिक विचारों में बहुत दिलचस्पी न थी; योग क्रिया को उसने आलार कलाम से सीखा। घर से वैराग्य और विरक्ति के कारण निकला था। दरिद्रता, रोग, बुढ़ापे और मृत्यु के दृश्यों ने उसे सत्य की खोज के लिये प्रेरित किया था। अब उसे प्रतीत हुआ कि वह सत्य को साक्षात देख रहा है। वह सत्य क्या था ?

२. 'चार उत्कृष्ट सत्य'

बुद्ध ने अपने बोध को चार उत्कृष्ट सत्यों के रूप में वर्णन किया है। वे सत्य ये हैं:—

(१) संसार में दुख का अस्तित्व है। यह दुख जीवन का प्रमुख चिन्ह है—इतना प्रमुख कि इसने जीवन को दुखमय ही बना दिया है। जन्म दुख में होता है, जीवन दुख में व्यतीत होता है ; और जीवन का अन्त अति दुख–दायक है।

(२) इस दुख का कारण तृष्णा है। तृष्णा वर्त्तमान से असंतोष और किसी इष्ट अवस्था के लिये भटकना है। कोई मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता। एक कामना पूरी होने लगती है, और दूसरी प्रस्तुत हो जाती है। यह बखेड़ा आयु भर बना रहता है।

(३) इस स्थिति में ढारस देने वाली एक ही बात है, और वह यह कि रोग असाध्य नहीं। इस बात की संभावना है कि दुख की निवृत्ति हो जाये। मार्ग बहुत कठिन और लंबा है, परन्तु सान्त है। यत्न करता करता, मनुष्य कभी सफल हो ही जाता है।

(४) इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन 'अष्टांग मार्ग' पर चलना है। इसके लिये साधारण मनुष्य को बहुत लंबा समय चाहिये। स्वयं बुद्ध शिष्यों से कहता था कि उसने अगणित जन्म विविध योनियों में व्यतीत किये हैं, और अब अन्तिम जीवन व्यतीत कर रहा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर का विवरण बुद्ध का दार्शनिक मत है। 'अष्टांगमार्ग' उसकी नैतिक शिक्षा का वर्णन है।

३. 'अष्टांग आर्य्य मार्ग'

ऊपर कहा गया है कि गौतम ने, बोध से पूर्व, छः वर्षों के भ्रमण में आलार कलाम से योग-सिद्धान्त और योग-क्रिया की दीक्षा ली थी। वास्तव में, स्वतन्त्र विचार के अतिरिक्त, यही शिक्षा उस के धार्मिक ज्ञान की प्रमुख सामग्री थी। यह स्वाभाविक ही था कि वह योग के सिद्धान्त को अपनी शिक्षा का आधार बनाये, और उसने ऐसा ही किया; परन्तु, कुछ भेद के साथ। उसने निश्चय किया कि अपनी शिक्षा को नीति तक सीमित रखे, और नीति को धर्म और तत्व–ज्ञान से यथासंभव स्वतन्त्र रखे। जो कुछ नैतिक व्यवहार से प्रत्यक्ष रूप में संबद्ध नहीं, उस में उलझने को अनुचित समझा। दूसरे यह कि अपने कटु अनुभव के कारण शारीरिक तप पर जोर नहीं दिया।

बुद्ध ने अपने मत को 'अष्टांग आर्य्य मार्ग' का नाम दिया, क्योंकि वह कोई नई रचना करना नहीं चाहता था; प्राचीन शिक्षा का ही प्रसार करना चाहता था।

इस 'मार्ग' के अंग ये हैं—

(१) 'सत्य ज्ञान'

'सत्य ज्ञान' से अभिप्राय उन चार उत्कृष्ट सत्यों से है, जिन का ऊपर वर्णन हुआ है। किसी मार्ग पर चलने से पहले यह जानना आवश्यक है कि वर्त्तमान स्थिति में क्या त्रुटि है, और कहाँ जाना है।

(२) 'शिव संकल्प'

सारे वाचिक, कायिक और मानसिक प्रयत्न का आधार संकल्प है। साधक को शिव-संकल्प से आरंभ करना चाहिये।

(३) 'शुभ वचन'

शुभ वचन में बुद्ध ने तीन बातों पर बल दिया—

(क) जो कुछ कहें, सत्य कहें।

(ख) जो कुछ कहें, मधुर कहें; कटु वाणी का प्रयोग न करें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ग) जो कुछ कहें, कहने के योग्य हो। निरर्थक बातों से मौन बहुत मूल्यवान है। मौन को उसी हालत में त्यागना चाहिये, जब बोलने में कुछ लाभ हो।

(४) 'शुभ आचरण वा शील'

शील में पांच अंश हैं:—

(क) अहिंसा: किसी प्राणी को पीड़ा न देना, वा हानि न पहुँचाना।

(ख) दूसरे की वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना न लेना।

(ग) सत्य–भाषण।

(घ) इन्द्रियनिग्रह।

(ङ) मादक द्रव्यों का त्याग।

यह पंच-शील अष्टांग-मार्ग में दिए गये हैं। कहीं-कहीं इनमें से (१), (२) और (४) का ही वर्णन किया है, और कहीं (३) को इनके साथ मिला दिया है। आम तौर पर, शील को पंच-शील के अर्थ में ही लिया है।

(५) 'शुभ जीविका'

कमाई में पाप का अंश न हो।

(६) 'शुभ यत्न वा धारणा'

अच्छी और बुरी वासनाएँ मन में उठती ही रहती हैं। मनुष्य को अपनी धारणा को इतना प्रबल बनाना चाहिए कि वह बुरी भावनाओं को उठने न दे; और यदि उठें, तो उन्हें दबा सके। दूसरी ओर, अच्छी वासनाओं को पैदा करे, और जो प्रकट हो चुकी हों, उन्हें स्थिर रखे, और दृढ़ बनाए।

(७) 'ध्यान'

मनुष्य शरीर को मिश्रित और अनित्य समझे। सुख–दुख और शरीर-संबंधी कामनाओं से ऊपर उठे। स्वतंत्र रहे।

(८) 'समाधि'

इसकी पाँच मंजिलें हैं।

पहली मंजिल में किसी विशेष पदार्थ पर ध्यान लगाया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दूसरी मंज़िल में ऐसे विशेष पदार्थ का सहारा भी नहीं लिया जाता। इन दोनों अवस्थाओं में साधक का उत्साह और आनन्द बना रहता है।

तीसरी मंज़िल में उत्साह नहीं रहता, और पूरी उदासीनता प्राप्त हो जाती है। साधक संतुलित हो जाता है, और आनन्द अनुभव करता है।

चौथी मंज़िल में शान्ति और साम्यावस्था ही रह जाते हैं। ये चार मंज़िलें सब मनुष्यों के लिए हैं। इनसे गुज़र कर पांचवीं मंज़िल पर चलने वाला 'शिष्य' कहलाता था।

'अष्टांगमार्ग को 'अष्टांगयोग' के साथ देखें, तो पता लगता है कि—

(१) योग के अन्तिम तीन अंग बुद्ध की सूची में भी तीन अन्तिम अंग हैं। अर्थ में थोड़ा परिवर्तन किया गया है।

(२) 'पंच-शील' में योगदर्शन के पहले चार यमों–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य--को लिया है। नीति को धर्म से स्वतन्त्र करने के ख्याल से, पांचवें यम--ईश्वर-प्रणिधान–को छोड़ दिया है, और इसके स्थान में 'मादक द्रव्यों का त्याग' रख दिया है। बुद्ध की शिक्षा अधिकतर भिक्षुओं के लिए थी। संभव है उस समय भी, आजकल की भांति, साधुओं में गाँजा, चरस आदि का प्रयोग बहुत होता हो, और बुद्ध ने इनकी विशेष मनाही की हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१२. भगवद्गीता का कर्म योग

१. भगवद्गीता की बनावट

संस्कृत साहित्य में भगवद्गीता संभवतः प्रिय-तम पुस्तक है। इसके अठारह अध्याय हैं। सारी पुस्तक तीन भागों में बांटी जा सकती है। पहले भाग में नीति प्रमुख विषय है; दूसरा भक्ति के साथ विशेष संबन्ध रखता है; और तीसरे में दार्शनिक विचार प्रधान हैं। हमारा संबन्ध यहाँ गीता की नैतिक शिक्षा से है। गीता श्रीकृष्ण और अर्जुन का सम्वाद है, जिसमें श्रीकृष्ण का उपदेश प्रधान है; युक्ति कहीं कहीं आ जाती है। 'योग' और 'सांख्य' की ओर स्पष्ट संकेत है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन शब्दों से वही सिद्धान्त अभिप्रेत हैं, जो इस समय इन दोनों दर्शनों में मिलते हैं। बौद्ध विचारों की ओर भी संकेत होता है। गीता उपनिषदों के रंग में रँगी हुई है; कुछ लोग तो इसे उपनिषदों का निचोड़ भी कह देते हैं।

२. नीति का प्रश्न उठता कैसे है?

गीता का पहला अध्याय एक तरह से विषय-प्रवेश है। मानव प्रकृति में अनेक उत्तेजनाएं और इच्छाएं काम करती हैं। जिस समय एक ही उत्तेजन प्रकट हो, वह अपने आप को कार्य-रूप दे देता है, क्योंकि उसके मार्ग में कोई रुकावट नहीं होती। जब एक से अधिक उत्तेजन एक साथ प्रकट हो जायें, तो वह मनुष्य को विपरीत दिशाओं में खींचते हैं। कभी तो ऐसा होता है कि वह आपस में निपटारा कर लेते हैं, और अधिक बलवान उत्तेजन कार्य-रूप धारण कर लेता है। कभी ऐसा भी होता है कि बुद्धि इन उत्तेजनों की जांच के लिये आगे आती है, और निश्चय उनकी शक्ति पर नहीं, अपितु उनके मूल्य पर होता है। ऐसी अवस्था में कर्म अनैतिक स्तर से उठ कर नैतिक स्तर पर जा पहुंचता है। भगवद्गीता ने ऐसी स्थिति से ही आरंभ किया है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में पांडवों और कौरवों की सेनाएं युद्ध के लिये तैयार खड़ी थीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ला खड़ा किया। युद्ध के बिगुल बजने लगे। अर्जुन ने दोनों सेनाओं पर दृष्टि डाली, और धनुष को हाथ से रख दिया; और कहा कि वह युद्ध करने के लिये तैयार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। प्रथम तो यह कहना ही कठिन है कि युद्ध का परिणाम क्या होगा। यह भी समझ लिया जाय कि जीत पांडवों की ही होगी, तो भी इस जीत के लिये जो कीमत देनी होगी, वह निस्सीम है। दोनों ओर निकट संबन्धी इकट्ठे हुए हैं। इनका रक्त बहा कर राज्य प्राप्त करना बुद्धिमत्ता नहीं। 'कुल का नाश होने से कुल का सनातन धर्म नष्ट हो जाता है, और कुल–धर्म के नष्ट होने से अधर्म कुल को अपने पंजे में पकड़ लेता है।··· जिन लोगों का कुल–धर्म नष्ट हो जाता है, उनका वास नरक में होता है।'

अर्जुन को राज्य की इच्छा एक ओर खींचती थी; रक्त संबन्ध दूसरी ओर खींचता था। इस स्थिति ने उसे संशयात्मा और अशान्त बना दिया, और उसके लिये एक नैतिक समस्या खड़ी कर दी। श्रीकृष्ण का सारा उपदेश इस गुत्थी को सुलझाने का यत्न ही है। गीता की नैतिक शिक्षा यही है कि जहाँ एक से अधिक प्रेरक विद्यमान हों, वहां कर्त्तव्य और केवल कर्त्तव्य का ही अधिकार है कि हमारा नेतृत्व करे। शेष किसी प्रेरक की तुलना कर्त्तव्य से नहीं हो सकती। तुरन्त हमारे सम्मुख प्रश्न आता है कि कर्त्तव्य क्या है, और इसका ज्ञान कैसे होता है।

३. 'कर्म,' 'अकर्म', और 'विकर्म'

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा :—

'कर्म क्या है, और अकर्म क्या है ? इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं। मैं तुम्हें कर्म की बाबत बताऊंगा, जिसे जान कर तुम अशुभ वा बुराई से छुटकारा पा लोगे।

कर्म का स्वरूप जानना चाहिये, और अकर्म का स्वरूप जानना चाहिये। इसके साथ, विकर्म (निषिद्ध कर्म) की बाबत भी जानना चाहिये। कर्म की गति बहुत दुर्गम है।'

(४: १६–१७)

इस प्रश्न में 'कर्म' का स्थान विशेष महत्व का है। कर्म के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आरम्भ करें।

भगवद्गीता के अनुसार, प्रत्येक कर्म पाँच कारणों वा हेतुओं का फल होता है। वे पांच हेतु ये हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) अधिष्ठान वा आधार
(२) कर्त्ता
(३) अनेक प्रकार के करण वा हथियार
(४) नाना प्रकार की न्यारी न्यारी चेष्टाएँ
(५) दैव

(१८:१४-१५)

कोई कर्म शून्य में नहीं होता। यह किसी वातावरण में होता है। हमारा शरीर इस वातावरण का महत्वपूर्ण भाग है: हमारे लिए तो यह केन्द्रीय भाग ही है। यह कर्म का अधिष्ठान वा आधार है। कर्म का दूसरा हेतु कर्त्ता है। प्रकृतिवाद चेतना-धारा में तो विश्वास करता है, परन्तु इसके अतिरिक्त किसी चेतन पदार्थ को स्वीकार नहीं करता। भगवद्गीता का दृष्टिकोण इस विचार के विरुद्ध है। ज्ञान के लिये ज्ञाता की, और कर्म के लिए कर्त्ता की आवश्यकता है। कर्त्ता कर्म में अनेक प्रकार के करण वर्तता है। पशु–पक्षी अपने अंगों का ही प्रयोग करते हैं; मनुष्य अनेक प्रकार के करण बनाता है, और उनका प्रयोग करता है। मैं यह लेख कुर्सी पर बैठा लिख रहा हूँ। कागज, पुस्तक, स्याही की शीशी मेज़ पर पड़ी हैं। वस्त्र पहने हूँ, ऐनक लगाये हूँ। इनमें से कौन सी वस्तु मनुष्य का बनाया हुआ करण नहीं? अनेक प्रकार के करणों में हम प्रत्येक अवस्था में चुनते हैं। यह चुनाव हमारी चेष्टाओं पर निर्भर होता है। प्राकृत जगत में जो कुछ होता है, नियम के अनुसार होता है; वहां तो चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। पशुओं की हालत में नैसर्गिक उत्तेजन निश्चय करते हैं। जो मार्ग वह अपनाते हैं, उससे विविध मार्ग पर जा ही नहीं सकते। मनुष्यों के कर्म का चौथा हेतु 'चेष्टा' है। पाँचवां और अन्तिम हेतु 'दैव' है। यह 'दैव' क्या है?

जब हम कुछ करने लगते हैं, तो हम अन्य कारणों को आदेश नहीं दे सकते कि वह अलग होकर बैठ जायँ। वह भी क्रिया में लगे रहते हैं। हम कारणों में एक कारण हैं। फल के उत्पादन में अनेक कारण सम्मिलित होते हैं। इसे 'कारण का मिश्रण' कहते हैं। भगवद्गीता में 'दैव' शब्द से इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। इसी मर्म को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझाने के लिए गीता में कहा है कि 'कर्म में तो हमारा अधिकार है, परन्तु कर्म-फल में हमारा अधिकार नहीं।' इस फल के निश्चय करने में अन्य कारणों का भी हाथ है।

इस विश्लेषण में भगवद्गीता ने दो मतों को अस्वीकार किया है—

(१) सारे कार्य प्राकृत नियम के अधीन होते हैं, और कर्त्ता वा उसकी चेष्टाओं का अस्तित्व कल्पना मात्र ही है। स्वाधीनता एक भ्रांति है।

(२) मानव की स्वाधीनता अबाध्य है। उसकी क्रिया में कोई वाह्य आक्षेप नहीं होता।

श्रीकृष्ण ने कहा कि कर्म के साथ विकर्म के स्वरूप को भी जानना चाहिए। विकर्म का अर्थ निषिद्ध कर्म है। हम बहुधा कर्मों को अच्छे और बुरे कर्मों में बांटते हैं। तनिक विचार भी बता देता है कि शायद ही कोई कर्म पूर्णतया अच्छा वा बुरा होता हो। जो कर्म हम करते हैं, उनमें शुभ और अशुभ दोनों मिले होते हैं। भगवद्गीता में इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। गीता में कहा है—'जिस प्रकार धुएं से अग्नि ढकी रहती है, उसी प्रकार सारे कर्म दोष से आच्छादित होते हैं।'

इस तथ्य की स्वीकृति एक कठिन समस्या खड़ी कर देती है। यदि प्रत्येक कर्म में अशुभ का अंश विद्यमान है, तो जहां तक हो सके, कर्म से परे रहना ही अच्छा है। इसी तरह हम दोष से बच सकते हैं। भारत में साधुओं की एक बड़ी संख्या 'कर्म' को दूषित और दूषक समझ कर 'अकर्म' को अपना लक्ष्य बनाती है। गीता इस विचार को अमान्य कहती है, और इसके लिए दो हेतु देती है:—

(१) किसी पुरुष के लिए, क्षण भर भी बिना कर्म किये रहना संभव ही नहीं। क्रिया जीवन का अनिवार्य चिन्ह है।

(२) अकर्मण्यता संभव भी हो, तो कायरता है। हम सब को जो अवसर मिला है, उसका प्रयोग करना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर्म–सन्यास नहीं, कर्म-फल–त्याग जीवन का लक्ष्य है। जो पुरुष आसक्ति से मुक्त होकर काम करता है, उसकी हालत में कर्म और अकर्म एक ही हैं।

४. गीता का अनासक्ति-योग

गीता की नैतिक शिक्षा का तत्व यही है कि मनुष्य जो कुछ करे, कर्त्तव्य के भाव से करे। इस प्रकार के यत्न में आसक्ति सबसे बड़ी बाधा है। आसक्ति दो प्रकार की होती है : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष । प्रत्यक्ष आसक्ति में जो कुछ हम करते ह, वह अपने आप में आकर्षक होता है; अप्रत्यक्ष आसक्ति में, क्रिया के परिणाम में अनुराग होता है, स्वयं क्रिया में नहीं होता। जो लोग नाट्यघर में खेल देखने जाते हैं, उनके लिये सुन्दर दृश्य और मधुर राग मनोरंजक हैं। नाटक खेलने वालों को प्रतिदिन वही खेल खेलने होते हैं। उनके लिये खेल का मूल्य उस धन में है, जो उन्हें वेतन के रूप में मिलता है, और जिससे वह अपने लिये भोग के सामान खरीद सकते हैं। आसक्ति वर्त्तमान अनुराग और कर्म–फल के अनुराग के रूपों में प्रकट होती है। गीता की नैतिक शिक्षा का सार यह है कि मनुष्य 'संग' और कर्म–फल से मुक्त होकर कर्त्तव्य को कर्त्तव्य की भावना से करे।

इस विषय में गीता के दृष्टिकोण और कांट के दृष्टिकोण में अद्भुत समानता है। कांट भी कहता है कि कर्त्तव्य कर्म वही है, जो कर्त्तव्य की भावना से किया जाये। अन्य प्राणी नियम के अनुसार काम करते हैं; केवल मनुष्य ही नियम के प्रत्यय के अनुसार काम कर सकता है। ऐसे कर्म में दो बाधाएँ पड़ती हैं : एक यह कि भाव बीच में कूद पड़ता है, और बुद्धि को पथ-प्रदर्शन करने नहीं देता; दूसरी यह कि हम, कर्म से दृष्टि हटा कर, कर्म-फल की ओर देखने लगते हैं। कर्त्तव्य कर्म वही है जिसमें भाव और फल--चिन्तन का दख़ल न हो।

५. अन्तिम उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधन

कांट के सिद्धांत पर आलोचकों ने आक्षेप किया कि यह आकृति–मात्र है; इसमें सामग्री कुछ नहीं। कांट यह तो कहता है कि प्रत्येक कार्य को कर्त्तव्य की भावना से करना चाहिये, परन्तु यह नहीं बताता कि करें क्या, और किस प्रयोजन से करें। कांट ने अपने दूसरे सूत्र में 'मानवता' को अन्तिम उद्देश्य बताया। अब तक जो कुछ गीता ने हमें कहा है, वह भी आकृति मात्र ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है– हम अपने कार्यों को आसक्ति से मुक्त, कर्त्तव्य के भाव से करें। परन्तु यह नहीं बताया कि क्या करें, और किस प्रयोजन से करें। गीता इनकी बाबत भी बताती है। पहले प्रयोजन को लें।

प्रतीत तो ऐसा होता है कि हमारी कामना का विषय विविध पदार्थ होते हैं; हम उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु तनिक विचार भी बता देता है कि वास्तव में सारी इच्छाएं स्वत्व के लिये होती हैं; अपनी तुष्टि ही प्रयोजन होता है। उद्देश्य किसी बाह्य पदार्थ का प्राप्त करना नहीं, अपितु अपनी अवस्था को विशेष रूप देना होता है। प्रश्न यह है कि कौन सी अवस्था नैतिक दृष्टि से वांछनीय है। भगद्गीता के अनुसार, शान्ति, संतुलन वा साम्यावस्था हमारा ध्येय है। यही भारत में विचारकों की आम राय है। यह शान्ति वा साम्यावस्था कैसे प्राप्त होती है?

कुछ लोगों का विचार है कि सारी आपत्ति का कारण शारीरिक भोगों की लालसा है। इसे समाप्त वा निर्बल करने के लिये शरीर पर कड़े नियन्त्रण की आवश्यकता है। इस नियन्त्रण के लिये निरन्तर तप वा अभ्यास अच्छा उपाय है। यह प्रत्येक साधक के वश में है। अभ्यास के लिये किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं। जो लोग, शान्ति की खोज में, गृहस्थ को छोड़कर सन्यास में प्रवेश करते हैं, उनकी अधिक संख्या अभ्यास को ही अपना साधन बनाती है। बहुतेरों के लिये तो अभ्यास साधन के स्थान में साध्य ही बन जाता है।

विचारकों की दूसरी श्रेणी कहती है कि आपत्ति का मूल अविद्या है। जब तक अविद्या दूर नहीं होती, शान्ति का प्राप्त होना असंभव है। यह प्रायः दार्शनिकों का मत है। बुद्ध ने घोर तपस्या से आरंभ किया। जब अनुभव ने इस विचार की पुष्टि न की, तो ठीक वैज्ञानिक क्षण पर एक गायिका के गीत ने उसका ध्यान 'ज्ञान' की ओर मोड़ दिया। बोध होने पर उसने ज्ञान पर बल देना आरंभ कर दिया। 'अष्टांगमार्ग' में प्रथम स्थान 'सत्य ज्ञान' को दिया, और तपस्या संबंधी योग के अंगों को छोड़ दिया। सुकरात ने भी विद्या और वृत्त को एक ही बताया।

पातंजलि ने 'ज्ञान' से अधिक महत्व 'ध्यान' को दिया। अष्टांग योग के अन्तिम तीन अंग धारणा, ध्यान, और समाधि हैं। इस विचार के अनुसार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मस्तिष्क का प्रकाश नहीं, अपितु चित्त की एकाग्रता सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बुद्ध के 'अष्टांगमार्ग' में भी 'सत्य-ज्ञान' आरंभ है, और 'समाधि' अन्त है।

भगवद्गीता अभ्यास, ज्ञान, और ध्यान का मूल्य स्वीकार करती है, परन्तु इनसे अधिक महत्व निष्काम कर्म को देती है। शान्ति प्राप्त करने के लिये आवश्यक नहीं कि मनुष्य सांसारिक कामों को छोड़ कर बनों वा पर्वतों में जा बैठे, और अभ्यास वा ज्ञान-ध्यान में अपना सारा समय व्यतीत करे। अपने आप में कर्म बुरा नहीं ; यह अकर्म से अच्छा है। कर्मों का भेद उस भावना पर निर्भर है, जिससे प्रेरित हो कर वह कर्म किये जाते हैं। आसक्ति से मक्त हुआ अध्यापक, क्लर्क, वकील, धोबी, लेखक—सारे कर्मयोगी कहला सकते हैं। गीता में कहा है—'अभ्यास से ज्ञान उतम है ; ज्ञान से ध्यान उत्तम है ; ध्यान से भी बढ़कर कर्म-फल का त्याग है। जब यह त्याग जीवन में आ जाय, तो बिना अन्तर के शान्ति प्राप्त हो जाती है।'

(१२:१२)

६. 'स्वधर्म' ही श्रेय है।

दीखता तो यही है कि हम सब एक वातावरण में रहते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं। योग्यता, रुचि और स्थिति के भेद के कारण, समस्त वातावरण के विविध भाग हमारा वातावरण बनते हैं। प्रत्येक मनुष्य का कार्य-क्षेत्र सीमित होता है। उसकी सफलता और असफलता इन सीमाओं के अन्दर ही होती है। समाज के हित में यह श्रम-विभाजन बहुत महत्व रखता है। गीता में इस विभाजन पर बहुत जोर दिया है। नवीन विचारकों में ब्रैडले ने भी ऐसा ही किया है। प्रत्येक का कार्य उसकी योग्यता पर और संभव अवसरों पर निर्भर होना चाहिये। जब उसका कार्य निश्चित हो जाय, तो फिर उसके लिये यही उचित है कि वह अपने काम को, अपने लिये, सर्वश्रेष्ठ समझे। यह सफलता की कुंजी है। गीता में कहा है:—

'अपना कर्त्तव्य पालन करना श्रेष्ठ है, चाहे वह दूसरों के कर्म की अपेक्षा उच्चकोटि का न हो। अपना कर्त्तव्य करते हुए, जीवन व्यतीत कर देना अच्छा है ; दूसरे के कर्त्तव्य को अपनाना भय का देने वाला है।'

(३: ३५)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

७. 'विधि' और 'निषेध'

अशान्ति का प्रमुख कारण विषयों का प्रभुत्व है। इन विषयों में काम, क्रोध और लोभ बहुत बलवान समझे जाते हैं। क्रोध काम पर आधारित होता है। जब कोई कामना पूरी नहीं होती, तो हम क्रुद्ध होते हैं, और बाधा को मार्ग से हटाने के लिये जो कुछ हो सकता है, करते हैं। क्रोध का प्रकटन तोड़–फोड़ वा विनाश में होता है। काम में बुद्धि को आक्षेप का अवसर ही नहीं मिलता; लोभ में यह विषय की दासी बन जाती है। इसलिये कुछ विचारक लोभ को काम से भी अधम अवस्था समझते हैं। भगवद्गीता में काम, क्रोध और लोभ को 'नरक–द्वार' कहा गया है। इटेली के प्रसिद्ध कवि डैंटे ने नरक–गामियों को तीन श्रेणियों में बांटा है। पहली श्रेणी में वह लोग हैं, जो कामातुर होने के कारण नरक में पहुँचे हैं। मध्यभाग में वह लोग हैं, जिन्हें हिंसा ने वहां पहुँचा दिया है। सबसे नीचे के भाग में अधमाधम श्रेणी के अपराधी डाले गये हैं, जिन्होंने लोभ में आकर पतित से पतित काम भी कर दिया। संभवतः डैन्टे जूडस को, जिसने अपने गुरू श्री ईसा को ३० मुद्रा के लिये पकड़वा दिया था, सबसे पतित पुरुष दिखाना चाहता था। कुछ भी हो, भगवद्गीता और डैन्टे के विचारों में विचित्र समानता है। दोनों भयंकर पापों की एक ही सूची देते हैं, और उन्हें एक ही क्रम में रखते हैं।

भगवद्गीता में तीन प्रशस्त कर्मों का विशेष रूप से जिक्र किया गया है। ये तप, दान और यज्ञ हैं। तप का संबन्ध वैयक्तिक जीवन से है। भगवद्गीता के अनुसार तप के तीन रूप हैं—

(१) तामस तप : यह अपने आपको निरर्थक पीड़ा देना है, वा दूसरे की हानि के लिये किया जाता है।

(२) राजस तप : यह अपने अस्थायी हित के लिये किया जाता है।

(३) सात्विक तप : इसमें फल की इच्छा नहीं होती। ब्रह्मचर्य, गुरु–सेवा आदि शरीर संबन्धी तप हैं; सत्य-भाषण और भजन–कीर्तन आदि वाणी के तप हैं; शान्त भाव, संयम, भाव की पवित्रता आदि मन के तप हैं।

नैतिक दृष्टि से सात्विक तप ही तप कहलाने के योग्य हैं।

दान और यज्ञ का संबन्ध सामाजिक जीवन से है। दोनों हालतों में व्यक्ति अपने आपको दूसरों में मिला देता है। भेद इतना ही है कि दान में किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेष मनुष्य की पीड़ा को दूर किया जाता है, और यज्ञ में जन समूह के हित के लिये त्याग किया जाता है। जब कोई पुरुष हवन-यज्ञ करता है, तो वह यह नहीं देखता कि वायुमंडल के संशोधन से किसे लाभ पहुँचेगा। विस्तृत अर्थों में परोपकार के सारे काम यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें उद्देश्य प्रायः समूह का कल्याण होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चौथा भाग

नीति व्यवहार में

१. व्यक्ति और समाज

१. प्रत्ययों का आशय

व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने से पहले आवश्यक है कि हम इन दोनों प्रत्ययों के आशय को समझें।

जो पदार्थ अन्य पदार्थों से अलग है, उसे व्यक्ति कह सकते हैं। इसके लिये यह जानना आवश्यक होता है कि उस पदार्थ की सीमाएं कहाँ तक जाती हैं। इस ज्ञान के साथ हम पदार्थों की गिनती कर सकते हैं। मनुष्यों की बनाई वस्तुओं में इस सम्बन्ध में कठिनाई नहीं होती। प्रत्येक ईंट अन्य ईंटों से अलग है; प्रत्येक कुर्सी अन्य कुर्सियों से अलग है। प्राकृत पदार्थों में यह भेद करना इतना सुगम नहीं होता। पर्वतों में घूमते हुए हम यह नहीं कह सकते कि जो कुछ हम सामने देखते हैं, एक पहाड़ है, वा कई पहाड़ियों का समूह है। जो मेघ एक दीखता है, वह तुरन्त दो तीन मेघों में बँट जाता है। ऐसा हुआ है, वा पहले ही कई मेघ पास पास स्थित थे? वृक्षों की अवस्था में भी सन्देह हो जाता है कि हम एक वृक्ष के दो भागों को देखते हैं, वा दो साथी वृक्षों को। मनुष्यों की हालत में यह सीमाएं ऐसी निश्चित होती हैं कि उनकी बाबत भ्रम हो ही नहीं सकता। अन्य पदार्थों की अपेक्षा मनुष्यों में एक दूसरे से बहुत भेद होता है। मैं १०,००० चित्रों में अपने चित्र को पहचान सकता हूँ। इसी प्रकार का भेद मानसिक क्षेत्र में भी है। इसका बड़ा कारण मनुष्य का दीर्घ बाल्य है। घोड़ा चार वर्ष की आयु में पिता बन सकता है; मनुष्यों को २१ वर्ष की आयु तक बालक ही समझा जाता है। इतने लंबे बचपन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में मनुष्य बहुत कुछ सीख सकता है। इसका परिणाम यह है कि एक बिन्दु से चलने वाले बच्चे भी एक ही मार्ग पर, और एक ही गति से नहीं चलते, और अपना अपना व्यक्तित्व बना लेते हैं। मानसिक व्यक्तित्व का आवश्यक चिन्ह इसका अनोखापन है। कोई दो पुरुष १०० प्रतिशत एक दूसरे के समान नहीं होते। सामाजिक जीवन में इस विलक्षणता का बहुत महत्व है।

समाज क्या है ?

समाज व्यक्तियों का समुदाय है। कितने व्यक्तियों का ? इसके सम्बन्ध में मतभेद है। आगस्ट काम्ट के मतानुसार समाज में सारे जीवित मनुष्य, चाहे वह कहीं हों, सम्मिलित हैं। आम विचारक इसे इतने विस्तृत अर्थ में नहीं लेते। प्राचीन यूनानी समाज को राष्ट्र के अर्थ में लेते थे। जो लोग एक राज-नियम के अधीन हैं, वह इस विचार के अनुसार एक समाज हैं। अब समाज और राष्ट्र में भेद किया जाता है। राज-नियम न हो, तो भी मनुष्य सामाजिक संबन्ध में हो सकते हैं। सामाजिक जीवन का तत्व चेतन प्राणियों का पारस्परिक संबन्ध है। २००० मनुष्य पर्वतों की कंदराओं में, किसी प्रकार के सम्पर्क के बिना, निकट रहते हुए भी समाज नहीं बनाते। जहां मार्ग पर चलता हुआ एक मनुष्य दूसरे से मार्ग की बाबत पूछता है, वहाँ सामाजिक जीवन प्रकट हो जाता है। किसी व्यक्ति-समूह के समाज बनने के लिये तीन बातों की आवश्यकता है —

(१) उन में दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का अदल-बदल हो।

(२) उन में सेवाओं का अदल-बदल हो।

(३) उन में विचारों का अदल-बदल हो।

वस्तुओं का अदल-बदल आवश्यक है, क्योंकि कोई मनुष्य अपने लिये सारी वस्तुएं बना नहीं सकता।

सेवाओं का अदल-बदल आवश्यक है, क्योंकि कोई पुरुष कुछ दिये बिना कुछ ले नहीं सकता।

विचारों का अदल-बदल सांझे उद्देश्यों के निश्चित करने के लिये आवश्यक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. सहयोग और संघर्ष

यह तीन प्रक्रियाएं सहयोग के रूप हैं। सहयोग दो प्रकार का होता है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष सहयोग में, एक प्रकार का काम मिलकर किया जाता है। दस श्रमिकों को कहा गया है कि वह कुछ शहतीरों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा दें। प्रत्येक श्रमी के लिये संभव है कि वह अपना काम आप ही करे। यह भी संभव है कि वे मिल कर सारे काम को करें। यह सहयोग उनके काम को सुगम बना देता है। अप्रत्यक्ष सहयोग में सारे एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये काम करते हैं, परन्तु उनको क्रिया समान नहीं होती। कारखानों में जो काम होता है, वह ऐसे सहयोग से होता है। जूतों का एक जोड़ा बनाने के लिये दरजनों कारीगर काम करते हैं। सभ्यता के विकास के साथ, अप्रत्यक्ष सहयोग प्रभुत्व प्राप्त करता जाता है।

सहयोग के साथ संघर्ष भी सामाजिक जीवन में विद्यमान है। बहुत कम लोग हैं जो दूसरों के प्रति उदासीनता की वृत्ति रख सकते हैं। प्रकृति की दुनिया में आकर्षण और विकर्षण साथ साथ चलते हैं। इसी तरह मानव प्रकृति में राग और द्वेष सहयोग और संघर्ष को उत्पन्न करते हैं। सहयोग की तरह संघर्ष भी दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष संघर्ष में, प्रत्येक अपने विरोधी को पछाड़ने का स्पष्ट रूप में प्रयत्न करता है। चुनाव लड़ने वाले एक ही वस्तु को पसन्द करते हैं। चूंकि वह वस्तु बांटी नहीं जा सकती, उन में संघर्ष होता है। अप्रत्यक्ष संघर्ष में, जो कुछ एक चाहता है, वह दूसरे के लिये अनिष्ट है। ऐसे संघर्ष का एक प्रसिद्ध उदाहरण आर्थिक मुकाबला है। इस मुकाबले में व्यक्ति नहीं, उनके हित आपस में लड़ते हैं। संभव है व्यक्ति एक दूसरे को जानते ही न हों, वा एक दूसरे से साधारण मित्रों की तरह मिलते हों।

समाज मनुष्यों का समूह है, जिस में आम प्रयोग की वस्तुओं, सेवाओं और विचारों का अदल-बदल होता है; जिसके सांझे जीवन के लिये सहयोग आवश्यक है, परन्तु इस सहयोग के साथ संघर्ष भी प्रस्तुत हो जाता है।

३. समाज का निर्माण और विकास

व्यक्ति की उत्पत्ति की बाबत तो हम सब जानते हैं; समाज का सर्जन कैसे होता है ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर कहा गया है कि समाज में सहयोग और संघर्ष दोनों प्रस्तुत हैं। आज तो ऐसा है; परन्तु क्या यह सदा ऐसा ही था ? यह प्रश्न हमें समाज के निर्माण की वाबत विचार करने की प्रेरणा करता है।

एक विचार के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य अपने अर्थ वा हित को ही देखता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक को दूसरों से भय रहता है। हरेक समझता है कि यदि वह दूसरों पर आक्रमण करने में पहल न करेगा, तो उनमें से कोई उस पर आक्रमण कर देगा। सुकरात के समय में साफ़िस्टों ने यह विचार प्रस्तुत किया। उनके एक विख्यात कथन के अनुसार, 'व्यक्ति ही सब चीजों का मापक है।' 'मनुष्य' नहीं, 'प्रत्येक मनुष्य' मापक है। जो कुछ मेरी ज्ञान-इन्द्रियाँ मुझे बताती हैं, वह मेरे लिये सत्य है; जो कुछ मेरे लिये सुखदायी है, वही मेरे लिये भद्र वा शुभ है। यह विचारधारा उस समय की अव्यवस्थित दशा को प्रकट करती थी। नवीन काल में टामस हाब्स ने कहा कि प्राकृत अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का वैरी था, और अपना हित ही उसके लिये अकेला नियम था। इस असह्य अवस्था को समाप्त करने के लिये मनुष्यों ने समझौता किया कि वह 'जियो और जीने दो' के नियम पर आचरण करेंगे। इस समझौते के फलस्वरूप समाज का निर्माण हुआ, और शुभाशुभ, न्यायान्याय के भेद की व्यवस्था की गई। इस विचार को 'मुआयदा वा समझौता का सिद्धान्त' कहते हैं। आरंभ में संवर्ष का राज्य था; समझौता करके लोगों ने सहयोग को उसका स्थान देना चाहा, परन्तु इस में पूर्णतया सफल नहीं हुए। दोनों ही स्वार्थ के प्रकटन हैं।

दूसरा विचार मुआयदा के सिद्धांत के बिल्कुल प्रतिकूल है। इसके अनु-सार समाज निर्मित वस्तु नहीं, अपितु जीवित पदार्थ है। जो स्थिति मनुष्य के शरीर में किसी घटक की है, वही समाज में व्यक्ति की है। जो स्थिति शरीर में किसी अंग की है, वही समाज में किसी वर्ग की है। इस विचार को समाज का 'संघात-सिद्धांत' कह सकते हैं। इसके अनुसार समुदाय प्रमुख है; व्यक्ति गौण है। इस विचार का प्रसिद्ध समर्थक अफ़लातूं है। समाज साध्य है, नागरिक साधन है। जो कुछ समाज के हित में है, वही व्यक्ति के लिय भी भद्र है; जो कुछ समाज के लिये हानिकारक है, वही अशुभ वा अभद्र है। अफ़लातूं ने इस नियम के लागू करने में भाव को कोई स्थान नहीं दिया। समाज में केन्द्रीय समूह परिवार है, और इसका प्रमुख

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चिन्ह यह है कि प्रत्येक परिवार कुछ वस्तुओं को अपनी सम्पत्ति बनाता है। अफ़लातूं के विचार में मेरे–तेरे का भेद समाज की एकता में सबसे बड़ी बाधा है, और इसलिए उसने आदर्श गण–राज्य में परिवार और सम्पत्ति दोनों को समाप्त कर दिया। सम्पत्ति भी सांझी, और पत्नियाँ भी सांझी। पैदा होते ही सारे बच्चे राज्य की देख–रेख में पलें; न वह माता पिता को जानें, न माता पिता उन्हें जानें। सारे बालक बालिकाएं राज्य की सन्तान समझी जाएं।

एक तीसरा सिद्धांत इन दोनों सिद्धान्तों की कठिनाइयों से बचता और इनका मेल कराने का यत्न करता है। यह 'मनोवैज्ञानिक वा सांस्कृतिक सिद्धान्त' है। मुआयदा–वाद के समर्थक समझते थे कि जब पहले जो कुछ हुआ है, समझौते से हुआ है, तो अब भी यह मार्ग खुला है। वह समाज में परिवर्तन को बहुत सुगम समझते थे। इसके प्रतिकूल, संघात–वाद के समर्थक व्यक्ति के महत्व को बहुत कम करते थे, और परिवर्तन को बहुत कठिन बताते थे। सांस्कृतिक सिद्धान्त ने बीच का मार्ग लिया। मानव प्रकृति और अनुसरण ने मनुष्यों की सहायता की, परन्तु मनन और विचार ने स्थिति को बहुत बदल दिया। मानव जाति का इतिहास प्रायः संस्कृति के उत्थान की कथा ही है। इस सिद्धान्त की दृष्टि में, सामाजिक परिवर्तन न प्रस्ताव पास कर लेने से हो सकता है, और न यह अति कठिन है। समाज का विकास अब संस्कृति के उत्थान से गठित है। इस उत्थान का केन्द्र स्कूल और कालेज हैं। जो कुछ भी समाज को करना है, उसका आरम्भ बच्चों की शिक्षा से होना चाहिए। जो बीज आज बोया जायगा, उसका फल २५–३० वर्ष बाद व्यक्त होगा।

४. समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध

'प्रत्येक मनुष्य स्वाधीन पैदा होता है।'

यह कथन हम अकसर सुनते हैं। इसमें इतना तो सत्य है कि जन्म के साथ प्रत्येक मनुष्य स्वाधीनता का अधिकार लाता है, और किसी अन्य पुरुष का अधिकार नहीं कि वह उसे दास बना सके; स्वयं उसे भी अपनी स्वाधीनता बेच देने का अधिकार नहीं। इस कथन से एक भ्रान्ति भी हो सकती है। बच्चा जन्म से पहले ही ऋणी होता है, और जन्म के बाद प्रतिदिन उसका ऋण बढ़ता जाता है। उसे इतनी सुविधा अवश्य होती है कि जब तक वह ऋण चुकाने में असमर्थ है, उसे अवकाश दिया जायगा। गर्भवती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होते ही स्त्री को आने वाले बच्चे की चिन्ता होने लगती है। बहुतेरी हालतों में, बच्चे के जन्म के साथ माता का भी दूसरा जन्म होता है। वर्षों तक माता बच्चे का पालन पोषण करती है, और पिता इसका आर्थिक भार उठाता है। जब बच्चा घर से बाहर निकलता है, तो उसके चलने फिरने के लिए लाखों रुपयों से बनी हुई सड़कें विद्यमान हैं; देखने के लिए बाग़ बग़ीचे और अनेक अन्य सुन्दर स्थान विद्यमान हैं। उसके पढ़ने का समय आता है, तो स्कूल, कालेज, और बहुमूल्य पुस्तकालय मौजूद है। उसकी रक्षा के लिए राज्य की व्यवस्था विद्यमान है। इन सबका प्रयोग उसके ऋण को बढ़ाता जाता है। समाज आशा करता है कि वह भी जब इसके योग्य होगा, सांझे प्राकृत और अप्राकृत सभ्यता-कोश को कायम रखने और इसे बढ़ाने में पूरा सहयोग देगा। यही उसके लिए ऋण चुकाने का उपाय है। इसी लेने और देने पर सामाजिक जीवन का आधार है।

जब हम समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध पर चिन्तन करते हैं, तो बहुधा एक वा दूसरी ओर झुक जाते हैं। कोई व्यक्ति को साध्य और समाज को साधन मात्र बताता है; कोई समाज को साध्य और व्यक्ति को साधन मात्र बताता है। जैसा हम देख चुके हैं, हाब्स ने व्यक्ति को ही वास्तविक सत्ता स्वीकार किया। समाज तो व्यक्ति की सुविधा के लिए एक प्रकार का करण है। विशेष कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए इसकी रचना की गई। यदि कभी यह कठिनाई दूर हो गयी, तो सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता भी न रहेगी। अफ़लातूं ने समाज वा राज्य को साध्य बताया, और व्यक्ति को साधन का पद दिया। अफ़लातूं के सिद्धान्त में मौलिक प्रत्यय यह था कि 'सामान्य' की वास्तविक सत्ता है, और सारे 'विशेष' उसकी अधूरी नकलें हैं। सुन्दर पदार्थ तो बनते हैं और टूटते हैं; सौन्दर्य प्रत्ययों की नित्य दुनिया में एक प्रत्यय है। इसी तरह वर्त्तमान राज्य आदर्श-राज्य की नकलें हैं। इस आदर्श-राज्य का चित्र 'गण-राज्य' में प्रस्तुत किया गया है। जो कुछ इसके लिये आवश्यक है, उसी से मनुष्य के मौलिक वृत्त निश्चित होते हैं।

अरस्तु ने उपरोक्त मार्गों के मध्य को अंगीकार किया। उसने कहा कि समाज एक संगठन है, परन्तु ऐसा संगठन है जिसके अंश भी संगठन हैं। व्यक्ति को ही नहीं, परिवार को भी उसने संगठन का पद दिया। यह भी मनुष्यों का बनाया हुआ पदार्थ नहीं; एक प्राण-धारी वस्तु है। समाज, परिवार और व्यक्ति तीनों संगठन हैं, और साध्य हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में समाज और व्यक्ति दोनों एक दूसरे से अलग कल्पना मात्र हैं। व्यक्ति न हों, तो समाज का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। दूसरी ओर व्यक्ति का जन्म ही दो अन्य मनुष्यों के संयोग से होता है, और उसके विशेष चिन्ह बाल्य में सामाजिक प्रभावों में निश्चित हो जाते हैं। जो बच्चे जीवन के पहले ५–६ वर्ष इन प्रभावों से अलग रहते हैं, या रखे जाते हैं, वे पाशव स्तर से नाम मात्र ही ऊपर उठ सकते हैं। वह कुछ शब्द बोलने, मनुष्यों की तरह खाने और पहनने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं; इससे आगे नहीं जाते। व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे से ऐसे जुड़े हैं कि उनमें साध्य और साधन का भेद करना निरर्थक सा है।

५. व्यक्ति का उत्थान

व्यक्ति जन्म के साथ कुछ संभावनाएं लाता है। यह प्रायः नैसर्गिक उत्तेजनों और उद्वेगों के रूप में होती हैं। जन्म लेते ही वह माता के स्तन से दूध चूसने लगता है। भयभीत होता है, और क्रोध भी करता है। पीछे राग-द्वेष भी व्यक्त हो जाते हैं। इन शक्तियों का प्रयोग जीवन भर जारी रहता है। समाज का काम इन्हें व्यवस्था में रखना है, ताकि व्यक्ति के विचार, उसके भाव, उसके कर्म उसके सामाजिक वातावरण के अनुकूल हों। जब बुद्धि आगे आती है, तो वह आरंभिक प्रकृति और प्रचलित मर्यादा दोनों की समीक्षा करती है। परन्तु आम तौर पर लोग अपनी बुद्धि को बहुत कष्ट नहीं देते; वह समाज की सांझी बुद्धि को ही अपना पथ प्रदर्शक बनाने पर संतोष करते हैं। समाज यह पथप्रदर्शन कुछ संस्थाओं की सहायता से करता है। ये संस्थाएं समाज के आदर्शों को स्थूल रूप में प्रकट करती हैं। इन संस्थाओं वा समाज-अंगों का अध्ययन करना आवश्यक है। यह अध्ययन एक अगले अध्याय का विषय है।

६. सामाजिक क्रिया का रंग-रूप

समाज व्यक्तियों का समूह है। सामाजिक क्रिया की नींव व्यक्ति की प्रक्रियाओं पर ही होती है। व्यक्ति की प्रक्रियाएं ज्ञान, भाव और कर्म हैं। सामाजिक क्रिया भी इनके संबन्ध में ही होती है। पशुओं का ज्ञान उनकी ज्ञान-इन्द्रियों की देन है। एक जाति के पशुओं की शारीरिक बनावट एक सी होती है, और उनका वातावरण भी एक सा होता है। इसलिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान में वह एक स्तर पर ही होते हैं। मनुष्यों में इन्द्रिय--जन्य ज्ञान के साथ मनन भी शामिल हो जाता है। भाषा का प्रयोग उन्हें इस योग्य भी बना देता है कि एक दूसरे को अपने ज्ञान से अभिज्ञ कर दें। लेख की सहायता से यह संबन्ध देश और काल की सीमाओं को उल्लांघ जाता है। किसी पुस्तकालय में प्रवेश करें, तो इसकी बाबत पता लग जाता है। मनुष्यों का ज्ञान एक बड़ा सांझा भंडार बन जाता है, जिसमें से प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार ले लेता है, और ऐसा करने में किसी और के भाग को कम नहीं करता। समाज की एक प्रमुख क्रिया ज्ञान के सांझे भंडार को सुरक्षित रखना और इसमें वृद्धि करते जाना है। इस ज्ञान की सहायता से मनुष्य प्रकृति के नियमों को अपने हित के लिए प्रयुक्त करता है।

भाव के संबन्ध में भी मनुष्य पशुओं से बहुत आगे निकल गया है। दुख–सुख की अनुभूति पशुओं में भी है; उद्वेग भी है। परन्तु उनकी हालत में भाव यहां ठहर जाता है। मनुष्यों की हालत में, ऊंचे स्तर पर भावनाएँ भी प्रकट होती हैं। सौंदर्य की अनुभूति कला को जन्म देती है। बुलबुल गाती तो है, परन्तु यह बात असंदिग्ध नहीं कि वह अपनी आवाज़ की मधुरता से प्रसन्न भी होती है। मनुष्यों में चक्षु और श्रोत्र रसिक–इन्द्रियां हैं। मानव--समाज का काम जीवन को सुखी ही नहीं, मधुर बनाना भी है। संगीत, चित्रकारी, नाट्य आदि ललित कलाएं इसका साधन हैं। भावों का संशोधन भी आवश्यक है। वास्तव में इसी पर सफल सामाजिक जीवन निर्भर है। नीति और धर्म इस संशोधन को अपने हाथ में लेते हैं।

क्रिया में समाज के सम्मुख बड़ा उद्देश्य नियन्त्रण है। विज्ञान की सहायता से प्रकृति पर नियन्त्रण प्राप्त होता है; राज्य--व्यवस्था व्यक्तियों पर नियन्त्रण का साधन है। पशु भी करणों का प्रयोग करते हैं, परन्तु उनकी कर्म--इन्द्रियां ही उनके करण हैं। दांतों से, सींगों से, लातों से, वह अपनी रक्षा करते हैं। भागना ही पड़े, तो लंबी और शीघ्र–गामी टांगें उन्हें काम देती है। मनुष्य अपने लिए अनेक करण और अस्त्र बनाता है। वह घंटे में तीन चार मील चल सकता है, आठ दस मील दौड़ सकता है; परन्तु वायु-यान में ५–६ हज़ार मील घंटे में उड़ जाता है, और आशा करता है कि और कहीं नहीं, तो चन्द्रमा तक तो पहुंच ही जायगा। 'मनुष्य करण बनाने और उनका प्रयोग करने वाला पशु है।'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राज्य-व्यवस्था ही सामाजिक जीवन का अन्तिम सहारा है। अन्य संस्थाएं जब काम नहीं देतीं, तो इसी का सहारा लेना पड़ता है। समाज में लेन-देन आवश्यक है। आर्थिक व्यापार, उद्योग आदि सब कुछ तभी चल सकता है, जब देश में शान्ति हो।

इस तरह सामाजिक क्रिया निम्न रूपों में प्रकट होती हैं:—

(१) ज्ञान का प्रसार और इसकी वृद्धि
(२) ललित कला का विकास
(३) नीति और धर्म की सहायता से भाव-संशोधन
(४) विज्ञान की सहायता से प्रकृति का नियन्त्रण
(५) नागरिकों का नियन्त्रण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

२. अधिकार और कर्त्तव्य

१. नैतिक व्यक्ति

मनुष्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। मनोविज्ञान उसे एक चेतन के रूप में देखता है, जो अन्य चेतनों के साथ अन्तरंग सम्बन्ध पैदा कर सकता है। नीति ऐसे सम्बन्धों से आरंभ करती है। नैतिक व्यक्ति अधिकारों का स्वामी है, और कर्त्तव्यों से बाधित है। जो मनुष्य अब वा आगे चलकर कर्त्तव्य पालन करने के अयोग्य है, उसके अधिकार भी नहीं; जो पुरुष अधिकार नहीं रखता, उसके कर्त्तव्य भी नहीं। दासता दीर्घ काल तक प्रचलित रही। दासों का अधिकार स्वीकार नहीं किया जाता था, और उनसे कड़ा काम लिया जाता था। यह काम नैतिक अर्थों में उनका कर्त्तव्य न था। तांगे में जुता हुआ घोड़ा दिन भर दौड़ता है, परन्तु इस में वह किसी कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। दासों को भी सम्पत्ति का भाग समझा जाता था; उनके काम में उनकी इच्छा का कोई दखल न था। नैतिक व्यक्ति न ऐसा सर्वाधिकारी है, जिसके अधिकार तो हैं, परन्तु कर्त्तव्य नहीं; न दास है, जिसके अधिकार नहीं, परन्तु कर्त्तव्य उस पर ठोंसे गये हैं।

२. अधिकार और कर्त्तव्य की सापेक्षता

ऊपर कहा गया है कि अधिकार और कर्त्तव्य साथ साथ चलते हैं। ये दोनों सापेक्ष प्रत्यय हैं, और यह दो अर्थों में—

(१) जब हम एक मनुष्य के अधिकार की बाबत कहते हैं, तो उसी कथन में किसी अन्य पुरुष वा पुरुषों के कर्त्तव्य की बाबत भी कह देते हैं, जो पहले मनुष्य की ओर अनिवार्य होता है। काम करने के बाद कर्मचारी का अधिकार है कि उसे नियत मजदूरी मिले। काम कराने वाले का कर्त्तव्य है कि उसे नियत मजदूरी दे। यह अधिकार काम करने से ही पैदा होता है। आर्थिक सम्बन्धों में कर्तव्य का पालन अधिकार को जन्म देता है।

(२) प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारों का उचित प्रयोग करे। जो अधिकार उसे मिले हैं, वे तो दिये ही इसी आशा के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ गये हैं। जो अधिकार जन्मजात हैं, उनके सम्बन्ध में भी सामाजिक जीवन की मांग यही है। एक पुरुष श्रम से धन कमाता है। यह धन उसका है; जिस तरह चाहे, वह इसे खर्च कर सकता है। परन्तु राज्य वा समाज उसे अपनी सम्पत्ति को ऐसे ढंग से व्यय करने की आज्ञा नहीं दे सकता, जिससे दूसरों की हानि हो। राज-नियम की मांग संभवतः यही है। नीति इस से आगे जाती है, और कहती है कि यह व्यय लोकहित में होना चाहिये।

कुछ अवस्थाओं में अधिकार और कर्त्तव्य इतने निकट आ जाते हैं कि एक ही कर्म एक ओर से अधिकार, और दूसरी ओर से कर्त्तव्य दिखाई देता है। बच्चों की देख–रेख मातापिता का अधिकार है, वा कर्त्तव्य है? कालेज में अनुशासन बनाए रखना प्रिन्सिपल का अधिकार है, वा कर्त्तव्य है? शिक्षा का प्रबन्ध करना राज्य का अधिकार है, वा कर्त्तव्य है?

साधारण पुरुष के विचारानुसार, बच्चों की देख–रेख मातापिता का अधिकार और कर्त्तव्य दोनों हैं। कोई उन्हें इससे रोक नहीं सकता, और स्वयं वे भी अपने आप को इससे मुक्त नहीं कर सकते।

कालेज के अनुशासन में वाधा का कारण क्या होता है? कभी बाह्य आक्षेप इसका कारण होता है; कभी प्रिन्सिपल की अदृढ़ता। पहली हालत में हम कहते हैं कि अनुशासन बनाए रखना प्रिन्सिपल का अधिकार है। दूसरी हालत में हम कहते हैं कि ऐसा करना प्रिन्सिपल का कर्त्तव्य है। अधिकार बाहर के आक्षेप से लड़ता है; कर्त्तव्य आन्तरिक दुर्बलता से लड़ता है।

३. अधिकार और कर्त्तव्य की नींव

काम करने के बाद श्रमी का अधिकार हो जाता है कि उसे अपने श्रम का दाम मिले। हम यह फ़र्ज कर रहे हैं कि श्रम को आरम्भ करना उसके वश में है। दासों को ऐसी स्वाधीनता प्राप्त न थी। जिस पुरुष को उसके अधिकार से वंचित किया जाता है, उसका अधिकार है कि वह न्यायालय का द्वार खटखटाए, और सहायता मांगें। न्यायालय में सबके लिये द्वार खुला है; परन्तु केवल ऐसी शिकायतों के लिये जिनका विषय किसी स्वीकृत अधिकार का भंग होना हो। प्राचीन यूनान जैसे सभ्य देश में दासों को यह द्वार खटखटाने का अवसर न था। पिछली शती में ही काले वर्ण के लोगों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को यह अधिकार न था। जहाँ दो मनुष्यों में ऐसा झगड़ा होता है, जिसमें राष्ट्र के प्रतिनिधि आक्षेप करने की आवश्यकता नहीं समझते, वहाँ वैधानिक अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। जिन मामलों को ऐसे हस्तक्षेप का पात्र समझा जाता है, उनके सम्बन्ध में अधिकार और कर्त्तव्य आगे आते हैं। अधिकारों और कर्त्तव्यों को निश्चित करने में सामाजिक हित को ध्यान में रखा जाता है। जहाँ दासता की प्रथा होती है, वहाँ इसे सामूहिक हित के प्रतिकूल नहीं समझा जाता।

एक स्थान और दूसरे स्थान में, एक समय और दूसरे समय में, ऐसा भेद क्यों होता है ?

इस प्रश्न के कई उत्तर दिये गये हैं।

एक विचार के अनुसार, मानव अधिकार मनुष्य के बुद्धिवन्त होने पर निर्भर है। प्राचीन यूनान में विचारकों की आत्मा भी इस तथ्य को देख नहीं सकी। अमेरिका के लोग इस तथ्य को देखते थे, परन्तु स्वार्थ ने उनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी थी। चार पाँच वर्षों के घोर संग्राम के बाद स्वाधीनता के अधिकार ने आर्थिक लाभ पर विजय प्राप्त की। कांट ने इस नियम का स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया, और कहा कि प्रत्येक मनुष्य, मनुष्य होने के कारण ही, साध्य है, निरा साधन नहीं बनाया जा सकता।

एक दूसरे विचार के अनुसार सारे अधिकार और कर्त्तव्य समाज में बहुमत का विवरण हैं। जैसा हम देख चुके हैं, हाब्स ने इस ख्याल का समर्थन किया। जो कुछ किसी स्थान पर, और किसी समय में, समाज के बहुमत को उपयोगी प्रतीत होता है, उस पर स्वीकृति और प्रशस्ति की छाप लगा दी जाती है। जब स्थिति बदलती है, तो प्रशस्त व्यवहार भी बदल जाता है। अधिकारों और कर्त्तव्यों का निश्चय बहुमत का परिणाम है; इनकी नींव किसी स्थाई बौद्धिक नियम पर नहीं।

हाब्स ने समाज के निर्माण में मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर बल दिया था। प्राकृत अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का वैरी है। इस असह्य स्थिति को समाप्त करने के लिये, व्यवस्था की स्थापना होती है। इसी के फलस्वरूप अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। जो कुछ लोक-हितकारी अनुभव होता है, वह मर्य्यादा का भाग बन जाता है। साम्यवाद इस विचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को एक विशेष रूप देता है। समूह के जीवन में आवश्यक पदार्थों का उत्पादन, उनका विभाजन, और अदल-बदल आवश्यक होते हैं। वातावरण और मनुष्यों की स्थिति के विभिन्न होने के कारण, यह तीनों प्रक्रियाएं हर स्थान में एक समान नहीं होतीं। अन्त में, उत्पादन और विभाजन की स्थिति ही अधिकारों का रंग-रूप निश्चित करती है। यूनान की स्थिति ऐसी थी कि अल्प-संख्यक नागरिकों के लिये बहुत से दासों को काम करना होता था। इसलिये वहाँ प्रत्येक मनुष्य को स्वाधीनता का अधिकार देने का प्रश्न ही नहीं उठा। अमेरिका में भी सीमित गोरी आबादी को अतिविशाल और उपजाऊ धरणी प्राप्त हो गयी। काले वर्ण के बहुत पुरुष-स्त्री भी विद्यमान थे, और वे असहाय थे। गोरी आबादी के लिये दासता को प्रयोग में लाना स्वाभाविक ही था। साम्यवाद यह नहीं कहता कि अब भी अधिकारों के नियत करने में राज-नीति, धर्म तथा संस्कृति का कोई भाग नहीं। इसका दावा यह है कि आर्थिक स्थिति अधिकारों का मौलिक आधार है; और जब कभी इनमें कोई बड़ा परिवर्तन होता है, तो इसका कारण भी आर्थिक स्थिति में नई कठिनाइयों का उठ खड़ा होना होता है।

साम्यवाद इतिहास का प्राकृतिक समाधान करता है। इसे स्वीकार करना तथ्य की ओर से आँखें बन्द करना है। एब्राहम लिंकन के नेतृत्व में, उत्तर के राज्य दक्षिण के राज्यों से चार पाँच वर्ष लड़ते रहे। लाखों सैनिक दोनों ओर से मारे गये। लिंकन और उसके साथी क्यों लड़ते थे? साम्यवाद के अनुसार, वह अपने विरोधियों को यह समझाना चाहते थे कि अब उत्पादन के लिये दासों के श्रम की आवश्यकता नहीं रही; स्वाधीन श्रम से अधिक लाभ होगा। लिंकन और उसके साथी इस धारणा को स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनके ध्यान में प्रमुख बात यह न थी कि उत्पादन बढ़ाने की अच्छी रीति क्या है, अपितु यह कि मानवता का सम्मान क्या चाहता है। प्रश्न अधिक उत्पादन और मनष्य की स्वाधीनता के सापेक्ष मूल्य का था। लिंकन और उसके साथियों ने नैतिक आदर्श को अधिक महत्व दिया। रु०, आना, पाइयों का हिसाब करते हुए उन्होंने रक्त की नदियाँ नहीं बहायीं।

४. मौलिक अधिकार

जब समाज किसी अधिकार को मान्यता देता है, तो यह घोषणा करता है कि यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे के मान्य अधिकार पर आक्रमण करेगा, तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवाद उन दो व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहेगा; समाज आक्रमण को निष्फल बनाने के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा। जो पुरुष किसी अन्य पुरुष के घर में डाका डालता है, वह समाज की व्यवस्था पर भी आघात करता है, और समाज इसकी ओर से उदासीन नहीं हो सकता।

मौलिक अधिकारों की संख्या सीमित ही होती है। ये अधिकार क्या हैं?

(१) जीवन-अधिकार

जीवन में सर्व-प्रथम अधिकार तो स्वयं जीवन का अधिकार ही है। इस अधिकार को मान्यता मिलने में भी बहुत देर लगी है। प्राचीन रोम में समझा जाता था कि माता पिता बच्चे को जन्म देते हैं; इसलिये उनका अधिकार है कि अपनी देन को वापस ले लें। स्पार्टा में समझा जाता था कि जो बच्चा सैनिक बनने के अयोग्य है, उसे आरम्भ में ही समाप्त किया जा सकता है। ऐसा करना माता-पिता के नहीं, अपितु राज्य के अधिकार में था। अब जीवित रहने का अधिकार हर कहीं स्वीकृत है। विशेष स्थितियों में व्यक्ति अपने आपको इस अधिकार से वंचित कर सकता है। इस प्रकार की दो प्रमुख स्थितियाँ हत्या और राज-द्रोह हैं। कुछ लोगों का विचार है कि इन स्थितियों में भी मृत्युदंड का प्रयोग बन्द हो जाना चाहिये।

जीवन-अधिकार के सम्बन्ध में एक और प्रश्न भी उठता है। क्या स्वयं व्यक्ति को अपना जीवन समाप्त कर देने का अधिकार है? कोई राज्य आत्म-हत्या करने वाले को दंड नहीं दे सकता; वह ऐसे दंड की पहुँच से बाहर हो गया है। परन्तु आत्म-हत्या के यत्न को अपराध ठहराया जाता है। ऐसा क्यों है? प्रतीत तो ऐसा होता है कि व्यक्ति का शरीर विशेष रूप में उसका अपना है, और, दूसरों की हानि किये बिना, वह चाहे तो इसका अन्त कर सकता है। किसी अन्य मनुष्य को वा समाज को इसमें आक्षेप करने का अधिकार कैसे प्राप्त होता है?

विशेष स्थितियों में आत्म-हत्या करने वाले के साथ हमारी सहानुभूति हो जाती है, परन्तु साधारण अवस्था में हम यह स्वीकार ही नहीं करते कि ऐसी हत्या में किसी को हानि नहीं पहुँची। समाज ने उसे वर्त्तमान दशा में पहुँचाने के लिये बहुत कुछ व्यय किया है। वह समाज का ऋणी है, और इस ऋण को चुकाये बिना चल देना चाहता है। जिस पुरुष के जीवन का भावात्मक मूल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही नहीं रहा, वा जिसे जीवित रहने के लिये आत्मसम्मान को छोड़ना पड़ता है, उसकी स्थिति विशेष स्थिति है।

(२) स्वाधीनता

जीवन को कायम रखने के लिये उपयोगी साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों को ढूँढ़ना वा इनका उत्पादन करना होता है। जीवन-अधिकार के साथ मिला हुआ अधिकार यह है कि व्यक्ति जीवन-निर्वाह के लिये काम कर सके। ऐसा करने में वह स्वाधीन है। यह स्वाधीनता क्या है?

आम तौर पर हम कर्मों का वर्णन करते हुए मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों का वर्णन करते हैं। स्वाधीनता को भी हम तीन रूपों में देखते हैं—विचार की स्वाधीनता, विचार-प्रकटन की स्वाधीनता, और कर्म की स्वाधीनता। विचार का प्रकट करना भी कायिक कर्म ही है। वास्तव में स्वाधीनता दो प्रकार की है—विचार की स्वाधीनता, और शारीरिक क्रिया की स्वाधीनता।

स्वाधीनता का स्पष्ट अर्थ यह है कि व्यक्ति जो कुछ करे, अपने संकल्प के प्रभाव में करे; बाहर के दबाव में न करे। इसे ध्यान में रखें, तो विचार की स्वाधीनता विवाद का विषय बन ही नहीं सकती। कोई दूसरा मनुष्य मेरे हाथ को पकड़ कर, मेरी मरज़ी के विरुद्ध, मुझसे कुछ करा सकता है। इस के लिये इतना ही आवश्यक है कि उसका बल मेरे बल से अधिक हो। ऐसा काम मेरा स्वाधीन काम नहीं। परन्तु मन की हालत में, ऐसा दबाव साधारण अवस्था में संभव नहीं। किसी मनुष्य को मूर्छित करके हम उसके मन को अपने वश में कर सकते हैं। उस अवस्था में हम जो कुछ कहते हैं, वह उसे सत्य स्वीकार करता है। परन्तु साधारण अवस्था में ऐसा नहीं होता। मेरे विचार मेरे विचार हैं; मेरे पड़ोसी के विचार उसके विचार हैं। विचार का अस्तित्व ही उसकी स्वाधीनता भी है। जब हम विचार की स्वाधीनता का वर्णन करते हैं, तो हमारा अभिप्राय प्राय: विचारों के प्रकटन से होता है।

क्रिया की स्वाधीनता विवाद का विषय है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कुछ लोगों के विचार में इतिहास स्वाधीनता के लिये संघर्ष की कथा ही है। यह न भी हो, तो भी प्रत्येक राष्ट्र दावा करता है कि वह अपने नागरिकों को क्रिया की स्वाधीनता देता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि विधान सभायें, नगरपालिकायें और अन्य संस्थायें 'नियम' बनाने में लगी हैं। प्रत्येक नियम व्यक्ति की स्वाधीनता को सीमित करता प्रतीत होता है। राज–नियम स्वतन्त्रता पर रोक हैं, वा इनके बिना स्वाधीनता मिल ही नहीं सकती ?

इसे एक साधारण उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। नगरों में सड़कों पर साइकल, गाड़ी, मोटर चलते हैं। दाएं बाएं पैदल चलने वालों के लिये मार्ग बने होते हैं, और एक ओर जाने वालों को दाएं वा बाएं मार्ग पर चलना होता है। भारत में बाएं मार्ग पर चलते हैं; कुछ अन्य देशों में दाएं मार्ग पर चलते हैं। इस भेद का कुछ महत्व नहीं; महत्व की बात इतनी है कि इस सम्बन्ध में जो नियम बने, उस पर आचरण किया जाय। यह नियम व्यक्ति की स्वाधीनता पर रोक प्रतीत होता है। यदि मुझे पूरी स्वाधीनता हो, तो मैं जिधर से चाहूँ चल सकूं। ऐसी स्वाधीनता का फल क्या होगा ? सड़कों पर मोटरें भी दौड़ें, और पैदल भी चलें, तो दुर्घटनाओं की संख्या बहुत बढ़ जायगी। पद मार्गों पर जो लोग नियमानुसार चलते हैं, वह प्राय: एक चाल से चलते हैं, और सब को चलने की सुविधा होती है। एक मार्ग पर दोनों ओर से चलने वालों को पग पग पर दूसरों के लिये मार्ग छोड़ना होता है, और आरंभ से अन्त तक भीड़ में चलना पड़ता है। यह नियम मेरी गति पर रोक है, या उसी समय उन मार्गों पर चलने वालों को आदेश देता है कि मुझे सुविधा से चलने दें ? इस दृष्टिकोण से देखें, तो पता लगता है कि नियम का उद्देश्य मेरे और प्रत्येक नागरिक के चलने फिरने की स्वाधीनता को सुरक्षित करना है। इस विचार को अपना कर, कुछ विचारक तो कहते हैं कि मनुष्य नियम के अधीन ही स्वतन्त्र हो सकता है। हम कई बार भूल जाते हैं कि जो नियम बना है, वह केवल हमीं पर लागू नहीं होता, अन्य नागरिकों पर भी लागू होता है।

जीवन में स्वाधीनता का इतना महत्व है कि कुछ विचारक जीवन और स्वाधीनता को दो पृथक अधिकार नहीं समझते, अपितु 'स्वाधीन जीवन' को एक ही अधिकार बयान करते हैं। जो मनुष्य सामाजिक जीवन का अंग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बन कर, भद्र के सांझे भंडार को सुरक्षित रखने और बढ़ाने में सहयोग दे सकता है, वा ऐसा करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है, वह इस प्रमुख अधिकार का पात्र है। जिन पुरुषों की हालत में यह आशा न रहे, उन्हें इस अधिकार से वंचित किया जाता है, वा कुछ समय के लिये इस पर दंड के रूप में रोक लगा दी जाती है।

(३) सम्पत्ति

मनुष्य की स्वाधीन क्रिया का फल सम्पत्ति होता है। असभ्य अवस्था में मनुष्य अलग अलग वा छोटे समूहों में खाद्य पदार्थों को ढूंढते हैं, और अपना निर्वाह करते हैं। सभ्यता उन्हें ऐसे पदार्थों के उत्पादन की शक्ति देती है। इस उत्पादन के साथ कल और परसों के लिये बचाने की प्रवृत्ति जागती है, और बचाए हुए पदार्थों का अदल-बदल होता है। यह स्थिति 'निज सम्पत्ति' को जन्म देती है। यह सम्पत्ति मनुष्य के श्रम का साकार रूप है। इसकी रक्षा अपने जीवन की रक्षा का अनुरूप ही है। व्यक्ति समाज से कहता है—'मुझे स्वाधीन जीवन का अधिकार है, तो अपनी कमाई के भोगने का भी अधिकार है'। समाज इस दावे को स्वीकार करता है।

कुछ लोग कहते हैं कि निज सम्पत्ति का अधिकार मौलिक अधिकार नहीं। स्वाधीन-जीवन के लिये इसे साधन के रूप में अपनाया गया है, और इसने अच्छा काम दिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसके अतिरिक्त, और इससे भी अच्छा, अन्य साधन मिल नहीं सकता। परिवार में व्यक्तियों की स्वतन्त्र सम्पत्ति नहीं होता। जो कुछ होता है, सांझा होता है, और उत्पादन और विभाजन का नियम यह होता है—'प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार दे, और अपनी आवश्यकता के अनुसार ले।' परिवार में प्रेम का राज्य होता है; संघर्ष और मुकाबला नहीं होता। समाज को भी विस्तृत परिवार के रूप में देखना चाहिये, और निज सम्पत्ति के अधिकार को मिटा कर, सारी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों को जन-समूह को सौंप देना चाहिये। यह समाजवाद का मत है।

साम्यवाद कहता है कि समाज को परिवार के सांचे में ढालना रोग का इलाज नहीं। निज सम्पत्ति का जन्म ही पारिवारिक जीवन के साथ हुआ है। परिवार का तत्व यह है कि एक स्त्री और एक पुरुष सांझा जीवन बनाकर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक घर में रहने लगते हैं। यहाँ पहले प्रमुख श्रम–विभाजन का आरंभ होता है। पुरुष कमाने का भार लेता है, और स्त्री घर की देखभाल और बच्चों के पालन का दायित्व स्वीकार करती है। निज सम्पत्ति घर के गिर्द घूमती है। इसे समाप्त करना हो, तो परिवार को भी समाप्त करना होगा। अफ़लातूं ने इस विचार का बल पूर्वक समर्थन किया। नवीन साम्यवादी भी ऐसा ही कहते हैं।

अरस्तु ने अफ़लातूं के सिद्धान्त पर कड़ी आलोचना की, और न्याय को सम्पत्ति के प्रत्यय के साथ जोड़ दिया। उसके विचार में सामाजिक न्याय, जो राज्य को प्रमुख प्रक्रिया है, यही है कि प्रत्येक मनुष्य जो कुछ अपने श्रम से कमाता है, उसे भोग सके।

जीवन और स्वाधीनता के अधिकारों को कायिक अधिकार का नाम दिया जाता है। इनका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर से है। इन्हें विशेष अर्थ में मौलिक अधिकार भी कहते हैं, क्योंकि राष्ट्र के निर्माण के पहले भी यह व्यक्ति के अधिकार स्वीकृत होते हैं। जहां कहीं मनुष्य इकट्ठे रहते हैं, अन्य शब्दों में, सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं, वहां यह स्वीकार किया ही जाता है कि प्रत्येक मनुष्य को जीने का, और अपनी रुचि अनुसार काम करने का अधिकार है। अन्य अधिकार राष्ट्र के निर्माण पर मिलते हैं, और राष्ट्र उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है। स्वामित्व का अधिकार अपने शरीर से परे जाता है। वातावरण का कुछ भाग व्यक्ति की सम्पत्ति बनता है। सम्पत्ति में प्राकृत पदार्थ और पशु-पक्षी सम्मिलित होते हैं। वह स्वयं कोई अधिकार नहीं रखते। अधिकार का अर्थ ही सांझे भद्र की रक्षा और वृद्धि में योग देने की योग्यता है। ऐसी योग्यता उनकी पहुंच से बाहर है; उन्हें तो भद्र वा सांझे भद्र के प्रत्यय का बोध ही नहीं होता। जब दासता की प्रथा जारी थी, तो दासों को भी पशुओं वा प्राकृत पदार्थों के स्तर पर ही रखा जाता था। यह अनर्थ था; प्रत्येक मनुष्य को मनुष्य होने के कारण ही स्वाधीन जीवन का अधिकार प्राप्त है।

(४) सामाजिक अधिकार

(क) परिवार में

मनुष्य के वातावरण में अन्य मनुष्य अति महत्वपूर्ण भाग हैं। अमानव वातावरण से बाहर निकलें, तो मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध नए अधिकारों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को जन्म देता है । इन अधिकारों में प्रथम अधिकार पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में है । परिवार का तत्व यह है कि एक पुरुष और स्त्री सांझा जीवन बनाते हैं ; एक घर में रहते हैं; और संतान–उत्पत्ति करते हैं। संतान की देखभाल और रक्षा उनका प्रमुख दायित्व होता है। पति-पत्नी का सम्बन्ध तो स्थाई होता है; सन्तान की स्थिति स्थाई नहीं होती। बड़े होने पर वह परिवार से अलग हो जाते हैं, और नये परिवार स्थापित करते हैं । जीवन का अधिकार तो परिवार में सब को है, परन्तु स्वाधीनता का नहीं होता । जहाँ तक स्वाधीनता का सम्बन्ध है, एकाई परिवार होता है, व्यक्ति नहीं होता । राष्ट्र के निर्माण के पूर्व प्रत्येक अपनी रक्षा आप करता है। परिवार में यह प्रथा नहीं होती। एक सदस्य दूसरे से दुर्व्यवहार का बदला नहीं ले सकता ; सारे झगड़ों का निपटारा परिवारपति करता है । बदले का प्रश्न एक परिवार में नहीं उठता ; दो परिवारों के दरमियान उठता है । परिवार में बच्चों को आज्ञा में रहना होता है। पति और पत्नी के सम्बन्ध की बाबत मतभेद है। तीन प्रकार की स्थिति हो सकती है—

(१) वास्तव में पति और पत्नी का जीवन सांझा हो जाय, और दो व्यक्तित्वों के स्थान में एक व्यक्तित्व ही प्रस्तुत हो जाय।

(२) पति और पत्नी में एक की प्रमुखता स्वीकार की जाय ।

(३) पति और पत्नी का अधिकार बराबर का हो ।

पहली अवस्था आदर्श है, जो साधारण मनुष्यों की पहुँच में नहीं होती । दूसरी अवस्था मान्य हो गई है, और अब पति का पद परिवार में शासक का पद बना हुआ है । इस स्थिति का आधार दो विचारों पर है—

(१) नेपोलियन के शब्दों में, 'दो योग्य सेनापतियों से एक अयोग्य सेनापति अच्छा है' । प्रति दिन की कलह से बचने के लिये अधिकार एक के ही हाथ में होना चाहिये ।

(२) पुरुष घर के निर्वाह के लिये कमाता है; वही इसकी रक्षा के लिये उत्तरदायी है । उसका कद, उसका बल, उसका साहस उसे प्रथम स्थान देते हैं ।

नवीन काल में बराबरी का ख्याल ज़ोर पकड़ रहा है । कुछ स्त्रियां परिवार में भी गौण पद से संतुष्ट नहीं । यह विचार अमेरिका में बहुत बढ़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि परिवार की स्थिरता पर असर पड़े। यदि पति और पत्नी का पद बराबर हैं, तो उनमें से जो भी चाहे, संबन्ध तोड़ सकता है। अभी बराबरी का आंदोलन नया आंदोलन है; तो भी जो जांच हुई है, वह बताती है कि १०० विवाहों में, २५ में तलाक हो जाता है, और २५ में बिना औपचारिक तलाक के पति-पत्नी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। शेष ५० में कितने सुखी हैं, इसकी बाबत कुछ कह नहीं सकते।

(ख) परिवार के बाहर

परिवार के बाहर वह अधिकार हैं जो एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में रखता है। यह नागरिक के अधिकार हैं। राष्ट्र के निर्माण के साथ इन अधिकारों का घनिष्ठ संबन्ध है। राष्ट्र परिवार को नहीं, व्यक्ति को एकाई स्वीकार करता है। किसी पुरुष पर आक्रमण हो, तो बदला लेना उसके परिवार का काम नहीं। यदि वह ऐसा करें, तो आप दोषी बन जाते हैं। आक्रमण करने वाला भी आप ही दंड का भागी बनता है; उस के परिवार को दोषी नहीं ठहराया जाता। समाज में नागरिक के अधिकार क्या हैं?

प्रमुख अधिकार तो यही है कि वह बिना रोक के जीवन, स्वाधीनता, और सम्पत्ति के अधिकारों का प्रयोग कर सके; सांझे भद्र में जो कुछ योग वह दे सकता है, दे सके। समाज में जो काम होता है, सहयोग से होता है। इस सहयोग का तत्व यह है कि मनुष्य अपने श्रम का वा श्रम-फल का अदल-बदल कर सकें। इस अदल-बदल में जो 'इकरार' करें, उसे मान्य समझा जाय। जहाँ इस का आदर न हो, राष्ट्र आक्षेप करे। इकरार वा मुआयदा का अधिकार सामाजिक संबन्धों में प्रमुख अधिकार है। आर्थिक व्यवहार तो सारा इसी पर निर्भर है।

समाज में प्रत्येक नागरिक उचित सम्मान के साथ जीना चाहता है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि दूसरे जब उसकी ओर देखें, तो आँख उठा कर देखें; इतना ही पर्याप्त है कि उसे देखते हुए नीचे की ओर न देखें।

(५) शिक्षा

इन चार अधिकारों के साथ अब एक अन्य अधिकार का वर्णन भी होता है। स्वाधीन-जीवन के अधिकार में यह बात निहित है कि व्यक्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपनी योग्यता के अनुसार सांझे-भद्र के भंडार में योग दे सके। कोई पुरुष ऐसी योग्यता जन्म से साथ नहीं लाता। यह योग्यता प्राप्त की जाती है। इसे प्राप्त करने के लिये उचित सुविधा होनी चाहिये। ऐसी सुविधाओं का देना किसका काम है? आम विचार तो यही रहा है कि बच्चों की शिक्षा उनके मातापिता का दायित्व है। अब इस विचार में कुछ परिवर्तन हो रहा है। सारे मातापिता स्वयं यह शिक्षा दे नहीं सकते। शिक्षालयों का स्थापन करना राष्ट्र का काम है। इन में शिक्षा का कुछ मूल्य भी लिया जाता है। यहां दो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं—एक यह कि मातापिता शिक्षा का भार न उठा सकें; दूसरी यह कि वह किसी अन्य कारण से बच्चे को अशिक्षित रखना चाहें। आजकल बच्चे का आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार स्वीकार किया जाता है। मातापिता की दरिद्रता वा उनकी मरज़ी उसे इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकती। इसका अर्थ यह है कि आरंभिक शिक्षा मुफ़्त और अनिवार्य हो।

आरंभिक शिक्षा की अवधि कितनी हो? इसकी बाबत प्रत्येक राज्य अपनी स्थिति को देख कर निश्चय करता है।

५. कर्त्तव्य

ऊपर कहा गया है कि अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष प्रत्यय हैं। अधिकार का अर्थ यह है कि व्यक्ति अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रयुक्त कर सकता है। इस अधिकार के साथ उसका कर्त्तव्य होता है कि वह उन शक्तियों का उचित प्रयोग करे। ऐसे प्रयोग में दो बातें सम्मिलित हैं—

(१) वह अपनी शक्तियों को विनष्ट न होने दे; इनसे जितना भद्र उत्पन्न हो सकता है, करे।

(२) वह अन्य मनुष्यों को उनकी अपनी शक्तियों का उचित प्रयोग करने दे। उनके मार्ग में बाधा न बने; हो सके, तो उनकी सहायता करे।

कर्त्तव्यों की बाबत विचार की सहज रीति यह है कि हम प्रत्येक अधिकार के सम्बन्ध में देखें कि वह अपने साथ क्या कर्त्तव्य लाता है। वास्तव में भद्र की उत्पत्ति, रक्षा और वृद्धि ही हमारा अधिकार है, और इसी से हमारे कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। अब अधिकारों को उपर्युक्त क्रम में ही लें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) जीवन का सम्मान

सर्वप्रथम अधिकार स्वयं जीवन का अधिकार है। जीवन का सम्मान हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। जीवन परमात्मा की अमूल्य देन है। इसे विनष्ट करना, आत्म-हत्या, पाप है। अपनी शक्तियों का उपयोग न करना, ऐसे उपयोग की योग्यता को ही खो देना, जीवन का घोर अपमान है। जीवन को सशक्त और दीर्घ बनाना, उसे लाभकारी क्रिया में व्यतीत करना प्रथम कर्त्तव्य है।

दूसरों के सम्बन्ध में, जीवन का सम्मान यह है कि हम किसी की हत्या न करें। यदि किसी पुरुष की स्थिति ऐसी हो जाय कि उसे जीवन-अधिकार से वंचित करना आवश्यक हो, तो यह क्रिया समाज के अधिकार में है; किसी व्यक्ति के अधिकार में नहीं।

(२) स्वाधीनता का सम्मान

जीवन के साथ ही मिला हुआ स्वाधीनता का अधिकार है। स्वाधीनता के अधिकार से हम अपने आपको वंचित कर ही नहीं सकते। किसी मनुष्य का अधिकार नहीं कि वह स्वाधीनता का क्षणिक प्रयोग करके शेष जीवन की स्वाधीनता को बेच दे। स्वाधीनता का उचित प्रयोग यही है कि हम अपने जीवन का कुछ बना लें। दूसरों की स्वाधीनता पर आक्रमण करना उन्हें मनुष्यत्व के स्तर से नीचे खींच कर पशु वा जड़ पदार्थ के स्तर पर ले आना है।

(३) सम्पत्ति का सम्मान

सम्पत्ति स्वाधीन कर्म का फल है। जहाँ तक दूसरों की सम्पत्ति का सम्बन्ध है, हमारा कर्त्तव्य स्पष्ट ही है: हम उनकी सम्पत्ति को उनकी सम्पत्ति समझें; और स्पष्ट वा अस्पष्ट रूप में, उन्हें इससे वंचित न करें। नवीन काल में, दूसरों की सम्पत्ति को छीनने के अनेक अस्पष्ट तरीके निकल आये हैं। ज्यों ज्यों बुद्धि विकसित होती जाती है, ऐसे तरीकों में भी वृद्धि होती जाती है। अपनी सम्पत्ति के सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसके व्यय से अपनी तुष्टि के साथ दूसरों का भी कुछ कल्याण कर सकें। यह बात बहुत सरल है, परन्तु जिस ढंग से नागरिक अपनी सम्पत्ति का प्रयोग करते हैं, उसे देख कर कुछ लोग 'निज सम्पत्ति' की प्रथा को ही मिटा देना चाहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैतिक दृष्टिकोण से सारी सम्पत्ति समाज की है, परन्तु इसके प्रयोग का अच्छा ढंग यह है कि इसे छोटे छोटे भागों में व्यक्तियों के हाथों में दे दिया जाय, और वह, स्वत्व और मोह के प्रभाव में, इसे बढ़ाने का यत्न करते रहें। समाज का सामूहिक काम चलाने के लिये जितने धन की आवश्यकता हो, वह कर के रूप में ले लिया जाय। अच्छे नागरिक का एक प्रमुख चिन्ह यह है कि वह राज-कर का अपना भाग खुशी से देता है।

(४) अविकसित जीवन का सम्मान

समाज में आधे पुरुष-स्त्री ऐसे होते हैं जिनका व्यक्तित्व अभी बन रहा है। उन्हें अपने से बड़ों की सहायता की आवश्यकता होती है। यह सहायता प्रायः परिवार में मिलती है। पारिवारिक जीवन का प्रमुख प्रयोजन आने वाली नसल की उचित देख-रेख है। इसका उत्तरदायित्व गृहपति और गृह-पत्नी पर है। इनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि इनका विशेष सम्बन्ध पूर्णतया पवित्र रहे। सदाचार पारिवारिक जीवन की जान है। घर में प्रेम का राज्य होता है। प्रेम को प्रायः अंधा कहते हैं; परिवार में अन्धे प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं। व्यक्ति के जीवन में अनुशासन की नींव छोटी आयु में ही पड़ जाती है। माता पिता का कर्त्तव्य है कि वह देश के लिये अच्छे नागरिक तैयार करें।

(५) नागरिकता का सम्मान

परिवार की दुनिया बहुत सीमित होती है। मनुष्य के बहुत से कर्त्तव्य बाहर की विशाल दुनिया में होते हैं। इन कर्त्तव्यों में दो कर्त्तव्य विशेष महत्व के हैं। एक यह कि अपने निर्वाह के लिये, जो कुछ करना स्वीकार किया है, उसे पूरी सत्यनिष्ठा से किया जाय। कार्लाइल ने अपने घर में काम करने वाले एक श्रमी की बाबत कहा है कि वह हथौड़े की प्रत्येक चोट से धर्म के सभी आदेशों को तोड़ देता था। हमारे यहाँ 'धर्म की कमाई' का बड़ा महत्व है। दूसरा कर्त्तव्य नागरिक की सामान्य स्थिति से सम्बन्धित है। इसमें अपने 'इकरार' का सम्मान आता है। इसके बिना सामाजिक जीवन चल ही नहीं सकता।

(६) प्रगति का सम्मान

ऊपर जिन कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है, उनका मूल्य यह है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामाजिक जीवन में कोई विघ्न न पड़े। परन्तु यह जीवन एक स्थान पर खड़ा नहीं रहता। प्रगति जीवन का तत्व है। जो लोग ऐसा कर सकते हों, उनका यह भी कर्त्तव्य है कि मानव समाज की उन्नति के लिये कुछ करें। हर्बर्ट स्पेन्सर और हक्सले एक साथ भ्रमण कर रहे थे। आम स्थिति का ज़िक्र होने लगा। स्पेन्सर ने निराशावाद के प्रभाव में कहा—'इस अभागी दुनिया का क्या बन सकता है? मनुष्य यही कर सकता है कि अपनी छाप लगाये और चल दे।' हक्सले ने कहा—'नहीं; इसकी भी आवश्यकता नहीं। इतना ही पर्याप्त है कि मनुष्य गाड़ी को आगे धकेले, और चल दे।'

गाड़ी को आगे धकेलना किसी किसी के भाग्य में होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों का ही वर्णन है। समस्त समाज की बाबत भी हम पूछ सकते हैं कि उसके अधिकारों का आधार क्या है; और उसके अधिकारों में भी कर्त्तव्य निहित हैं, वा नहीं। इन प्रश्नों पर आगे विचार होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. वृत्त वा कर्त्तव्य-परायणता

१. वृत्त और कर्त्तव्य

आचार और आचरण एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जो कुछ मैं करता हूँ, वह तो सब की दृष्टि में आ जाता है; जिस भाव से प्रेरित हो कर करता हूँ, उसे कोई साक्षात देख नहीं सकता। मैं आप भी उसे ठीक ठीक देख सकता हूँ, यह भी असन्दिग्ध नहीं। आचार्य हमें बार बार कहते हैं—'अपने आप को जानो'। इससे यही पता लगता है कि आत्म-ज्ञान बहुत सहज नहीं। इतना तो स्पष्ट ही है कि आचरण दृष्ट है, और आचार दृष्ट नहीं।

साधारण अवस्था में सदाचार सदाचरण में व्यक्त होता है, और दुराचार दुराचरण में। कभी कभी हमें धोखा भी हो जाता है। हम समझते हैं कोई मनुष्य हमें मिठाई दे रहा है; वास्तव में उसमें विष मिला है, और उस मनुष्य का अभिप्राय यह है कि हमें मूर्छित करके हमारा धन छीन ले। हम किसी कारण मिठाई खाते नहीं, और इसलिये हमें तथ्य का पता नहीं लगता। यहाँ भी वास्तव में उसका कर्म बुरा है, यद्यपि हम भ्रान्ति में इसे ऐसा नहीं समझते।

जब भला कर्म अकस्मात वा किसी उद्वेग के प्रभाव में न हो, तो वह वास्तव में सदाचरण है, और सदाचार का प्रकटन है। किसी विशेष स्थिति में, जो कुछ अच्छे से अच्छा हम कर सकते हैं, वह हमारा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य पालन करने का स्वभाव सदाचार है। इसी को वृत्त कहते हैं। वृत्त कर्त्तव्य-परायणता का दूसरा नाम है।

२. वृत्त का स्वरूप

'भला पुरुष अच्छा लक्ष्य-वेधी वा निशानाबाज है।'

इस कथन में भले पुरुष को निशानाबाज से उपमा दी गयी है। यह बहुत उचित उपमा है। अच्छे निशानाबाज में दो गुण होते हैं:—

(१) वह अपने लक्ष्य को भली प्रकार देखता है: ऐसा अच्छा कि उस समय लक्ष्य के अतिरिक्त उसे कुछ दीखता ही नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) अपने काम में अभ्यास से उसने ऐसी कुशलता प्राप्त कर ली है कि कमान का तीर सीधा निशान पर जा लगता है।

यह दोनों गुण इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनमें से किसी एक को ही पर्याप्त समझ लेना अस्वाभाविक नहीं। इस भ्रान्ति का एक अच्छा उदाहरण प्राचीन यूनान के विचार में मिलता है।

सुकरात ने कहाः 'वृत्त ज्ञान है।'

अरस्तु ने कहाः 'वृत्त एक आदत है।'

सुकरात ने लक्ष्य को अच्छी तरह देखने को आवश्यक ही नहीं, पर्याप्त भी समझा। अरस्तु ने अभ्यास-जन्य योग्यता को बहुत महत्व दिया। दोनों ने जितना देखा, ठीक देखा ; परन्तु एक भाग ही देखा। इन दोनों मतों पर तनिक विचार करें।

३. सुकरात : मन्तव्य विवरण

सुकरात ने कहाः 'वृत्त ज्ञान है।'

इस कथन में उसने दो धारणाओं का वर्णन किया—

(१) कोई पुरुष, ज्ञान के अभाव में, भला काम कर नहीं सकता।

(२) भले कर्म की बाबत जानते हुए, कोई मनुष्य उसे किये बिना रह नहीं सकता।

पहली धारणा के मानने में कठिनाई नहीं। जिस पुरुष को शुभाशुभ का ज्ञान ही नहीं, उसका कर्म लाभकारक वा हानिकारक हो सकता है, शुभ वा अशुभ नहीं हो सकता। उन्मद पुरुष की क्रियाओं को हम नैतिक निर्णय का विषय नहीं बनाते। दूसरी धारणा का मानना इतना सुगम नहीं। अनुभव बताता है कि भलाई बुराई का भेद जानते हुए भी, मनुष्य कई बार बुरा कर्म करता है। ऐसी स्थिति में, सुकरात के पक्ष में कहा जा सकता है कि—

(१) कुछ अवस्थाओं में उद्वेग का प्रभाव वा आदत का बल इतना अधिक होता है कि कर्त्ता को, कर्म करते समय, उसकी नैतिक जांच का अवसर ही नहीं मिलता। कार्य हो चुकने के पीछे, जब वह साधारण अवस्था में होता है, वह इसकी बुराई को देखता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कार्य करते समय भी वह बुराई को देखता था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) सामान्य स्थिति में कर्त्ता इस काम को बुरा समझता है, परन्तु उसे प्रतीत होता है कि जिस विशेष स्थिति में वह इस समय है, उसमें ऐसा करना बुरा नहीं।

ऐसा निर्णय बहुत आम होता है। इसी लिये कांट ने कहा था कि हमें अपनी हालत में व्यापक नियम में अपवाद नहीं करना चाहिये।

आलोचना

(१) सुकरात के भक्त उसकी भ्रान्ति का समाधान करते हुए कहते हैं कि उसने अन्य पुरुषों के लिये भी अपने आप को मापक बना लिया। उसकी हालत में तो यह ठीक था कि किसी कर्म की बुराई का ज्ञान होने पर उसका करना असंभव था; परन्तु साधारण पुरुषों की हालत में तो यह सत्य नहीं। जैसा अरस्तु ने कहा, सुकरात ने मानव प्रकृति में बुद्धि के अतिरिक्त दूसरे अंशों की ओर ध्यान नहीं दिया। साधारण मनुष्यों की हालत में यह अंश बहुत प्रभावशाली होते हैं।

(२) सुकरात के सिद्धान्त को स्वीकार करें, तो मनुष्य की स्वाधीनता कहां रहती है? यदि ज्ञान, प्रत्येक अवस्था में, हमें भला कर्म करने पर बाधित कर देता है, तो संकल्प का कोई भाग ही नहीं रहता। दूसरी ओर यदि बुरे कर्म अज्ञान का ही परिणाम हैं, तो हमारा दायित्व क्यों है? सुकरात के मतानुसार मनुष्यों में समझ–बूझ का ही भेद है; भले बुरे का भेद है ही नहीं।

स्वाधीनता और दायित्व साथ साथ चलते हैं। जहां स्वाधीनता नहीं, वहां दायित्व के लिये भी स्थान नहीं।

(३) यदि वृत्त ज्ञान है, तो यह अन्य विषयों की तरह शिक्षा का विषय होना चाहिये। परन्तु वृत्त इतिहास, भूगोल, गणित आदि की तरह सिखाया नहीं जा सकता। वृत्त में तो व्यक्ति अपने आप को एक सांचे में ढालता है। जो कुछ उसे बनना है, उसकी नींव जन्म-जात गुणों में पड़ चुकी होती है। इस नींव पर भावी जीवन का रंग–रूप बाल्यावस्था में निश्चित हो जाता है। पीछे तो थोड़ा परिवर्तन हो सकता है। सुकरात भी कहता था कि वृत्त दूसरों से सीखने का विषय नहीं, परन्तु, उस की सम्मति में, इसका कारण यह है कि योग्य शिक्षक ही नहीं मिलते। दार्शनिक अभी यह निश्चिय ही नहीं कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाए कि वृत्त का स्वरूप क्या है। उसने ज्ञान को वृत्त का तत्व बताया, किन्तु अपनी बाबत यही कहता था कि वह कुछ नहीं जानता। दूसरों से कोई विशेषता उस में थी, तो यही थी कि उसे अपने अज्ञान का ज्ञान था, दूसरों को यह भी न था। अपने शिष्यों को वह कुछ बताता नहीं था; उन्हें मनन करने को कहता था, और आप भी उनके मनन में सम्मिलित हो जाता था।

(४) वृत्त के सम्बन्ध में एक और बात जो सुकरात ने कही, वह यह है कि वृत्त एक है। जब हम वृत्तों का वर्णन करते हैं, तो हम एक ही वृत्त के विविध रूपों की ओर संकेत करते हैं। यह नहीं होता कि किसी मनुष्य में एक वृत्त विद्यमान हो, और दूसरे वृत्त का अभाव हो।

वृत्त की एकता को पीछे स्टोइक विचारकों ने भी अपनाया। आरंभ में वह इसे बहुत दूर ले गये। उन के विचारानुसार, सारे मनुष्य बुद्धिमान हैं, वा मूर्ख हैं; और चूंकि बुद्धि ही वृत्त का आधार है, सारे मनुष्य या सर्वथा भले हैं, या सर्वथा बुरे हैं। दोनों पराकाष्ठाओं के बीच कोई नहीं आता। साधारण मनुष्य इसके विपरीत ख्याल करता है कि लगभग सारे इन पराकाष्ठाओं के मध्य में आते हैं।

स्वयं इस सिद्धान्त के समर्थकों को भी कठिनाई पेश आई। जब उनसे पूछा जाता था कि पूर्णतया-निर्दोष पुरुष को कहां देख सकते हैं, तो वह कहते थे—'संभवतः सुकरात और देवजानस ऐसे पुरुष हैं।' इससे भी कठिन प्रश्न यह होता था कि वे आप किस श्रेणी में हैं। वे न यह कह सकते थे कि वह पूर्णतया निर्दोष हैं, न यह कि उनमें और अन्य मनुष्यों में कोई भेद नहीं। अन्त में उन्हें अपने सिद्धान्त को नर्म करना पड़ा, और वे वृत्त में अधिक-न्यून के भेद को मानने लगे।

४. अरस्तु : मन्तव्य विवरण

अरस्तु ने निशान देखने की अपेक्षा तीर चलाने की योग्यता को अधिक महत्व दिया। यह योग्यता कैसे प्राप्त होती है ? अभ्यास ही इसका एक मात्र साधन है। 'गाते गाते ही मनुष्य रागी बनता है।' पशु जो कुछ सीखते हैं, अभ्यास से ही सीखते हैं। उन की सीखने की विधि यही है—'यत्न करो, यत्न करो और फिर यत्न करो'। जिस सफलता के लिये पहले बीस बार यत्न करना पड़ता है, शनैः शनैः थोड़ी बार के यत्न से प्राप्त हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाती है, और अन्त में पहले यत्न से ही प्राप्त होने लगती है। मनुष्य भी बहुत कुछ इसी प्रकार सीखते हैं, परन्तु वह इस के साथ बुद्धि का प्रयोग भी करते हैं। इस के दो परिणाम होते हैं :—

(१) वह दूसरों का अनुकरण कर सकते हैं, और इस तरह दूसरों के अनुभव से लाभ उठा सकते हैं। उन्हे स्वयं सारे असफल यत्न करने नहीं पड़ते।

(२) जहाँ दूसरों का अनुकरण सहायक न हो सके, वहां भी वह शारीरिक अंगों वा अन्य करणों का प्रयोग करने से पहले विचार कर लेते हैं। ईंट मसाला मोल लेने से पूर्व ही, इंजिनियर दिमाग़ में भवन का चित्र तैयार कर लेता है। मनुष्य समस्याओं का हल पहले मन में करता है; पीछे इसे क्रिया का रूप देता है।

बुद्धि अभ्यास के काम को सुगम बना सकती है; अभ्यास का स्थान नहीं ले सकती। अरस्तु कहता है—'अच्छी आदतें बनाओ'। अभी प्रमुख प्रश्न तो पड़ा है: अच्छी और बुरी आदत में भेद क्या है ?

अरस्तु की सम्मति में सारी खराबी का कारण यह है कि हम अतीवता की ओर लुढ़क जाते हैं: कभी अधिकता की ओर, और कभी न्यूनता की ओर। बीच का मार्ग, संतुलन वा संयम, श्रेष्ठ मार्ग है; इस से इधर उधर जाना दुराचरण है। वृत्त का तत्त्व मध्यता है।

अरस्तु इसे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करता है।

एक पुरुष धन के व्यय में सूझ बूझ से काम नहीं लेता, और इसे व्यर्थ ख़र्च करता है; दूसरा धन से चिमटा रहने में ही तत्पर रहता है। यह दोनों ठीक मार्ग पर नहीं चलते। जो पुरुष धन के व्यय में उदार है, वह इन दोनों अतीवताओं से बचता है, और ठीक मार्ग पर चलता है।

शक्ति के प्रयोग में भी ऐसा ही भेद दिखाई देता है। साहस कायरता और उद्दण्डता का मध्य है।

दूसरों के साथ व्यवहार करने में भी अक्खड़पन और दासत्व अतीवताएं हैं; सुशीलता इनके मध्य का मार्ग है।

इस मध्य का निश्चय कैसे कर सकते हैं ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गणित में ऐसा निश्चय सुगम है। ५ और ११ का मध्य दोनों के योग का आधा है। किसी सीधी रेखा का मध्य जानने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उसे माप लें, और यह देख लें कि उसका आधा कहाँ तक पहुँचता है। शुभाशुभ के सम्बन्ध में यह सरल विधि काम नहीं देती। न हम अपव्यय और कृपणता का, और न ही कायरता और उद्दण्डता का योग कर सकते हैं। योग ही नहीं कर सकते, तो उसे दो बराबर के भागों में बाँट कैसे सकते हैं? दो अतीव अशुभों के मध्य का निश्चय व्यावहारिक–बुद्धिमत्ता रखने वाला पुरुष ही कर सकता है।

यह मध्य सब मनुष्यों के लिए एक नहीं होता। जो कुछ एक के लिए मध्य है, वह दूसरे के लिए अतीव हो सकता है। मनुष्यों के कार्य उनके व्यक्तित्व और वर्त्तमान अवस्था की आपसी क्रिया–प्रतिक्रिया पर निर्भर होते हैं। मध्य मार्ग का निश्चय करने के लिए इन दोनों को ध्यान में रखना होता है; और प्रत्येक मनुष्य ऐसा करने की योग्यता नहीं रखता।

आलोचना

(१) साधारण मनुष्य चाहता है कि जब कोई समस्या सामने आए, तो तुरन्त उसका हल मिल जाए। मध्य मार्ग को जानने के लिए आवश्यक है कि हम आप व्यावहारिक-बुद्धि रखते हों, वा अन्य पुरुष से, जो ऐसी बुद्धि रखता हो, परामर्श ले सकें। स्थिति यही है, तो अरस्तु सुकरात के बहुत निकट आ जाता है। हर हालत में बुद्धि से प्रकाश लेना होता है।

(२) अरस्तु ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये हैं, और यह बताने का यत्न किया है कि प्रत्येक अवस्था में मध्य मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है। इस धारणा में दो भाग हैं--

(१) प्रत्येक वृत्त के सम्बन्ध में अधिकता और न्यूनता दो अतीवताएँ विद्यमान होती हैं।

(२) यह दोनों अतीवताएं निकृष्ट होती हैं।

इन दोनों पर विचार की आवश्यकता है।

अरस्तु से पहले अफ़लातूं ने चार मौलिक वृत्तों पर विस्तार से लिखा था। ये वृत्त बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अरस्तु ने अपने उदाहरणों में साहस और संयम को लिया है। हम यहाँ उसके सूत्र को बुद्धिमत्ता और न्याय पर लागू करें।

बुद्धिमत्ता की न्यूनता तो समझ में आती है, परन्तु किस विन्दु से आगे जाकर बुद्धिमत्ता वृत्त नहीं रहती, और दोष बन जाती है ? हम यह चिन्तन नहीं कर सकते कि किसी हालत में भी बुद्धि की अधिकता इसे दोष बना देती है। बुद्धिमत्ता पर अरस्तु का सूत्र लागू नहीं होता।

न्याय का अर्थ प्रत्येक को उस का हक देना है। इसकी हालत में अधिकता और न्यूनता दोनों सम्भव हैं। अन्याय किसी पुरुष को उसके हक से वा उसके भाग से वंचित करना है। किसी को उसके अधिकार से अधिक देना क्या है? एक अवस्था तो यह है कि जो कुछ उसे दिया जाता है, वह किसी अन्य पुरुष का अधिकार था, और वह उसे दिया गया है। यह भी अन्याय है। परन्तु यह भी हो सकता है कि देने वाला अपनी सम्पत्ति में से किसी को उसके अधिकार से अधिक देता है। दान ऐसी हालत है। मैं किसी मज़दूर को उसकी नियत मज़दूरी से कुछ अधिक दे देता हूं। क्या यह दोष है ? राज-नियम की दृष्टि में किसी को उसके अधिकार से कम देना अनुचित है, और राज्य इसकी आज्ञा नहीं देता। यदि किसी को उसके अधिकार से अधिक दिया जाय, तो राज्य ऐसे त्याग को दूषित कर्म नहीं समझता। नीति की भी यही धारणा है। मुझ पर अधिकार तो किसी किसी का है; बहुसंख्या की हालत में अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मैं देश, काल, और स्थिति को ध्यान में रख कर इनमें से किसी के लिये कुछ करता हूं, तो यह तो भला कर्म है। अरस्तु की सम्मति में न्याय से परे जाना वैसा ही बुरा है, जैसा उस से इधर रहना बुरा है। यह धारणा मान्य प्रतीत नहीं होती।

(३) अरस्तु ने शुभ और अशुभ के भेद को मात्रा का भेद बना दिया है। जो कुछ एक मात्रा में श्रेष्ठ है, वह अधिक वा न्यून होने से अश्रेष्ठ बन जाता है; अपने आप में न कुछ शुभ है, न अशुभ है। नैतिक बोध इसे स्वीकार नहीं कर सकता। जिन धारणाओं को स्वीकार करके नीति चलती है, उनमें प्रथम तो यही है कि शुभ और अशुभ में जाति भेद है; शुभ अशुभ नहीं बन सकता, और अशुभ शुभ नहीं बन सकता। सत्य और असत्य की तरह, इनका भेद भी प्राकृत है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१. अफ़लातूं के मौलिक वृत्त

अफ़लातूं सुकरात का शिष्य और अरस्तु का गुरु था। साधारण क्रम में, उसके सिद्धान्त का वर्णन अरस्तु से पहले होना चाहिये। यहाँ क्रम को बदलने का कारण यह है कि सुकरात और अरस्तु के विचार का विषय एक ही था : वह दोनों वृत्त के स्वरूप को समझना चाहते थे। अफ़लातूं ने तनिक भिन्न प्रश्न को अपने विचार का विषय बनाया। उसने मौलिक वृत्तों के निरूपण का यत्न किया।

अफ़लातूं ने नीति को राज–नीति पर आधारित किया। 'अच्छा पुरुष अच्छे राज्य का अच्छा नागरिक है।' ऐसी स्थिति में पहला काम तो यह है कि अच्छे राज्य की बनावट की बाबत निश्चय करें। अच्छा राज्य मानव प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। मनुष्य की आत्मा के तीन भाग हैं—बुद्धि, साहस, और वासनाएं। अच्छे राज्य में भी तीन वर्ग होने चाहिए। पहले वर्ग का काम व्यवस्था निश्चित करना है; दूसरे का काम इस व्यवस्था को लागू करना है। पहले वर्ग का विशेष चिन्ह चिन्तन वा विचार है; दूसरे का शक्ति वा बल है। वास्तव में पहला वर्ग शासन करता है; दूसरा वर्ग शासन करने का करण है। व्यवस्था बनाने और व्यवस्था चलाने वालों की संख्या तो सीमित होती है; बहु-संख्या का काम व्यवस्था पर चलना होता है। व्यवस्था की आवश्यकता इस लिए है कि सर्वसाधारण अपना अपना काम बिना रोक टोक के कर सकें। यह काम प्रमुख रूप में आजीविका के लिए श्रम करना है। यह बहुसंख्यक वर्ग वा सर्वसाधारण का काम है। राज्य का काम भले प्रकार तभी चल सकता है, जब सारे वर्ग अपना नियत काम करें, और अन्य वर्गों को उनका काम करने दें।

व्यक्ति राज्य का छोटा नमूना है। जो गुण अच्छे राज्य में पाए जाते हैं, वैसे ही अच्छे नागरिक में होने चाहिएं। यह गुण बुद्धिमत्ता, साहस, और संयम हैं। बुद्धि का काम शासन करना है; साहस इस शासन का करण वा साधन है। वासनाओं का काम शासन वा नियम में रहना है। इन तीनों सद्गुणों का संतुलन वा सामंजस्य न्याय है।

यह चार अफ़लातूं के मौलिक वृत्त हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य वृत्त भी इन के अन्तर्गत आ जाते हैं, वा इन पर निर्धारित हैं। सत्य का यहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिक्र नहीं, और कुछ लोग इसे परम-धर्म भी कह देते हैं। सत्य बोलना स्वाभाविक है। जब हम असत्य बोलते हैं, तो इसका कोई कारण होता है। या तो हम स्थिति को समझते ही नहीं, या भयभीत होकर सत्य कहने का साहस नहीं कर सकते। यह भी हो सकता है कि हम स्वार्थ के वश में असत्य कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो पुरुष बुद्धिमान हो, साहसी हो, और अपने हित के साथ दूसरों के हित का भी ध्यान रखता हो, उसके लिए असत्य कहने का कोई कारण ही नहीं होता। चोरी करना, धोखा देना तो अन्याय के रूप ही हैं।

आलोचना

(१) जर्मनी के दार्शनिक शापनहावर ने अफ़लातूं की सूची पर कड़ा आलोचन किया है। वह कहता है कि बुद्धिमत्ता और साहस का मूल्य अपने आप में कुछ नहीं; इनका मल्य उस प्रयोग पर निर्भर है, जो इनका किया जाता है। चोर और जुवारी भी बुद्धि का प्रयोग करते हैं। ऐसा करने से उनका आचरण सदाचरण नहीं हो जाता। डाकू डाका डालने में साहस का प्रयोग करते हैं। इससे डाका डालना भला कर्म नहीं हो जाता। संयम और न्याय दोनों अनिश्चित प्रत्यय हैं। अरस्तू ने कहा था—जो कुछ एक पुरुष के लिए संयम वा मध्यमार्ग है, वह दूसरे के लिये असंयम है। न्याय की बाबत जो मतभेद है, पह तो अफ़लातूं ने ही अपने 'गण-राज्य' में प्रकट कर दिया है।

शापनहावर का आलोचन निर्मूल प्रतीत नहीं होता। बात यह है कि शापनहावर ने 'वृत्त' को जिस अर्थ में लिया, वह अफ़लातूं के अर्थ से भिन्न है। अफ़लातूं ने वृत्त शब्द को उत्तमता वा उत्कृष्टता के अर्थ में लिया; शापनहावर ने इसे 'नैतिक उत्कृष्टता' के अर्थ में लिया। यूनानी तो मित्रता को भी वृत्त समझते थे। विस्तृत अर्थ में बुद्धिमत्ता और साहस वृत्त ही हैं।

(२) सुकरात ने वृत्त को बुद्धिमत्ता तक सीमित रखा; अफ़लातूं ने तीन अन्य वृत्तों को इसके साथ मिला दिया। कारण यह था कि जीवन के लक्ष्य की बाबत दोनों के मत में कुछ भेद था। सुकरात वृत्त को ही लक्ष्य समझता था; अफ़लातूं ने सुख वा तुष्टि को भी इसके साथ मिला दिया।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जीवन के सुख के लिए आवश्यक है कि मनुष्य में साहस और संयम हो, और मनुष्य एक दूसरे के साथ न्याय का व्यवहार करें।

(३) अफ़लातूं की सूची में, पहले तीन वृत्त वैयक्तिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं; चौथा सामाजिक जीवन के साथ। थोड़े से अर्थ-परिवर्तन और विस्तार के साथ, यह सूची वर्त्तमान स्थिति में भी बहुत मूल्य की चीज है।

बुद्धिमत्ता प्रायः जन्म-जात गुण है। जीवन के पहले १७–१८ वर्षों तक इसका उत्थान होता है; पीछे तो इसका प्रयोग ही मनुष्य के वश में होता है। जो कुछ बुद्धि भी किसी को प्राप्त है, उसका सदुपयोग करना जीवन की सफलता के लिये आवश्यक है। सुकरात कहता था—'वह जीवन भी क्या जीवन है जिसकी नींव सोच-विचार पर न हो ?' इस सोच-विचार के सम्बन्ध में, दो स्थितियाँ ऐसी हैं जिनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों की हालत में सोच-विचार को आगे आने का अवसर ही नहीं मिलता, और उत्तेजन और उद्वेग क्रिया को जन्म दे देते हैं। कुछ अन्य पुरुषों की हालत में यह सोच-विचार समाप्त होने में ही नहीं आता। शेक्सपियर ने इन दोनों स्थितियों का वर्णन अपने प्रसिद्ध नाटकों, 'लीयर' और 'हैमलेट' में किया है। सोच-विचार का प्राकृत फल यह है कि मनुष्य अपने लिए कुछ निर्णय कर सके।

जब यह निर्णय हो जाय, तो मनुष्य का काम है कि अपनी सारी शक्ति के साथ इसमें लग जाय। जो कुछ बाधा भी प्रस्तुत हो, उसका साहस से मुकाबला करे। और जब तक आवश्यक हो, यत्न करता जाय। इस 'धृति' को भी साहस का भाग समझना चाहिए। 'यदि एक चोट से कील नहीं गड़ती, तो दूसरी लगाओ, और तीसरी लगाओ।' मनु-स्मृति में धर्म के दस लक्षणों में 'धृति' को प्रथम स्थान दिया है।

प्राचीन यूनानी साहस को बहुधा योद्धाओं का विशेष गुण समझते थे। नई परिस्थिति में इसके प्रयोग को विस्तृत कर दिया गया है। विद्यार्थी, व्यापारी, वैज्ञानिक–सारे अपने काम में साहस का प्रयोग कर सकते हैं। साधारण नागरिक के लिये भी अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जिनमें उसे बहुमत के प्रतिकूल चलना होता है। वह अपने विश्वास को दूसरों की वाह-वाह से अधिक महत्व देता है। ऐसे साहस को 'नैतिक साहस' कहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयम के सम्बन्ध में भी, यूनानियों का दृष्टिकोण संकुचित था : वह इसे खान-पान और लैंगिक व्यवहार तक सीमित करते थे। अब हम इसे विस्तृत अर्थों में लेते हैं। जो पुरुष नावल पढ़ने, 'चित्र' देखने, वा साधारण चुनावों में समय का अधिक भाग व्यय करता है, और अन्य कार्यों की ओर उचित ध्यान नहीं देता, वह भी असंयमी है। हमारा शरीर कई ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों का संघात है। किसी एक इन्द्रिय को अनुचित प्रभुत्व दे देना असंयम है।

न्याय के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से आगे लिखेंगे।

६. 'योग-दर्शन' के 'क्लेश'

अफ़लातूं ने जीवन की प्रमुख उत्तमताओं का वर्णन किया। इनमें से किसी का अभाव जीवन की त्रुटि है। यदि इनके विपरीत गुण प्रभुत्व प्राप्त कर लें, तो स्थिति और भी बुरी हो जाती है।

जब नीति आदेश देती है--'सत्य-व्यवहार करो', तो इसी में यह आदेश भी निहित होता है—'असत्य व्यवहार न करो।' आदेश को एक वा दूसरे रूप में देखने से बहुत भेद नहीं पड़ता। यही वृत्तों और बुराइयों के सम्बन्ध में कह सकते हैं। अफ़लातूं ने जीवन को भावात्मक दृष्टि से देखा, और इसके प्रमुख उत्तम गुणों की सूची तैयार की। योगदर्शन ने इसे निषेधात्मक दृष्टि से देखा, और अवगुणों की सूची प्रस्तुत की। दोनों ने एक ही वस्तु को देखा, और यदि ठीक देखा, तो हम आशा कर सकते हैं कि दोनों एक ही परिणाम पर पहुंचेंगे। वास्तव में ऐसा ही हुआ है।

अफ़लातूं की सूची में प्रथम उत्तम गुण बुद्धिमत्ता है। योगदर्शन में प्रथम अवगुण (क्लेश) अविद्या है। अफ़लातूं ने दूसरे स्थान पर साहस को रखा है। साहस का तत्व निर्भयता है। अन्त में सारे भय मृत्यु-भय ही होते हैं। जिस वस्तु वा घटना का जीवन समाप्त करने के साथ दूर वा निकट का सम्बन्ध नहीं, उससे भयभीत होने का कोई अर्थ ही नहीं। योगशास्त्र में, इसे स्पष्ट करने के लिये, अभिनिवेष (मृत्यु–भय) को क्लेशों में दिया गया है। अफ़लातूं का तीसरा गुण संयम है। संयम का तत्व यह है कि कोई वासना, वासना–संघात में, अपना स्थान छोड़ कर प्रभुत्व न जमा ले। जब कोई वासना ऐसा प्रभुत्व जमा लेती है, तो वह संघात के अधिकार को अपना अधिकार बना लेती है। इस स्थिति को योगदर्शन में 'अस्मिता' का नाम दिया गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अस्मिता में आत्मा अपने आप को किसी विशेष चेतना–अवस्था के रूप में देखने लगता है। अफ़लातू ं का अन्तिम गुण 'न्याय' है। न्याय का अर्थ यही है कि प्रत्येक मनुष्य के मानव अधिकारों को स्वीकार किया जाय। बुद्धि तो स्पष्ट देखती है कि ऐसा होना चाहिये, परन्तु पक्षपात बीच में कूद पड़ता है, और बुद्धि को अपना काम करने नहीं देता। पक्षपात राग–द्वेष का रूप धारण करता है। जिन्हें हम अपना समझते हैं, उनके दोष नहीं देख सकते; जिन्हें पराया समझते हैं, उन के गुण नहीं देखते। योग के क्लेशों में राग–द्वेष भी प्रस्तुत है।

अब दोनों सूचियों को एक साथ देखें:—

अफ़लातू ं के वृत्त वा गुण	योग के क्लेश वा अवगुण
बुद्धिमत्ता	अविद्या
साहस	अस्मिता
संयम	राग–द्वेष
न्याय	अभिनिवेष

सूचियां एक ही हैं; क्रम में कुछ भेद है। यह समानता बहुत दिलचस्प है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. अहिंसा, न्याय, और उपकार

वृत्तों की जो सूची अफ़लातूं ने दी, उन में बुद्धिमत्ता, साहस और संयम का संबन्ध प्राय: वैयक्तिक जीवन से है ; न्याय का प्रयोग दूसरों के संबन्ध में होता है। कोई पुरुष अपने साथ अन्याय नहीं कर सकता। अफ़लातूं ने सारे सामाजिक कर्त्तव्य को न्याय के रूप में देखा। कुछ लोग इससे भी आगे गये, और उन्होंने समस्त कर्त्तव्य को न्याय के अन्तर्गत समझा। हम इन दोनों धारणाओं में किसी को स्वीकार नहीं कर सकते। न्याय न समस्त कर्त्तव्य है, और न सारा सामाजिक कर्त्तव्य ही है।

सामाजिक कर्त्तव्य में अहिंसा, न्याय और उपकार तीन अंश हैं। इन तीनों का घनिष्ठ संबन्ध है। अहिंसा में हम किसी अन्य मनुष्य का अधिकार छीनते नहीं; न्याय में हम उसे उसका अधिकार दे देते हैं; उपकार में, उसकी कठिनाई का ध्यान करके, हम उसे उसके अधिकार से अधिक देते हैं।

इन तीनों के संबन्ध में क्रिया और इस की प्रेरक भावना में भेद करना चाहिये। एक ही क्रिया विभिन्न स्थितियों में हो सकती है। पहली स्थिति अज्ञान की स्थिति है ; दूसरी स्थिति किसी विषय वा उद्वेग के अरोक प्रभाव की स्थिति है ; तीसरी स्थिति संकलिपत क्रिया की स्थिति है। एक पुरुष जंगल में शिकार कर रहा है। गोली से चीता घायल हो जाता है, और साथ ही एक पुरुष, जो झाड़ो में छिपा था, मर जाता है। यह हत्या अज्ञान का फल है। एक और हालत में, किसी दुराचारी के घृणित व्यवहार ने इस पुरुष को भड़का दिया है, और इसने उसकी हत्या कर दी है। तीसरी हालत में, हत्या सोच--विचार के बाद निश्चय का फल है। हिंसा तो तीनों हालतों में हुई है, परन्तु हमारा नैतिक निर्णय तीनों हालतों में एक ही नहीं होता।

अब इन तीनों की बाबत अलग अलग विचार करें।

(१) अहिंसा

१. अहिंसा क्या है ?

अहिंसा निषेधात्मक प्रत्यय है। इसका अर्थ हिंसा न करना, इससे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बचना, है । यह क्रिया नहीं, एक विशेष क्रिया पर रोक लगाना है ।

हिंसा दो रूप ग्रहण करती है :—

(१) हम पहल करते हैं, और किसी अन्य मनुष्य को हानि पहुंचाते हैं। यह हानि प्राणान्त के अतिशय रूप में हो सकती है, वा किसी नर्म रूप में होती है ।

(२) विवाद में पहल किसी अन्य मनुष्य की ओर से होती है । हमारी क्रिया प्रत्याक्रमण के रूप में होती है । हम उसके आक्रमण से बचने के लिये उस पर प्रहार करते हैं, वा पीछे उसे दंड देना चाहते हैं।

पहली अवस्था में तो आक्रमण को निन्दनीय समझा ही जाता है ; दूसरी अवस्था में मतभेद का अवकाश है। जो लोग अहिंसा को परम धर्म का पद देते हैं, वह दोनों अवस्थाओं में हिंसा को बुरा कहते हैं ।

हमारे देश में, गौतम बुद्ध और गांधीजी ने अहिंसा पर विशेष बल दिया है। बुद्ध ने इसे वैयक्तिक शील में प्रथम स्थान दिया ; गांधी जी ने वैयक्तिक जीवन के साथ, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी इसे नियम बनाना चाहा। उन दोनों ने इसे विभिन्न नीवों पर खड़ा किया। यह नीवें क्या हैं ?

२. बुद्ध और गांधीजी का समाधान

अहिंसा के पक्ष में बुद्ध का हेतु यह है कि सारा जीवन वास्तव में एक ही है ; मेरे-तेरे का भेद तो नाम-रूप का भेद है। किसी प्राणी की हिंसा करना अपनी हिंसा करना ही है ; और अपनी हिंसा की आज्ञा तो हमारी प्रकृति ही नहीं देती ।

यदि हम बुद्ध की धारणा को स्वीकार करें कि सारा जीवन एक ही है, तो अहिंसा का पहला पक्ष तो समझ में आ जाता है ; दूसरे पक्ष के समझने में कठिनाई है। हिंसा करना बुरा है, तो हिंसा को न रोकना भी बुरा है। जीवन को बचाना हमारा कर्त्तव्य है, तो अपनी रक्षा की ओर से हम उदासीन नहीं हो सकते। आक्रमण करना और आक्रमण सहना दोनों बुरे हैं। बुद्ध ने इस परिणाम को स्वीकार नहीं किया। उसके विचार में बुराई का बदला बुराई से नहीं देना चाहिये। बुराई करने वाले को उसके हाल पर छोड़ देना चाहिये;

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो सके, तो बुराई का बदला भलाई में देना चाहिये। द्वेष द्वेष से जीता नहीं जाता, प्रेम से जीता जाता है।

गांधीजी ने अहिंसा के प्रयोग में नीति और राज-नीति में भेद नहीं किया। वह इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी लागू करने के पक्ष में थे। दूसरे महायुद्ध में जब जर्मनी की सेनाएं इंग्लैंड के पास आ पहुँचीं, और ख़्याल था कि किसी समय भी इंग्लैंड पर आक्रमण हो सकता है, तो उन्होंने अंग्रेजों को परामर्श दिया कि वह आक्रमण का मुकाबला न करें। अंग्रेज़ इस परामर्श को समझ ही न सकते थे, इस पर अमल करना तो अलग रहा। अहिंसा में उनके ऐसे विश्वास का कारण यह था कि वह मानव प्रकृति को अनिवार्य रूप में श्रेष्ठ समझते थे। मनुष्यों वा समूहों की बुद्धि भ्रष्ट होती है, तो थोड़े समय के लिये ही भ्रष्ट होती है। समय बीतने पर अपराधी को अपने व्यवहार के अनुचित होने का बोध आप ही हो जाता है। यदि हम उसके साथ प्रेम करें, तो उसकी आत्मा शीघ्र जाग उठेगी। हमें उतावली न करनी चाहिये। स्वयं गांधीजी में सब्र की निस्सीम क्षमता थी। साधारण मनुष्यों में यह योग्यता नहीं होती।

इस सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखने की है। भूत काल में हिंसा करने वाले के साथ निपटना उस हिंसा से पीड़ित व्यक्ति का काम था, वा उसके परिवार वा साथियों का था। उस स्थिति में यह प्रश्न महत्व का प्रश्न था कि वह बदला ले, क्षमा कर दे, वा बुराई के बदले भलाई करे। अब अपराध का आखेट तो व्यक्ति होता है, परन्तु अपराधी के साथ निपटने का दायित्व समाज ने अपने हाथ में ले लिया है। जब डाकू किसी गृह में डाका डालते हैं, तो वह सामाजिक व्यवस्था पर आक्रमण करते हैं। सारा समाज उनके आघात का शिकार होता है। इस अपराध के साथ निपटना समाज का दायित्व है, और अधिकार भी है। जिन अपराधों का निपटारा राज्य के अधिकार में है, उनके सम्बन्ध में आखेट के क्षमा करने वा बदला लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) न्याय

१. प्राचीन यूनानियों के विचार

जैसा हम कह चुके हैं, अहिंसा का अर्थ यह है कि हम दूसरे के अधिकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को न छीनें; न्याय का अर्थ यह है कि जो अधिकार उसने हमारे सम्बन्ध में प्राप्त कर लिया है, हम उसे दे दें। किसी के घर में डाका डालना और उसका धन छीन लेना हिंसा है; किसी श्रमी को काम के बाद नियत मज़दूरी न देना अन्याय है। न्याय को हम वृत्त और कर्त्तव्य दोनों रूपों में देख सकते हैं। अफ़लातू ने न्याय को एक स्वतन्त्र वृत्त बताया था, परन्तु वास्तव में यह अन्य तीन वृत्तों का संतुलन वा सामंजस्य ही था। राज-नीति में भी न्याय का तत्व यही था कि तीनों वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय और श्रमी—अपना अपना काम बिना रोकटोक करते जायँ।

अरस्तु ने न्याय को सामाजिक वृत्त के रूप में ही देखा। न्याय दो प्रकार का होता है—

(१) विभाजक

(२) संशोधक

विभाजक न्याय का मौलिक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को उसके काम की पूरी क़ीमत मिले। सारे मनुष्यों का काम एक ही मूल्य का नहीं होता; इसका मूल्य उनकी योग्यता पर निर्भर होता है। इसलिये विभाजक न्याय का सूत्र यह है कि प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुकूल मिले। कुछ लोग कहते हैं कि न्याय का नियम बराबरी है। योग्यता पूर्ण रूप में व्यक्ति के अपने यत्न पर निर्भर नहीं होती। योग्यता की न्यूनता स्वयं एक आपत्ति है; इसके साथ भोग के साधनों में भी कमी कर देना एक आपत्ति को दो आपत्तियाँ बना देना है। कुछ लोग इससे भी आगे जाते हैं, और कहते हैं कि समाज को विस्तृत परिवार के रूप में देखना चाहिये, और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलना चाहिये। अरस्तु बराबरी के नियम को मानता है, परन्तु कहता है कि यह बराबरी मनुष्यों में नहीं, अपितु उनके कामों में होनी चाहिये। मात्रा और गुण को दृष्टि में रख कर काम की क़ीमत लगाई जाय; काम करने वाला कौन है, यह बात असंगत है। न्याय-युक्त विभाजन का नियम यह है—

'जितना योग कोई पुरुष किसी कार्य में देता है, उसी निसबत से उसे लाभ का भाग मिलना चाहिये।'

इसका एक सरल उदाहरण व्यापारी वा औद्योगिक कम्पनियों की हालत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में मिलता है। लाभ हिस्सों में बांटा जाता है। हिस्सों के मालिक कौन हैं? इसका ध्यान नहीं किया जाता।

समाज का काम चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। यह धन कर के रूप में प्राप्त किया जाता है। विभाजक-न्याय के दूसरे नियम को अरस्तु इन शब्दों में बयान करता है—

'सामाजिक व्यय के लिये, प्रत्येक मनुष्य को अपनी सम्पत्ति के अनुपात से देना चाहिये।'

राज्य कर को निश्चित करते हुए किस नियम को ध्यान में रखना चाहिये? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं। एक उत्तर के अनुसार राज्य-कर राज्य की दी हुई सुविधाओं का मूल्य है। इन सुविधाओं में जान-माल की रक्षा प्रमुख हैं। यह सब को एक समान मिलती हैं। पोस्टकार्ड का मूल्य सब के लिये एक है। इसी तरह समान सेवाओं के लिये सारे नागरिकों से एक दाम लेना चाहिये। दूसरे उत्तर के अनुसार, राज्य-कार्य सब का सांझा काम है, और इसमें प्रत्येक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार योग देना चाहिये। अरस्तु का उत्तर दूसरा उत्तर है।

'संशोधक-न्याय' में अपराधी को नहीं, अपितु अपराध को देखा जाता है। बच्चों और उन्मद पुरुषों को एक अलग श्रेणी में रखा जाता है, क्योंकि उनके काम को अपराध समझा ही नहीं जाता। जहाँ स्वाधीनता और दायित्व विद्यमान हैं, वहाँ एक ही अपराध के करने वाले मनुष्य राजनियम की दृष्टि में सब बराबर हैं।

२. स्पेन्सर

नवीन विचारकों में स्पेन्सर ने न्याय पर बहुत कुछ लिखा है। स्पेन्सर व्यक्ति-वादी था, और इसलिये स्वाधीनता पर बहुत बल देता था। वह विकास-वादी भी था, और समझता था कि प्रकृति के नियम योग्यों को बचाने और अयोग्यों को समाप्त करने में लगे हैं। यह दोनों नियम स्पेन्सर को दो विरोधी दिशाओं में खींचते थे। अन्त में स्वाधीनता की विजय हुई। राज्य का काम न्याय-व्यवस्था का लागू करना है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को सुख प्राप्ति के लिये यत्न करने का पूरा अधिकार है, परन्तु इस शर्त पर कि वह किसी दूसरे की समान स्वाधीनता पर आक्रमण न करे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्पेन्सर के व्यक्तिवाद और विकास-वाद के विरोध को स्पष्ट करने के लिये एक सरल उदाहरण लें।

एक पुरुष और स्त्री जो दोनों किसी असाध्य रोग में ग्रसित हैं, विवाह करना चाहते हैं। उनका रोग ऐसा है जो माता पिता से सन्तान में जा पहुँचता है। साधारण पुरुष की सम्मति में ऐसा विवाह अनुचित है। नैतिक दृष्टिकोण से वह अच्छा है वा बुरा है ? वह दोनों स्पेन्सर के सूत्र को मान्य समझ कर कहते हैं कि जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, वह अन्य पुरुष-स्त्रियों को विवाह-सम्बन्धी चुनाव में पूरी स्वाधीनता देते हैं। क्या इससे उनका विवाह उचित विवाह बन जाता है ? जिन मनुष्यों को इस सम्बन्ध से विशेष हानि पहुँचेगी, वह तो अभी पैदा नहीं हुए, और इसके विरुद्ध आपत्ति करने की स्थिति में ही नहीं। अब मानव की कान्शेन्स भावी बच्चों के अधिकारों को भी स्वीकार करने लगी है। विकासवादी स्पेन्सर को ऐसे विवाहों पर रोक लगानी चाहिये; व्यक्ति-वादी स्पेन्सर इन रोगियों की स्वाधीनता पर रोक नहीं लगाता।

व्यक्ति की स्वाधीनता की अपेक्षा समाज का हित अधिक महत्व रखता है; और इस हित को हम केवल स्वाधीनता के रूप में ही नहीं देख सकते। स्वाधीनता तो एक साधन है। मुख्य प्रश्न तो यह है कि किसी समाज के सारे सदस्य स्वाधीन हों, तो उनकी स्वाधीन क्रिया का प्रयोजन क्या हो।

स्पेन्सर के विचार में न्याय-भावना तीन मंज़िलों से गुज़रती है। पहली मंज़िल में न्याय का आधार 'स्वार्थ' है। प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है। यदि कोई उस पर आक्रमण करता है, तो वह प्रत्याक्रमण करता है। इस मंज़िल में न्याय का सूत्र यह होता है कि प्रत्या-क्रमण और आक्रमण बराबर हों। 'दाँत के लिये दाँत, और आँख के लिए आँख।' दूसरी मंज़िल में 'भय' प्रमुख होता है। आक्रमण करने वाला डरता है कि आक्रमण के साथ झगड़े का अन्त नहीं हो जायगा। वह अपने हित में आक्रमण नहीं करता। यह भी स्वार्थ है, परन्तु पहली मंज़िल के स्वार्थ से कुछ भिन्न है। वहां बदला न्याय का तत्व था; अब अहिंसा इसका तत्व बनती है। तीसरी मंज़िल में 'सहानुभूति' आगे आती है। व्यक्ति 'दूसरों के साथ' अनुभव करता है; अपने आपको उनकी स्थिति में रखकर विषय को देखता है। 'दूसरों के साथ' अनुभव करने का फल यह होता है कि वह 'दूसरों के लिए' अनुभव करने लगता है। अब वह आक्रमण से इसलिए परे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं रहता कि प्रत्याक्रमण से उसे भी दुख होगा, किन्तु इसलिये कि आक्रमण दूसरे को पीड़ित करेगा, और पीड़ा बुरी है।

तीसरी मंजिल के बाद न्याय-प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है। अब अहिंसा अपने ठीक रूप में प्रस्तुत होती है। अहिंसा 'वैर-त्याग' है। कुछ लोग इसे आगे बढ़ाकर, मैत्री को भी इसमें सम्मिलित कर देते हैं।

(३) परोपकार

१. परोपकार और उसके रूप

परोपकार अहिंसा और न्याय से आगे जाता है।

अन्याय में हम किसी दूसरे का हक़ उसे नहीं देते। हक़ वापिस देने का प्रश्न तब उठता है, जब दूसरे को सम्पत्ति किसी रूप में हमारे अधिकार में आ चुकी हो। जब ऐसा हुआ ही न हो, तो अन्याय हिंसा का रूप लेता है। इसमें हम दूसरे का हक़ छीनते हैं, और इसके लिए शक्ति का अनुचित प्रयोग करते हैं। हिंसा अन्याय की पराकाष्ठा है। अहिंसा और अन्याय को रोकने के लिए राज-नियम काम करता है। यह मुझे इस बात के लिए विवश नहीं करता कि जहां कुछ भी मेरे जिम्मे नहीं, वहाँ में दूसरों की सहायता करूं। यदि राज्य की दृष्टि में जनता के किसी भाग को विशेष आपत्ति में सहायता की आवश्यकता है, तो वह विशेष कर लगाकर सहायता कर देता है; और नागरिकों को प्रेरणा करता है, किन्तु उन्हें आदेश नहीं देता।

नागरिक ऐसी प्रेरणा को सुनते हैं। विशेष आपत्ति न हो, तो भी परोपकार को वृत्तों में ऊँचा पद दिया जाता है, और कुछ विचारक तो इसी को वृत्त का तत्व समझते हैं।

परोपकार प्रायः दो रूप धारण करता है।

(१) एक व्यक्ति दूसरे को कष्ट वा कठिनाई में देखता है, और उसे दूर करने के लिए त्याग करता है। ऐसे त्याग को दान कहते हैं। इसमें सहायक और सहायता लेने वाला सम्पर्क में आते हैं।

(२) किसी व्यक्ति के अस्थाई कष्ट को दूर करने के लिए नहीं, अपितु सामूहिक स्थिति को उन्नत करने के लिए त्याग किया जाता है। कुंआ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

खुदवाना, औषधालय, पुस्तकालय स्थापित करना, स्कूल कालेज की सहायता करना आदि ऐसे कार्य हैं।

निर्धन जाति में, जहां दुख की मात्रा अधिक होती है, दान की महिमा होती है। धनवान देशों में संस्थाओं की सहायता को महत्व दिया जाता है। ऐसी सहायता में देने वाले में अभिमान और लेने वाले में निकृष्टता का भाव पैदा नहीं होता। यों भी अच्छी से अच्छी सहायता जो एक पुरुष दूसरे की कर सकता है, वह उसे अपनी सहायता आप कर सकने के योग्य बनाना है; और यह काम संस्थाओं के द्वारा ही अच्छा हो सकता है।

२. परोपकार की नींव

नीति के लिए तो प्रश्न यह है कि परोपकार में जिस स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता है, वह किया क्यों जाय ? इस प्रश्न के कई उत्तर दिये जाते हैं। यहां हम तीन उत्तरों की ओर संकेत करेंगे।

(१) स्वार्थवाद

स्वार्थवाद कहता है कि परोपकार त्याग नहीं; यह तो अपने हित का साधन है। जो कुछ मेरे पास है, उसका थोड़ा भाग मैं दूसरों को दे देता हूं, ताकि शेष भाग को निश्चिन्त भोग सकूं। जो पुरुष अपने मकान का बीमा अग्नि-कम्पनी के पास कराता है, वह उपकार नहीं करता, अच्छा सौदा करता है। यही हाल दान देने वाले का है। सर्वार्थ के चित्रित चेहरे पर से चित्रण को उतार दें, तो स्वप्रेम वा स्वार्थ दीखने लगता है।

(२) सहानुभूति

दूसरे उत्तर के अनुसार स्वार्थवाद मानव-प्रकृति का यथार्थ विवरण नहीं। अपने हित की भांति दूसरों का हित भी हमारी प्रकृति में है। माता का प्रेम इसका उज्ज्वल उदाहरण है। मनुष्यों में ही नहीं, पशुओं में भी यह प्रेम तीव्र रूप में पाया जाता है। इसके बिना तो जाति का जीवन कायम ही नहीं रह सकता। अपरिचित मनुष्यों को कष्ट में देख कर भी हमारा जी भर आता है। कोई पुरुष कठिनाई में हमारी सहायता करे, तो हम उसके कृतज्ञ होते हैं। सहानुभूति हमारी प्रकृति का अंश है। नीति तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतना ही कहती है कि, संकुचित दायरे से निकल कर, सब मनुष्यों को अपनी सहानुभूति का पात्र समझें ।

इस समाधान के समर्थकों को यह बताना होता है कि हम संकुचित सीमाओं से, जो प्रकृति ने हमारे लिए नियत कर दी हैं, परे क्यों जाएं ? प्रश्न सन्तान वा अन्य निकट-सम्बन्धियों की सहायता का नहीं, किन्तु उस सहायता का है, जिसके लिए कोई दावा नहीं हो सकता ।

(३) सांझा भद्र

तीसरा उत्तर परोपकार को एक तीसरी नींव पर आधारित करता है । इसके अनुसार स्वार्थ और सर्वार्थ के मेल की खोज का आरम्भ ही भ्रान्ति से हुआ है । यह धारणा कि ये दोनों दो पृथक वस्तुएँ हैं, निर्मूल है । 'मेरा कद', 'मेरा-रंग-रूप', 'मेरा मकान' यह तो सार्थक शब्द हैं, किन्तु 'मेरा सत्य' निरर्थक शब्द है । सत्य तो सबके लिए एक ही है; उसके ज्ञान के सम्बन्ध में एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में भेद होता है । इसी तरह 'मेरा भद्र' और 'तेरा भद्र' भी निरर्थक शब्द हैं । भद्र सब का एक ही है; भेद इतना ही है कि सारे इस सांझे भंडार से एक मात्रा में ग्रहण नहीं करते ।

उपयोगितावाद के पक्ष में सिजविक ने इस प्रत्यय का अच्छा उपयोग किया है । वह कहता है—जब भोगवादी कहता है कि उसकी तृप्ति मूल्यवान है, तो उससे पूछना चाहिए कि यह क्यों मूल्यवान है ? क्या इसलिए कि यह तृप्ति है, या इसलिए कि उसकी तृप्ति है ? वह विचार करेगा, तो यही कहेगा कि तृप्ति होने के कारण यह मूल्यवान है । न जानता हुआ भी, वह 'सांझे भद्र' का समर्थन कर रहा है । दार्शनिक दृष्टि से, सर्वार्थ के पक्ष में यही सबल युक्ति है । भद्र सांझा है । इस प्रसाद को जितने मनुष्यों तक पहुँचाना संभव हो, पहुँचाना चाहिए । हमारी शक्ति सीमित है । व्यावहारिक दृष्टि से, इसमें कोई आपत्ति नहीं कि, पानी की लहरों की भाँति, केन्द्र से अन्तर बढ़ने के साथ, हमारी सहायता भी मध्यम होती जाय । परोपकार के सम्बन्ध में निष्पक्षता का प्रश्न असंगत है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५. सामाजिक व्यवस्था और उसके अंग

१. व्यवस्था की व्यापकता

कहते हैं आरंभ में मनुष्य फली के दानों की भांति एक दूसरे के समान होते हैं। सभ्यता के साथ कार्य-विभाजन, और इसके साथ व्यवहार की विभिन्नता प्रकट होती है। तथ्य यह है कि न तो आरंभ में विभिन्नता का अभाव होता है, न सभ्यता के प्रादुर्भाव के बाद समानता का अन्त होने लगता है।

जब बालक पैदा होता है, तो पशु-स्तर पर ही होता है; परन्तु उस में यह योग्यता होती है कि वह पशुओं से आगे निकल जाय। उसका लंबा बालपन और भाषा का प्रयोग उसे ऐसा करने के योग्य बनाते हैं। वह पशुओं की अपेक्षा बहुत अधिक सीख सकता है। सीखने की सामग्री जो उसकी पहुंच में है, वह भी निस्सीम सी प्रतीत होती है। वह अन्य मनुष्यों की बड़ी संख्या के सम्पर्क में आता है, और पूर्व की नसलों के अनुभव को अपना सकता है। प्रत्येक नसल का काम होता है कि नए प्रवेष्टाओं पर प्रचलित रहन-सहन की छाप लगा दें, और उन्हें समाज का अंग बना लें। समय आने पर यह भी परम्परा को, जिसे उन्होंने पूर्वजों से प्राप्त किया है, आने वाली नसल को पहुंचा दें।

सामाजिक जीवन के साथ व्यवस्था जुड़ी हुई है। प्रत्येक मनुष्य का व्यवहार अन्य मनुष्यों के व्यवहार से, जिनके मध्य में वह रहता है, बहुत कुछ मिलता है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यही है कि अनुकरण मानव-प्रकृति का अंश है। खरबूज़े को देख कर खरबूज़ा रंग पकड़ता है वा नहीं, मनुष्यों की अवस्था में तो ऐसा अवश्य होता है। लोकाचार का कुछ भाग प्रथा बन गया है, और इसी से इसका प्रभाव है। इसका अनुकरण होता है, परन्तु समाज इसे विशेष महत्व की वस्तु नहीं बनाता। कुछ भाग ऐसा होता है, जिस पर समाज की प्रशंसा की छाप लगती है। जो व्यक्ति उसके अनुकूल नहीं चलता, उसके पास से गुज़रने वाले उसकी ओर देखते हैं, और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भवें चढ़ा लेते हैं। तीसरा भाग महत्व-पूर्ण समझा जाता है। इसके सम्बन्ध में साधारण आशा ही नहीं की जाती कि इसका अनुसरण होगा, अपितु ऐसे अनुसरण का आदेश दिया जाता है। प्रथा, शिष्टाचार, और नियत-व्यवहार लोकाचार के तीनों भाग व्यक्ति के जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। समाज के कुछ अंग इसका विशेष साधन बनते हैं। इनके द्वारा ही व्यक्ति समाज की रीति, समाज के भावों और समाज के आदर्शों को अपनाता है। इन अंगों पर कुछ विचार करें।

२. परिवार

समाज का केन्द्रीय अंग परिवार है। परिवार का आरंभ काम-चेष्टा से होता है। पशु-प्रकृति में काम एक प्रमुख उत्तेजन है। मनुष्यों में भी यह उत्तेजन उतना ही व्यापक और बलिष्ठ है, जितना पशुओं में ह। मनुष्यों में, विवाह पुरुष और स्त्री के संबन्ध को स्थाई बना देता है। सन्तान की उत्पत्ति इस स्थिरता को पक्का बना देती है। अमेरिका में जहां विवाह-विच्छेद की सुविधाएं बहुत हैं, सन्तान--विहीन जोड़ों की अपेक्षा सन्तान वाले जोड़ों में ऐसा विच्छेदन २० % होता है।

परिवार की कुछ विशेषताएं इसे एक अनुपम संस्था बना देती हैं। इसके सदस्यों की संख्या बहुत अल्प होती है; इस लिए उनका संबन्ध अति घनिष्ठ होता है। इसका आधार रक्त पर है; इसलिए यहां प्रेम का राज्य होता है। किसी स्थिति को व्यापारी दृष्टि से नहीं देखा जाता। प्रत्येक को उसकी आवश्यकता वा बेबसी के अनुसार मिलता है। सब कुछ सांझा है, और मेरे-तेरे का प्रश्न नहीं उठता। प्रत्येक के व्यक्तित्व का सम्मान, और प्रत्येक की भलाई—यही सारे व्यवहार के मौलिक नियम हैं। परिवार की एक और विशेषता यह है कि सदस्यों की सीमित संख्या में भी, संबन्धों में पर्याप्त विभिन्नता है, और प्रत्येक को एक से अधिक स्थितियों में व्यवहार करने का अवसर मिलता है। सारे सदस्य एक स्तर पर नहीं होते, और वह एक दूसरे की क्रिया को दुहराते ही नहीं। इस विशेषता पर तनिक विचार करें।

परिवार में प्रमुख संबन्ध ये हैं:—

(१) पति-पत्नी का संबन्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) माता–पिता और सन्तान का सम्बन्ध

(३) सन्तान और माता–पिता का सम्बन्ध

(४) भाई–बहिनों का सम्बन्ध

जिन परिवारों में कोई सेवक होता है, वहाँ एक अन्य संबन्ध भी हो जाता है ।

परिवार का केन्द्रीय संबन्ध पति–पत्नी का संबन्ध है । विवाह दो व्यक्तियों को एक साँझा व्यक्तित्व दे देता है । विवाह के पूर्व, पुरुष और स्त्री 'मैं' और 'तुम' थे ; विवाह होने पर 'हम' बन जाते हैं । ऐसे मिलाप वा संयोग के लिए आवश्यक है कि–

(क) दोनों ऐसी अवस्था को पहुंच चुके हों कि वह इस नए पद–संचरण के पूरे अर्थ और दायित्व को समझ सकें । दायित्व को समझ ही न सकें, इस के परिपालन के योग्य भी हों । बाल–विवाह विवाह का उपहास है ।

(ख) यह सम्बन्ध दो व्यक्तियों में ही हो । विवाह में पुरुष और स्त्री को अपना समस्त दूसरे में मिला देना होता है । निस्सन्देह कोई पुरुष अपना समस्त एक से अधिक स्त्रियों को दे नहीं सकता ।

(ग) विवाह के साथ यह दृढ़ धारणा होनी चाहिए कि यह जीवन का सम्बन्ध है । वर और वधू जीवन भर साथ रहने की प्रतिज्ञा अपने सम्बन्धियों की उपस्थिति में ही नहीं करते, ईश्वर को साक्षी बना कर करते हैं ।

पारिवारिक जीवन का तत्व यह है कि पत्नी पतिव्रता हो, और पति पत्नीव्रत हो । इन दोनों में भी पत्नी के सदाचरण पर अधिक बल दिया जाता है । ऐसा क्यों है ? ह्यूम ने इसका एक आकर्षक समाधान दिया है । उसकी सम्मति में, सारी सभ्य जातियों में स्त्री का काम सन्तान का पालन-पोषण है, और पुरुष परिवार के निर्वाह के लिये श्रम करता है । यह श्रम कड़ा श्रम होता है, और पिता प्राकृत स्नेह के प्रभाव में इसे खुशी से करता है । उसे यह विश्वास होना चाहिए कि जिन बच्चों के पालन-पोषण का भार वह उठा रहा है, वह वास्तव में उसकी सन्तान हैं । माता के सम्बन्ध में तो यह सन्देह हो ही नहीं सकता । पिता के सम्बन्ध में हो सकता है, और वह चाहता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि इस संदेह की गुंजाइश ही न हो। साधारण बोल चाल में विवाहित स्त्री का सदाचरण पति-व्रता होना ही है।

माता-पिता का प्रेम सन्तान की भलाई को प्रमुख रखता है। भूल की संभावना इसलिए है कि इस प्रेम के साथ बुद्धिमत्ता सदा मिली नहीं होती। इसके फलस्वरूप सन्तान के हित के स्थान में उनका अहित हो जाता है। स्थिति को दीर्घ-दृष्टि से देखना चाहिए। दो बातों की ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। नैसर्गिक विकास में पहले पाँच-छः वर्ष माता-पिता बच्चे के प्रेम का पात्र होते हैं; इसके पश्चात् वह अपनी ओर दृष्टि फेरता है। १०–११ वर्ष की आयु में वह, अपने मित्रों की ओर झुकता है। यदि माता पिता, विशेष कर माता उसे अपने साथ बांध रखने का यत्न करे, तो वह उसके विकास में बाधा डालती है। दूसरा दोष यह हो जाता है कि माता-पिता बच्चों में भेद करते हैं। बच्चे इस भेदभाव को तुरन्त पहचान लेते हैं। बहुधा यह भेद ऐसे पुत्र के पक्ष में किया जाता है, जो कई बहिनों का अकेला भाई हो, सबसे बड़ा वा सबसे छोटा हो, वा कई वर्षों के अन्तर के बाद पैदा हुआ हो। ऐसे बच्चे को 'लाडला पुत्र' बनने से बचाना चाहिए।

माता-पिता की ओर बच्चों की भावना सम्मान की होनी चाहिए। परिवार में ही नागरिकता और अनुशासन की आरंभिक शिक्षा मिलती है। जब तक मनुष्य अपने आप पर शासन नहीं कर सकता, उसे दूसरों के शासन में रहना होता है, और माता-पिता का शासन ही सर्वोत्तम शासन है। नव-यौवन के साथ महत्व-पूर्ण शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होने लगते हैं। नवयौवन के आरम्भ होने से परिपक्व होने तक का समय बहुत कण्टकाकीर्ण होता है। इस समय की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि न माता-पिता और न बच्चे काल की गति को भली प्रकार समझते हैं। बच्चा मंजिल में चल रहा है, परन्तु भूल में समझता है कि उसने मंजिल को समाप्त कर लिया है, और परिपक्व हो गया है। दूसरी ओर माता-पिता समझते हैं कि अभी उसने इस मंजिल पर चलना आरम्भ ही नहीं किया।

भाई-बहिनों के सम्बन्ध में प्रेम, करुणा, और सम्मान को प्रकट होने का अवसर मिलता है। सबसे अच्छी स्थिति तो यह है कि बच्चों की आयु में बहुत भेद न हो। जहाँ दो तीन वर्ष का अन्तर होता है, वहाँ बच्चों में साथी और मित्र होने का भाव सहज ही व्यक्त हो सकता है। आवश्यकता इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बात की है कि बड़ा बालक 'अत्याचारी' न बन जाय, और छोटे बच्चों में 'निकृष्टता' का भाव न पैदा हो जाय। अच्छे परिवार में बच्चे एक दूसरे के सहायक ही नहीं होते, अपने नैतिक और सामाजिक विकास के लिए भी अमूल्य अवसर प्राप्त करते हैं।

३. स्कूल और कालेज

५–६ वर्ष की आयु में बच्चा पाठशाला में पहुँच जाता है। दस ग्यारह वर्ष तक स्कूल की शिक्षा जारी रहती है। इसके पीछे जिनको सुविधा हो, वह उच्च शिक्षा के लिए कालेज वा विश्वविद्यालय में पहुँच जाते हैं, और ५–६ वर्ष वहाँ व्यतीत करते हैं।

स्कूल में पहुँचने पर बच्चों की औपचारिक शिक्षा का आरम्भ होता है। बच्चे पाठशाला में पढ़ने जाते हैं, क्योंकि उनके माता पिता को उन्हें पढ़ाने की न योग्यता होती है, न अवकाश होता है। यों भी यह आवश्यक होता है कि बालक घर की संकुचित दुनिया से निकल कर विस्तृत दुनिया में पहुँचे। पाठशाला की दुनिया भी बहुत विस्तृत नहीं होती, परन्तु घर की दुनिया से तो विस्तृत होती ही है। वहाँ उसे अपने बराबर के बालकों से कंधे से कंधा रगड़ने का अवसर मिलता है। यह बड़े मूल्य की चीज है। अध्यापक विशेष यत्न न करें, तो भी आपसी रगड़ से वैयक्तिक विषमतायें कुछ दूर हो जाती हैं। वहाँ एक 'लाडला' नहीं होता, कई लाडले पहुँचे होते हैं; और इसके फलस्वरूप कोई लाडला नहीं रहता। निकृष्टता का भाव भी वहाँ कम हो जाता है, क्योंकि जिन भाई-बहिनों के कारण यह भाव बना हुआ था, उनकी संगत से छुटकारा मिल जाता है। स्कूल का वातावरण तो यह एक सीमा तक करता ही है, अध्यापकों का भी काम है कि विशेष यत्न से ऐसी त्रुटियों को दूर करें। स्कूल का पहला काम बच्चों को एक साथ चलाना है। भारत की प्रणाली में विद्यार्थियों का समान रहन-सहन एक आवश्यक चिन्ह था। अब विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न स्कूल खुले हैं। इसमें भी दोष नहीं, क्योंकि प्रायः एक वर्ग के बच्चे ही एक स्कूल में पढ़ते हैं। आपत्ति वहाँ आ जाती है, जहाँ कोई बच्चा किसी अन्य वर्ग के स्कूल में पहुँच जाता है, और अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना नहीं सकता।

विद्यार्थियों में बराबरी की भावना को पैदा करने के अतिरिक्त स्कूल वा कालेज का काम क्या है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक उपनिषद में कहा गया है कि आचार्य तीन प्रकार के होते हैं। कुछ आदेश देते हैं; कुछ शिक्षा देते हैं; और कुछ बन्धनों से मुक्त करते हैं। अन्य शब्दों में इसका अर्थ यह है कि आचार्य का काम आदेश देना, पढ़ाना, और स्वाधीनता प्रदान करना है। आरम्भ में आचार्य का प्रमुख काम आदेश देना है, अर्थात बच्चों की आदतें बनाना है। आदतों का बनना तो स्वाभाविक है। जो काम पाँच बार करें, छठी बार करना अनिवार्य न हो जाय, तो भी सुगम तो हो ही जाता है। आदत तन्तुजाल में मार्ग का बन जाना है। तन्तु-जाल में ऐसे मार्ग बन ही जाते हैं। जैसा विल्यम जेम्स ने कहा, बुद्धिमत्ता इसमें है कि तन्तु-जाल को शत्रु नहीं, मित्र बना लिया जाय। विद्यार्थियों में अच्छी आदतों का बनाना आचार्य का प्रथम कर्त्तव्य है। अध्यापन का काम तो पीछे होगा और होता रहेगा, आचार का बनाना प्रथम होना चाहिए।

आचार्य अध्यापक के काम को भी बहुत देर तक पीछे नहीं रख सकता। अध्यापन में हर कहीं पढ़ना, लिखना और गणित आरम्भ में ही आते हैं। इसके बाद क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। शिक्षा में तीन अंग प्रमुख हैं:—

(१) वह अंग जो विद्यार्थी को सुशील और सभ्य बनाता है।

(२) वह अंग जो उसे प्रकृति की दुनिया को समझने, और इसे प्रयोग में लाने के योग्य बनाता है।

(३) वह अंग जो कोई विशेष योग्यता देकर उसे जीवन निर्वाह के योग्य बनाता है।

स्कूल की शिक्षा का उद्देश्य आदतें बनाने के अतिरिक्त उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान देना है।

विश्वविद्यालय का काम इस परिक्रिया को आगे बढ़ाना है। एक बड़ा भेद जो आ जाता है, वह यह है कि अब विद्यार्थी अपने आप पर भरोसा करना सीखता है। उपनिषद के शब्दों में, आचार्य उसे स्वाधीनता प्रदान करता है। अच्छे प्रोफ़ेसर का काम, बनी बनाई वस्तु के रूप में, ज्ञान को विद्यार्थी के मस्तिष्क में भरना नहीं; उसके स्वाध्याय की देख-रेख करना है। विश्वविद्यालय को छोड़ने पर अध्ययन का काम समाप्त नहीं हो जाता; केवल बाह्य सहायता के बिना भी जारी रह सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आचार के निर्माण में, विद्यार्थियों का एक साथ रहना, एक साथ काम करना, एक दूसरे को और, इसके साथ, अपने आप को समझना बहुत महत्व रखते हैं । इंग्लैंड के पुराने विश्वविद्यालय, आक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज, ऐसे सम्पर्क पर बहुत बल देते रहे हैं । एक लेखक के शब्दों में, इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी रहते हैं, और साथ ही पढ़ भी लेते हैं । लंडन में वह पढ़ते हैं, और वहां उन्हें रहना भी पड़ता है । हमारे यहां अब अध्यापन ही प्रमुख है ; चरित्र-निर्माण गौण हो गया है ।

उच्च शिक्षा के संबन्ध में एक महत्व-पूर्ण प्रश्न इसके नियन्त्रण का है । शिक्षा देने वाले कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य और इसकी पूर्त्ति के साधनों का निश्चय करना उनका काम है । कुछ लोग इस स्थिति को स्वीकार करने पर उद्यत नहीं । तथ्य यह है कि मध्यकाल में शिक्षा धर्म के अधीन थी ; अब राज्य के अधीन है । नवीन परिस्थिति में शिक्षा को व्यवस्था में रखना अनिवार्य हो गया है । यह व्यवस्था किसी सशक्त केन्द्रीय संस्था के हाथ में ही हो सकती है । इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा बहुत महंगी वस्तु बन गई है, और अधिक महंगी हो रही है । यह राज्य की सहायता पर ही निर्भर है । राज्य के कर्म-चारी इस कथन को भुला नहीं सकते कि जो पुरुष रागी को पैसे देता है, अलाप का निश्चित करना भी उसी का अधिकार है ।

४. धर्म–सभा

औपचारिक शिक्षा का समय सीमित होता ह । ज्ञान और आचार दोनों के संबन्ध में, आचार्य का उद्देश्य यह होता है कि वह शिष्य को स्वाव-लंबित कर दे । व्यक्ति को व्यवस्था में चलाने का सारा भार परिवार और शिक्षकों पर नहीं होता । धर्म–सभा इसे अपना प्रमुख दायित्व बनाती है । जब परिवार का प्रभाव कम हो जाता है, और शिक्षालयों से भी संबन्ध टूट जाता है, तो व्यक्ति को उचित सीमाओं में रखने का काम बहुधा धर्म–सभा और राज–सभा के हाथ में होता है । धर्म–सभा का काम उसके हृदय का संशोधन है ; राज–सभा दृष्ट क्रिया को व्यवस्थित करने पर ही संतोष करती है । यह आज की अवस्था है । पहले धर्म-सभा भी अनुशासन पर भरोसा करती थी ; आदेश देती थी, और अपने आदेश को मनवाने के लिए शक्ति का प्रयोग करती थी । चूंकि राष्ट्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में दो बराबर की शक्तियां एक साथ काम नहीं कर सकतीं, धर्म-सभा और राज-सभा में चिर काल तक संघर्ष जारी रहा। पश्चिम में धर्म-सभा का उच्चतम अधिकारी दावा करता था कि वह पृथिवी पर परमात्मा का प्रतिनिधि है, और इसलिए कोई लौकिक शक्ति उसकी शक्ति के बराबर नहीं। मध्य-काल में रोम के पोप का शासन नरेशों पर भी चलता था। उसे राज-सिंहासन पर बिठाने और उस पर से उतारने का सामर्थ्य प्राप्त था। यह अवस्था देर तक कायम न रह सकी। नरेशों ने भी दावा किया कि वे परमात्मा के दिये हुए अधिकार से शासन करते हैं। यह दावा कहीं कहीं स्वीकृत हुआ, परन्तु बहुत अल्प काल के लिए। अन्त में शासकों ने शासन को अपना अधिकार घोषित किया, और धर्म-सभा को भी राष्ट्र की अन्य संस्थाओं की तरह राज-नियम के अधीन रहने पर विवश कर दिया। अब हर कहीं औपचारिक रूप में धर्म-सभा राज-सभा के अधीन है।

इस परिस्थिति ने धर्म-सभा के लौकिक प्रभाव को बहुत कम कर दिया है। वास्तव में इस परिवर्तन से धर्म-सभा का गौरव अपने क्षेत्र में बढ़ गया है। जो शक्ति पहले मनुष्यों के शरीरों पर शासन करने के लिए व्यय होती थी, वह अब आत्माओं को प्रेरित करने के लिए सुलभ है। शिक्षा पर जो अधिकार धर्म-सभा को था, वह भी अब नहीं रहा।

धर्म-सभा का काम अब प्रायः गृहस्थों में है। यह काम भी बड़े महत्व का काम है। सामाजिक जीवन का सारा काम गृहस्थों के हाथ में होता है। यदि धर्म-सभा उनके आचार का स्तर ऊँचा रख सके, तो जीवन के सारे अंशों पर इसका प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र के पतन का आरंभ व्यक्ति के नैतिक पतन से होता है। इस पतन को रोकने का सब से बड़ा साधन धर्म-सभा का प्रभाव है। वर्त्तमान युग की कठिनाइयों का एक प्रमुख कारण यह है कि धर्म-सभा का प्रभाव कम हो गया है, और कोई अन्य संस्था इस भार को उठा नहीं सकी।

५. अन्य संस्थाएं

व्यक्ति के सामाजिक जीवन के विकास के लिए समाज में अनेक अन्य संस्थाएं भी प्रस्तुत ह। इन संस्थाओं का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक नहीं होता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्येक मनुष्य अपने लिए देखता है कि कौन सी संस्था उसके लिए लाभकारी हो सकती है। बालक किसी परिवार में आ पहुंचता हैं; किसी निश्चय के फलस्वरूप वहां नहीं आता। उसके लिए पाठशाला का चुनाव भी उसके माता–पिता करते हैं। मनुष्यों का धर्म भी प्रायः उनके माता-पिता का धर्म ही होता है। जिन संस्थाओं का वर्णन अब कर रहे हैं, उनमें सम्मिलित होना प्रत्येक की इच्छा पर निर्भर है। परन्तु जब वह किसी संस्था में प्रविष्ट हो जाता है, तो उसके नियमों पर चलने पर भी बाधित हो जाता है। एक पुरुष हाकी टीम में शामिल होता है। खेल के समय अध्यक्ष कार्य-क्रम नियत करता है। वह पुरुष इसे ठीक नहीं समझता, और कहता है—'मैं क्यों इस पर चलूं ?' अध्यक्ष इतना ही कहता है, और इतना ही कह सकता है—'यह हाकी का खेल है।' नियमों का रूप तो गौण है; प्रमुख बात यह है कि जो नियम स्वीकृत हुए हैं, उन पर चलना अनिवार्य है। मर्यादा का महत्व व्यक्ति के मन पर अंकित हो जाता है। जो पुरुष किसी राज–नीतिक सभा में वा किसी धार्मिक समाज में शामिल होता है, उसे उस सभा वा समाज के अनुशासन में रहना पड़ता है। सभा वा समाज के लिए तो यह आवश्यक है ही, व्यक्ति के आचरण को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए भी यह अमूल्य सहायता है।

समाज में सब से बड़ी संस्था राज्य है। व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व इसी का है। जहां अन्य संस्थाओं में संघर्ष हो, वहाँ आक्षेप करना भी इसी का अधिकार है। इसका कार्य–क्षेत्र अति विशाल है; इसका अधिकार अबाधित है। इसकी बनावट और काम का संक्षिप्त विवरण अगले अध्याय में करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६. राष्ट्र : इसका स्वरूप और प्रक्रियाएँ

१. राष्ट्र का आकार

हमने देखा है कि नैतिक व्यक्ति अधिकारों का स्वामी और कर्त्तव्यों से बाधित है। राष्ट्र उसके अधिकारों की रक्षा करता है, अर्थात उसे अपनी शक्तियों का उचित प्रयोग करने की स्वतन्त्रता देता है। ऐसी स्वतन्त्रता देने की शक्ति उसमें है। इस शक्ति पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है। यह शक्ति ही देश में सबसे बड़ी शक्ति होती है। राष्ट्र का प्रथम चिन्ह यह है कि उसकी शक्ति देश में सर्वोपरि हो।

इस शक्ति का प्रयोग आवश्यकता के अनुसार होता है। प्रमुख आव-श्यकता यही है कि नागरिकों के अधिकार बने रहें, और वह अपना अपना काम कर सकें। राष्ट्र सारे अधिकारों को जन्म नहीं देता। कुछ अधिकार तो इसके सर्जन से पहले भी मान्य होते हैं। राष्ट्र का काम अधिकारों को निश्चित रूप देना और उनकी घोषणा करना है। सामाजिक जीवन की सरल अवस्था में आवश्यकता के अनुसार आदेश देने से काम चल जाता है; परन्तु जब यह जीवन मिश्र हो जाता है, तो ऐसे आदेशों का स्थान राज-नियम लेते हैं। राज-नियम सामान्य स्थिति के लिए बनाए जाते हैं। ऐसा होने से नागरिकों को स्पष्ट रूप में पता लग जाता है कि वह क्या कर सकते हैं, और क्या नहीं कर सकते। राजनियम के आधार पर नियन्त्रण करना राष्ट्र का दूसरा चिन्ह है।

नियमों का बनाना और उनका लागू करना राष्ट्र के अधिकारियों का काम है। प्रमुख काम नियम बनाना है। कहीं यह कार्य एक व्यक्ति करता है, कहीं व्यक्तियों का विशेष समूह करता है। कहीं इनके बनाने में जनता से पूछ लिया जाता है, कहीं ऐसा नहीं किया जाता। हर हालत में, राष्ट्र की सत्ता उसी समय तक रहती है, जब तक जनता में इसके आदेशों और नियमों को मानने की आम रुचि हो। ऐसी सामान्य रुचि के अभाव में, राष्ट्र की नींव दृढ़ नहीं होती। यह राष्ट्र का तीसरा चिन्ह है।

राष्ट्र के आदेश वा नियम निष्प्रयोजन नहीं होते। जहां अल्प संख्या का हित ही उद्देश्य हो, वहां भी इसे सर्वहित के रूप में प्रकट किया जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। जो राष्ट्र वास्तव में राष्ट्र के तत्व को व्यक्त करता है, उसमें सारे नियम लोकहित वा जनता के कल्याण के लिये बनते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस हित के साधनों की बाबत जो निश्चय होता है, वह ठीक निश्चय ही हो; न ही ऐसे निश्चयों में स्वार्थ आदि प्रेरकों का सर्वथा अभाव होता है। तो भी साधारण स्थिति में राज-नियम का उद्देश्य सामूहिक कल्याण होता है, और इसका रंग रूप सामान्य-संकल्प से निश्चित होता है। यह राष्ट्र का चौथा चिन्ह है।

राष्ट्र अपना काम चलाने के लिये राज्य वा गवर्नमेंट स्थापित करता है। राज्य में तीन प्रमुख अंग होते हैं—

(१) विधान-सभा

इसका काम राज-नियम को निश्चित रूप देना और उसे घोषित करना है। राज-नियम में यह भी बताया जाता है कि किसी विशेष नियम का उल्लंघन करने वाले को क्या दण्ड मिलेगा।

(२) न्याय-विभाग

न्यायकर्त्ता का काम राज-नियम का स्पष्टीकरण है। जब कोई विवाद उसके सम्मुख आता है, तो निर्णय करना उसका कर्त्तव्य है। जिन लोगों ने विधान बनाया है, उनका अधिकार उसके स्पष्टीकरण में नहीं होता।

(३) संचालन-विभाग

इसका कार्य विधान के अनुसार व्यवस्था का चालू करना है। न्याय-कर्त्ता किसी को दोषी ठहरा कर दण्ड नियत करे, तो दण्ड का देना न उसका काम है, न उसकी सामर्थ्य में है। संचालन-विभाग न्यायकर्त्ता के निर्णय को कार्यरूप देता है।

२. राष्ट्र का सर्जन

समाज एक प्राकृत सत्ता है। व्यक्ति का जीवन समाज में आरम्भ होता है; समाज में ही उसका उत्थान होता है। राष्ट्र के सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते। राष्ट्र एक मानुषी रचना है, जो विशेष कठिनाइयों से बचने में सहायक होती है। वह कठिनाइयां क्या हैं?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा हम देख चुके हैं, हाब्स के विचार में, प्राकृत अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का वैरी है। इस असह्य स्थिति का अन्त करने के लिये, लोग एक मनुष्य वा कुछ मनुष्यों को नियन्त्रण का अधिकार देते हैं। इस अधिकार पर वह कोई रोक नहीं लगाते। एक तरह से प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक अन्य मनुष्य से कहता है—'मैं अमुक पुरुष को अपने सारे अधिकार दे देता हूं, परन्तु इस शर्त पर कि तुम भी मेरी तरह अपने सारे अधिकार उसे दे दो। वह जो कुछ करना चाहेगा, हम सब की ओर से करेगा। हम सब को उसका आदेश मानना होगा, क्योंकि ऐसा करना ही हमारी स्वतन्त्रता है। उसके कर्म हमारे कर्म ही होंगे।'

हाब्स की सम्मति में ऐसे नियन्ता के अधिकारों पर कोई रोक नहीं हो सकती।

जान लाक (१६३२–१७०४) भी कहता है कि राष्ट्र का सर्जन मानव समाज का प्राकृत अवस्था से निकलना है। परन्तु प्राकृत अवस्था का जो चित्र उसके मस्तिष्क में था, वह हाब्स के चित्र से भिन्न था। लाक के विचार में प्राकृत अवस्था में मनुष्य 'प्राकृत नियम' के अधीन रहते थे। इस नियम को बौद्धिक नियम भी कह सकते हैं। इस अवस्था में सारे मनुष्य एक दूसरे के बराबर और स्वतन्त्र थे। राष्ट्र का निर्माण किसी असह्य स्थिति से निकलने के लिये नहीं, अपितु प्राकृत अवस्था की कुछ असुविधाओं से बचने के लिये हुआ। लाक का दृष्टिकोण हाब्स के दृष्टिकोण से दो बातों में भिन्न था—

(१) हाब्स के विचार में, प्राकृत अवस्था में सारे मनुष्य एक दूसरे के शत्रु थे; लाक के विचार में स्थिति ऐसी न थी।

(२) लाक ने राष्ट्र और राज्य (गवर्नमेंट) में भेद किया। आरम्भिक 'मुआयदा' वा इकरार राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में था। राष्ट्र ने अपनी सुविधा के लिये पीछे राज्य की स्थापना की, और उसे नियम बनाने और उनके संचालन का काम सौंप दिया। जनता ने राष्ट्र को समाप्त करने का अधिकार अपने पास नहीं रखा था, परन्तु राज्य को बदल देने का अधिकार रखा था। हाब्स राज्य के अधिकार को भी अबाध्य समझता था।

लाक के विचार में प्राकृत अवस्था बुरी अवस्था न थी। उद्देश्य तो प्राकृत नियम के अनुसार चलना था, परन्तु इस में कठिनाई यह थी कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस नियम के सम्बन्ध में मतभेद का बहुत अवकाश था। राष्ट्र के सर्जन का उद्देश्य यह था कि—

(१) प्राकृत नियम को, सर्व सम्मति वा बहुमत से, स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया जाय।

(२) विवाद की हालत में निर्णय किसी विख्यात और निष्पक्ष पुरुष पर छोड़ा जाय।

(३) ऐसे न्याय कर्त्ता के निर्णय को कार्य रूप देने के लिये पर्याप्त शक्ति प्रस्तुत की जाय।

विधान सभा अपना कार्य भले प्रकार निम्न हालतों में ही कर सकती है।

(१) इसके बनाए नियमों की उचित घोषणा की जाय।

(२) इन नियमों का उद्देश्य जनता का कल्याण हो।

(३) जो कर राज्य कार्य के लिये लगाए जायें, वह जनता की अनुमति से लगाए जायें।

(४) विधान सभा अपना काम किसी पुरुष वा पुरुषों के समूह को सौंप न सके।

हाब्स राज्य के परिवर्तन के पक्ष में न था; लाक ऐसे परिवर्तन को स्वाभाविक समझता था।

जीन जैक्स रूसो (१७१२–१७७८) ने एक और पग उठाया। लाक ने कहा था कि जनता ही शक्ति का स्रोत है, और वह, आवश्यकता पड़ने पर, इस शक्ति का प्रयोग करके राज्य को बदल सकती है। रूसो के विचारानुसार, यह शक्ति कभी कभी काम आने के लिये सुरक्षित नहीं रखी जाती, अपितु निरन्तर काम में लाई जाती है। सारे मनुष्य अपनी शक्तियों को एक साथ मिलाकर एक शक्ति-समुच्चय तैयार करते हैं। यह समुच्चय सबके अधिकारों की रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है। इस परिवर्तन का परिणाम व्यक्ति की स्थिति में क्या होता है? पहले वह, प्राकृत स्वाधीनता के कारण, जो कुछ करना चाहता था, कर सकता था; जो कुछ प्राप्त कर सकता था, कर लेता था। परन्तु उसकी शक्ति बहुत सीमित थी; अन्य मनुष्य उसके मार्ग में बाधा थे। अब उसकी चेष्टाओं पर रोक लग गई है, परन्तु इन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सीमाओं के अन्दर सारा राष्ट्र उसे सहायता देने का वचन देता है। अब वह अपने आपको शत्रुओं के नहीं, अपितु सहयोगियों के दरमियान पाता है।

राज-नियम जनता की मरज़ी का स्थूल आकार हैं। कोई मनुष्य अपने प्रति अन्याय नहीं कर सकता। इसी तरह जनता भी अपने साथ अन्याय नहीं कर सकती। राज-नियम, जहाँ तक वह सामान्य-संकल्प का प्रकटन है, अनैतिक हो ही नहीं सकता। अन्याय-युक्त नियम दावा करता है कि वह सामान्य-संकल्प का प्रकटन है, परन्तु उसका यह दावा अयथार्थ होता है।

लाक और रूसो दोनों ने प्राकृत अवस्था से निकल कर राष्ट्रीय व्यवस्था में आना आवश्यक समझा, परन्तु इस आवश्यकता के स्वरूप की बाबत उनके विचारों में भेद था। लाक एक निष्पक्ष न्यायकर्त्ता की आवश्यकता अनुभव करता था; रूसो की दृष्टि में प्राकृत अवस्था की प्रमुख त्रुटि यह थी कि व्यक्ति की शक्ति बहुत थोड़ी थी, और इससे न उसकी रक्षा हो सकती थी, न उसका काम भले प्रकार चल सकता था। राष्ट्र के सर्जन से सामूहिक शक्ति उसकी शक्ति ही हो गयी।

३. राष्ट्र के नियन्त्रण की नींव

अब हम यह विचार कर सकते हैं कि राष्ट्र को नागरिक पर नियन्त्रण करने का अधिकार क्यों है? अन्य शब्दों में, मुझे राष्ट्र का आदेश क्यों मानना चाहिये?

हाब्स से पूछें, तो वह कहेगा—'तुम इसमें विवश हो; राज्य की शक्ति के सामने झुकना तुम्हारे लिये अनिवार्य है; यह तुम्हारे चुनाव का प्रश्न ही नहीं।' 'शक्ति ही अधिकार है।' हमारी बुद्धि इस समाधान को स्वीकार नहीं करती। यह कठोर तथ्य तो हो सकता है, परन्तु हम तो जानना चाहते हैं कि राष्ट्र की शक्ति के सामने झुकना हमारा कर्त्तव्य क्यों है?

'मुआयदा' का सिद्धान्त कहता है कि राष्ट्र का अधिकार हमारा दिया हुआ अधिकार ही है; उसके आदेश को मानना अपनी मरज़ी पर चलना ही है। राज-नियम का पालन और स्वाधीनता एक ही वस्तु हैं। हम पूछते हैं कि हमने कब राष्ट्र को अधिकार दिया था कि वह हम पर शासन करे। उत्तर मिलता है कि राष्ट्र का सर्जन ही ऐसा अधिकार देने का परिणाम है। इसका अर्थ यह है कि आरंभ में हमारे पूर्वजों ने इस प्रकार का मुआयदा किया था,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और वह मुआयदा अब भी हम पर लागू है। पिता का किया हुआ मुआयदा पुत्र पर लागू होता है; इसी तरह मनुष्यों की पहली नसल का मुआयदा पीछे आने वाली नसलों पर भी लागू है। जो पुरुष किसी देश में रहता है, वह इसी से उस देश के आरम्भिक मुआयदे को स्वीकार करता है। इस समाधान में यह फ़र्ज़ कर लिया जाता है कि यदि मैं इससे संतुष्ट न हूँ, और कहीं और जाना चाहूँ, तो जा सकता हूँ। परन्तु वर्त्तमान स्थिति में मैं ऐसा कर ही नहीं सकता। न मैं अपने देश को, राज्य की अनुमति के बिना, छोड़ सकता हूँ, न किसी अन्य देश में, उसकी अनुमति के बिना, पहुँच सकता हूँ। मुझे किसी न किसी देश के राज-नियम को मानना ही पड़ेगा। मैं इसमें विवश हूँ। मुआयदा का समाधान भी वास्तव में हाब्स के समाधान की तरह शक्ति पर ही आधारित है।

नैतिक दृष्टिकोण से यह दोनों समाधान संतोषजनक नहीं। मैं राज-नियम का मानना उसी हालत में अपना कर्त्तव्य समझ सकता हूँ, जब मुझे यह विश्वास हो कि यह जनता के कल्याण के लिये बना है, और इसके लिये अनिवार्य है। इस विचार के प्रभाव में, अब ऐसा नियम जनता की अनुमति से बनाया जाता है। यह लोकतन्त्र राज्य है। जब राष्ट्र बहुत सीमित होता है, तो सारे बालिग़ नागरिक इकट्ठे होकर निश्चय कर लेते हैं। प्राचीन यूनान में नगर-राष्ट्र ऐसा ही करते थे। अब राष्ट्र इतने सीमित नहीं; इसलिए नागरिक जो कुछ करते हैं, अपने प्रतिनिधियों द्वारा करते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि चुनने वाले सर्व सम्मति से प्रतिनिधियों को चुनें। ऐसा भी बहुत कम होता है कि प्रतिनिधि अपने निश्चय सर्व सम्मति से करें। जो कुछ होता है, बहुमत से होता है। यह स्थिति एक नया नैतिक प्रश्न खड़ा कर देती है। बहुसंख्यक दल का क्या अधिकार है कि वह अल्प-संख्यक दल को अपने निश्चयों के मानने पर बाधित करे? अन्य शब्दों में, ऐसे निश्चयों का मानना अल्प संख्या का कर्त्तव्य है वा नहीं? राज-नियम और व्यक्ति के निश्चय में विरोध हो, तो व्यक्ति क्या करे?

४. राज-नियम और वैयक्तिक निर्णय

किसी राज्य का काम चल नहीं सकता, यदि प्रत्येक नागरिक यह निश्चय करे कि जिस नियम वा आदेश को वह ठीक नहीं समझता, उसका उल्लंघन कर सकता है। ऐसा निश्चय राज-नियम के स्वरूप को न समझना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। राज-नियम उपदेश वा सुझाव नहीं; ये आदेश होते हैं। दूसरी ओर यह भी नहीं कह सकते कि सारे आदेश वा नियम लोकहित के लिये ही बनाये जाते हैं, और इस उद्देश्य से बनाए भी जाएं, तो वास्तव में हितकारक होते हैं। अनुभव बताता है कि कुछ नियमों में सर्वार्थ का भाव नहीं होता, और कुछ बुद्धि की जाँच में ठीक नहीं दीखते। ऐसी अवस्था में नागरिक का कर्त्तव्य क्या है?

यदि प्रश्न नागरिक के अपने हित का है, तो उचित यही है कि व्यक्ति नियम के सामने झुक जाय, चाहे वह उसे ठीक न समझता हो। उसके झुकने से लोकहित पर भी चोट लगती है, क्योंकि उसका हित भी लोकहित का अंश है। परन्तु इस चोट से वह चोट बहुत कड़ी है, जो राज-नियम के अधिकार को निर्बल करने से लोकहित पर लगती है। जहाँ स्पष्ट रूप में लोकहित का ही प्रश्न हो, वहाँ स्थिति बदल जाती है। कुछ लोग, देश के हित में, किसी नियम को अनैतिक समझ कर, उसके विरुद्ध लड़ते हैं। सत्याग्रह करते हैं; और कैद भी होते हैं। यह लोग राज-नियम का विरोध नहीं करते; किसी विशेष नियम को राज-नियम बनने के अयोग्य समझते हैं। उनकी क्रिया राज-नियम का सम्मान होती है।

नीति उन्हें ऐसे नियम-उल्लंघन में दोषी नहीं ठहराती। ऐसी क्रिया का उद्देश्य जनता की ज़मीर वा कान्शेन्स को जगाना होता है। इसमें आशा की जाती है कि सत्याग्रही जो कुछ करेगा, प्रकाश में करेगा, और नियम-उल्लंघन के दंड को खुशी से स्वीकार करेगा। यह हथियार उस हालत में ही वर्त्तना चाहिये, जब साधारण आन्दोलन बिल्कुल निष्फल हो जाय।

राष्ट्र के अधिकार पर नीति यही रोक लगाती है।

५. राष्ट्र की प्रक्रियाएं

राष्ट्र का निर्माण नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये हुआ है। इस रक्षा का अर्थ यही है कि प्रत्येक नागरिक अपनी स्वाधीनता का प्रयोग कर सके, इस शर्त पर कि उसकी क्रिया किसी अन्य नागरिक की स्वाधीनता पर रोक न बन जाय। सारे नागरिकों की ऐसी स्वन्तत्रता ही न्याय-व्यवस्था है। एक विचार के अनुसार यही राष्ट्र की समुच्चय प्रक्रिया है। जब राष्ट्र इससे आगे जाता है, तो उसकी क्रिया नागरिक की स्वाधीनता को अनावश्यक रूप में सीमित करती है, और इसलिये अन्याय बन जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस विचार के अनुसार राष्ट्र का काम पुलिस का काम ही है। यह हर्बर्ट स्पेन्सर का विचार था।

रूसो के विचार में राष्ट्र का प्रमुख काम व्यक्ति की रक्षा करना नहीं, परन्तु उसकी शक्ति को बढ़ाना है। अपनी महान शक्ति से वह व्यक्ति वा छोटे समूहों की अपेक्षा इष्ट कार्यों को उत्तम रीति से कर सकता है। इस विचार का नैयायिक फल यह है कि जो कुछ भी राष्ट्र कर सकता है, करे। समाजवाद और साम्यवाद इस विचार के पक्ष में हैं। अपने अतीव रूप में, यह विचार राष्ट्र को आर्थिक व्यवहार पर ही नियन्त्रण नहीं देता; व्यक्ति के पारिवारिक जीवन को भी उसके अधीन कर देता है। अफ़लातूं के मतानुसार, राज्य निश्चित करता है कि प्रति वर्ष कितने बच्चे पैदा हों, और कौन पुरुष-स्त्री उन्हें जन्म दें। बच्चों का पालन-पोषण और उनकी शिक्षा भी राज्य का अधिकार है; माता-पिता का सम्बन्ध तो बच्चे के जन्म तक ही उसके साथ होना चाहिये।

ये दोनों विचार अतीवता तक जा पहुंचते हैं। सार्थक स्थिति इनके बीच प्रतीत होती है। राष्ट्र का काम पुलिस–प्रक्रिया तक सीमित नहीं हो सकता। अधिकारों के प्रयोग के लिये प्रयोग की स्वतन्त्रता ही पर्याप्त नहीं; इसके लिये उपयोगी वातावरण भी होना चाहिये। ऐसे वातावरण का प्रस्तुत करना व्यक्ति के वश में नहीं, न किसी स्थानीय संस्था के वश में है। व्यापार में स्वतन्त्रता चाहिये, परन्तु रेल, तार, डाक आदि के अभाव में यह स्वतन्त्रता कहां तक सफल हो सकती है? समाज के लिये ऐसी सुविधाओं का निर्माण करना राष्ट्र का काम है। नहरों और मार्गों का बनाना भी राष्ट्र का ही काम है। कुछ लोग तो कहते हैं कि जो कुछ व्यक्ति वा अन्य संस्थाएँ नहीं कर सकतीं, वह राष्ट्र की प्रक्रिया में आना चाहिये; अन्य प्रक्रियाएँ व्यक्तियों और संस्थाओं के लिये छोड़ देनी चाहियें। इससे व्यक्ति की स्वाधीनता को अपने विकास का पर्याप्त अवकाश मिलेगा। कुछ लोग 'लोक-हितकारी' समाज की प्रक्रियाओं को इससे बहुत विस्तृत करते हैं। यह प्रश्न विशेष रूप में राज-नीति से सम्बन्ध रखते हैं। नीति के लिये विशेष प्रश्न यह है कि नीति को बढ़ावा देना राज्य का काम है, वा नहीं।

कुछ लोग, जिन में हेगल भी आता है, राष्ट्र को 'नैतिक संस्था' के रूप में देखते हैं। साधारण विचारक इतनी दूर नहीं जाते। राज्य का काम स्पष्ट रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में नीति को बढ़ावा देना नहीं। यह नागरिकों को आदेश देता है—'दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण न करो; उनसे न्याय-युक्त व्यवहार करो।' यह अपने आदेश को दृष्ट क्रिया तक सीमित रखता है। यह कार्यों के प्रेरकों तक नहीं जाता, न कर्त्ता के स्वभाव तक जाता है। नीति इन प्रेरकों और स्वभाव पर विशेष ध्यान देती है। इसके अतिरिक्त नैतिक क्रिया का तत्व यह है कि यह बाह्य आदेश का परिणाम नहीं होती, अपितु उस आदेश का जिसे व्यक्ति आप अपने ऊपर लागू करता है। स्वाधीन कर्म ही नैतिक कर्म हो सकता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि राष्ट्र नीति से असंबद्ध है। राष्ट्र ऐसी स्थिति को पदा करता है जिसमें भले कर्मों का करना सुगम हो, और बुरे कर्मों का करना कठिन हो।

राज-नियम चोर के मन से चोरी की भावना को निकाल नहीं सकता, परन्तु बाज़ारों और गली कूचों में बिजली की रोशनी और पुलिस के पहरे का प्रबन्ध करके चोरी करने को कठिन तो बना देता है। और इस पर भी, जो चोरी करे, उसे दंड देता है। न्याय-व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य यही है। राष्ट्र का काम समाज की उन्नति में सहायता देना है। इस उन्नति की परख यही है कि यह नैतिक जीवन में प्रोत्साहन देती है। इसके अतिरिक्त नीति किसी परिवर्तन को उन्नति स्वीकार ही नहीं करती।

ऐसी परिस्थिति को पैदा करना जिस में नैतिक क्रिया सुगम हो, और अपराध जटिल हो, नीति की बहुत बड़ी सेवा है। नीति के सम्बन्ध में, राष्ट्र की यही प्रमुख प्रक्रिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

७. जीवन का अँधियारा पक्ष

१. नैतिक पतन, पाप, और अपराध

अभी तक हम प्रायः जीवन के उज्ज्वल पक्ष को ही देखते रहे हैं। जीवन के उजियारे के साथ अँधियारा भी मिलता है। आचार के साथ अनाचार, न्याय के साथ अन्याय, भद्र के साथ अभद्र भी विद्यमान हैं। अब जीवन के कलुषित पक्ष पर कुछ विचार करें।

गौतम बुद्ध ने जीवन के प्रमुख तथ्य को दुख के रूप में देखा। रोग, जरण, और मृत्यु ने उसके कोमल हृदय पर चोट लगाई। यह तीनों दुख शरीर से सम्बन्धित हैं, और प्रत्येक प्राणी का भाग हैं। पीछे बुद्ध ने द्वेष को इनके साथ मिला दिया। द्वेष नैतिक पतन का एक रूप है। नीति की दृष्टि में पतन दुख की अपेक्षा बहुत बड़ा अभद्र है। दुख तो बहुतेरी अवस्थाओं में संशोधन भी करता है; पतन प्रत्येक अवस्था में घृणित है।

नैतिक पतन दुष्कर्म के रूप में व्यक्त होता है। बुरे कर्मों को पाप और अपराध का नाम दिया जाता है। 'पाप' धर्म–सम्बन्धी परिभाषा है; 'अपराध' राज-नीति की परिभाषा है। पाप ईश्वरीय आज्ञा का उल्लंघन है; अपराध राज्य की आज्ञा का उल्लंघन है। यह दोनों अवज्ञायें एक ही नहीं, परन्तु इन का सांझा क्षेत्र विस्तृत है। धर्म और राज–नियम दोनों नैतिक भद्र को बढ़ावा देते हैं। पाप और अपराध दोनों पतन के फल हैं, और दोनों पतन को बढ़ाते भी हैं। हम यहां अपराध की बाबत कुछ विचार करेंगे, और यह भी देखेंगे कि अपराध को कम करने के लिये क्या किया जाता है, और क्या किया जा सकता है।

२. अपराध का स्वरूप

अपराध ऐसा कुकर्म है जिसकी ओर से राज्य उदासीन नहीं हो सकता। अपराध दो प्रकार के होते हैं:—

(१) ऐसे उपद्रव जिनसे किसी विशेष पुरुष को हानि पहुंचती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(२) ऐसे उपद्रव जो व्यक्ति की हानि करने के साथ, समाज की व्यवस्था पर भी आघात होते हैं।

पहली प्रकार के उपद्रवों में, जब हानि की पूर्ति हो जाय, तो मामला समाप्त हो जाता है। एक पुरुष दूसरे से कुछ रुपया उधार लेता है, और वापस नहीं देता। न्यायकर्त्ता उससे रुपया वापस दिला देता है, और झगड़ा समाप्त हो जाता है। जब यह रुपया उधार नहीं लिया जाता, अपितु डाका डाल कर छीना जाता है, तो उपद्रव का शिकार व्यक्ति ही नहीं होता, समाज भी होता है।

प्राकृत अवस्था में व्यक्ति वा परिवार अपनी रक्षा करना चाहता है। वह हानि से बचने के लिये उचित उपाय करता है; आक्रमण हो ही जाय, तो अपनी रक्षा के लिये जो कुछ कर सकता है, करता है। इसके पीछे भी बदला लेने का यत्न करता है। यह सब कुछ उसका प्राकृत अधिकार है। राष्ट्र के निर्माण के बाद अपराधी से निपटने का काम राष्ट्र अपने हाथ में ले लेता है; परन्तु जहां इसकी सहायता तुरन्त न पहुंच सकती हो, वहां व्यक्ति का प्राकृत अधिकार मान्य होता है। किसी राह जाते मनुष्य पर डाकू उजाड़ में आक्रमण करे, तो वह राष्ट्र की सहायता मांग नहीं सकता। उसे अपनी रक्षा के लिये जो कुछ भी करना पड़े, करता है। डाकू की हत्या भी कर दे, तो यह अपराध नहीं। ऐसे अपराधों में व्यक्ति और राष्ट्र दोनों आक्रान्त होते हैं। इन अपराधों का दंड उन उपद्रवों के दंड से भिन्न होता है, जिनमें केवल व्यक्ति ही आक्रान्त है।

३. अपराध के आवश्यक चिन्ह

अपराध हानिकारक कर्म है, परन्तु प्रत्येक कर्म जिससे किसी को हानि पहुंचे, अपराध नहीं होता। हानिकारक कर्म के अपराध बनने के लिये इसमें दो चिन्हों का होना आवश्यक है:—

(१) हानि करने वाले को ज्ञान हो कि वह क्या कर रहा है। उसमें शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय में भेद करने की योग्यता हो। वह जानता हो कि वह राज-नियम का उल्लंघन कर रहा है।

(२) जो हानि उससे हुई है, वह उसके संकल्प का फल हो।

पहले ज्ञान को लें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धिहीन पुरुष अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी नहीं। ऐसे मनुष्यों में दो श्रेणियां प्रमुख हैं—एक वह जो जन्म से बुद्धिहीन हैं; दूसरे वह जो पागल हो गये हैं। जो पुरुष जन्म से बुद्धिहीन है, वह देखने में मनुष्य है; नैतिक कर्त्ता हो ही नहीं सकता। उन्मद पुरुष का भी अब यही हाल है। कुछ लोग थोड़े काल के लिये उन्मद हो जाते हैं—शराब पीकर, वा अबोध अवस्था में विष खा लेने से। इनकी स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

ऐसे लोगों के साथ ही उन लोगों को भी लिया जाता है, जो बाल्यावस्था में हैं, और इसलिये भले-बुरे का भेद नहीं समझते। यह अवस्था कब समाप्त होती है? राष्ट्रों में एक समय सब के लिये नियत किया जाता है, जिसके पूर्व नागरिकता के पूरे अधिकार नहीं मिलते, और व्यक्ति को पूर्णरूप में स्वाधीन और उत्तरदायी नहीं समझा जाता। यह समय बहुधा २१ वर्ष की आयु होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पहले व्यक्ति जो चाहे, कर सकता है। कुछ देशों की प्रथा के अनुसार जीवन के पहले ७ वर्षों में बालक निर्दोष होता है। ७ से १४ वर्ष के बच्चों की हालत में प्रत्येक स्थिति की जांच की जाती है। १४ वर्ष से अधिक आयु के बालकों की हालत में फ़र्ज़ कर लिया जाता है कि वह भद्र और अभद्र में भेद कर सकते हैं। दंड के निश्चित करने में उनके नाबालिग होने का ध्यान रखा जाता है।

हानिकारक कर्म के अपराध समझे जाने के लिये दूसरी शर्त यह है कि वह संकल्पित कर्म हो; अर्थात उसे विशेष प्रयोजन के साथ किया जाय। जहाँ प्रयोजन का अभाव होता है, वहां उसे आकस्मिक वा दैवात् कर्म समझा जाता है। प्रयोजन की बाबत सोचते हुए यह बात भी देखी जाती है कि किसी व्यक्ति ने साधारण सावधानी को, जिसकी उससे आशा की जा सकती थी, वर्त्ती है वा नहीं। माता वा भाई किसी रोगी बच्चे को अज्ञान में ग़लत दवाई दे दे, और इससे बच्चे की मृत्यु हो जाय, तो वह हत्या नहीं करते। यदि डाक्टर रोगी को अधिक क्लोरोफ़ार्म दे, और रोगी का प्राणान्त हो जाय, तो यह जांच का विषय बन जाता है कि उसकी असावधानी से मृत्यु हुई, वा उसके सावधान होते हुए ही हो गयी। यदि कोई पुरुष जान बूझ कर दूसरे को मार देता है, तो यह हत्या का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपराध है। इसमें भी यह देखा जाता है कि यह काम किसी सबल उद्वेग के प्रभाव में हुआ है, वा ठंडे रक्त में किया गया है।

४. दंड की उपयोगिता

समाज के शान्त जीवन के लिए आवश्यक है कि अपराधों को रोकने के लिये उचित प्रबन्ध किया जाय। इस प्रबन्ध के होने पर भी यदि अपराध हों, तो उनके लिए उचित दंड दिया जाय। समाज का शान्त जीवन तो एक ओर रहा, समाज का अस्तित्व ही ऐसी व्यवस्था के बिना सन्दिग्ध हो जाता है। कुछ लोग इस विचार से सहमत नहीं। वह कहते हैं कि दंड की प्रथा सर्वथा भ्रममूलक प्रथा है। इस धारणा में उनका हेतु क्या है?

हमने ऊपर कहा है कि अपराध कर्त्ता के बोध वा ज्ञान, और उसके स्वाधीन संकल्प पर आधारित होता है। इन लोगों का कहना है कि जिस कर्म को हम अपराध कहते हैं, उसमें इनमें से एक वा दूसरा चिन्ह, वा दोनों ही विद्यमान नहीं होते। जैसा हम देख चुके हैं, सुकरात के विचारानुसार जहाँ शुभ–अशुभ का ज्ञान हो, वहाँ अशुभ करने की संभावना ही नहीं होती। अपराध सदा अज्ञान का फल होता है। अपराधी मानसिक रोग में ग्रसित है। उसे चिकित्सा की आवश्यकता है; पीड़ा की आवश्यकता नहीं।

कुछ अन्य पुरुष कहते हैं कि अपराध कर्त्ता का स्वाधीन कर्म नहीं; इसलिये वह इसके लिये उत्तरदायी नहीं। ऐसी अधीनता के दो कारण बयान किये जाते हैं। एक विचार के अनुसार, कुछ लोग अपराधी बनते नहीं, अपराधी पैदा होते हैं। वह अपने क़द के लिये, अपने बालों की रंगत के लिये, अपने अंगों की बनावट के लिये उत्तरदायी नहीं; यह उन्हें माता पिता से मिले हैं। इसी तरह वह जन्मजात प्रवृत्ति के अधीन अपराध भी करते हैं। दूसरा विचार अपराधी के माता पिता को उत्तरदायी नहीं बनाता, अपितु सारे समाज को उत्तरदायी बनाता है। समाज की वर्त्तमान व्यवस्था ही ऐसी भद्दी है कि कुछ लोगों को अपने निर्वाह के लिये अपराधी बनना पड़ता है। यदि सारे बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध हो, उनकी संगत अच्छी हो, और समाज में प्रत्येक को अपनी योग्यता के उचित प्रयोग का अवसर प्राप्त हो, तो अपराध स्वयं कम हो जायेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोई यह दावा नहीं करता कि सामाजिक व्यवस्था में त्रुटियां नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सारा अपराध इन त्रुटियों के कारण होता है। अपराध का तत्व यह है कि व्यक्ति, जान बूझ कर, अपने स्वाधीन संकल्प से, राज-नियम का उल्लंघन करता है। उसका कर्म नियम के प्रतिकूल विद्रोह है। हम सब का अनुभव बताता है कि ऐसी क्रिया वास्तव में होती है। ऐसी स्थिति में दंड की प्रथा आवश्यक हो जाती है।

५. दंड का उद्देश्य

दंड का उद्देश्य वा प्रयोजन क्या है ?

प्राकृत जगत में क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम व्यापक है। नाविक चप्पुओं से पानी को पीछे फेंकता है, नदी का पानी नाव को आगे फेंकता है। क्रिया और प्रतिक्रिया में जो शक्ति व्यय होती है, उसकी मात्रा दोनों हालतों में एक ही है। समाज की व्यवस्था में भी इसी प्रकार का नियम वर्त्ता जाता है। 'जो हानि हुई है, दंड की मात्रा उसके बराबर हो'—यह न्याय का आरंभिक नियम है। 'दांत के बदले दांत, आँख के बदले आँख'—इस नियम का प्रसिद्ध विवरण है। जब तक व्यक्ति वा परिवार एक दूसरे से निपट लेते थे, इस नियम पर ही अमल होता था। जब व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व राष्ट्र ने अपने ऊपर लिया, तो अपराध और दंड की बराबरी का ख्याल छोड़ दिया गया। प्रधान ख्याल यह हुआ कि व्यवस्था बनाए रखने के लिए क्या आवश्यक है। अपराधी और आक्रान्त की अपेक्षा, राष्ट्र ने सारे समाज की ओर अधिक ध्यान दिया। किस तरह समाज को ऐसे अपराध से आगे के लिये बचाया जाय ? इस अपराधी को ही नहीं, अन्य संभावित अपराधियों को स्पष्ट रूप में बताना चाहिये कि अपराध करना महँगा सौदा है। दंड को इतना सख्त बनाना चाहिये कि अन्य मनुष्यों को भी कड़ी चेतावनी हो जाय। इस विचार के अनुसार दंड का उद्देश्य अपराधी को उसके कर्म का निषेधात्मक मूल्य देना नहीं, अपितु अपराध के फल को भयानक बनाना है। इस दृष्टिकोण को अपनाने के दो फल होते हैं :-

(१) दंड और अपराध की बराबरी का ख्याल छोड़ कर यह देखा जाता है कि किसी विशेष स्थिति में दंड की कितनी मात्रा आवश्यक होगी। एक ही अपराध के लिये विविध स्थानों और कालों में भिन्न भिन्न दंड दिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाते हैं। झुकाव दंड को सख्त बनाने की ओर होता है। यदि कोई अपराध बहुत बार होने लगे, तो उसके लिये दंड कड़ा कर दिया जाता है। इस संबन्ध में, एक वास्तविक वा कल्पित कथन प्रसिद्ध है: "न्यायकर्त्ता ने अभियुक्त को कहा—'मैं तुम्हें इस लिए दंड नहीं देता कि तुमने भेंड़ चुराई है, अपितु इसलिये कि भविष्य में भेड़ों की चोरी न हो।'" इस विचार का एक फल यह है कि दंड उसी पुरुष को मिलना आवश्यक नहीं जिसने वास्तव में अपराध किया है; इतना ही पर्याप्त है कि जनता को किसी के अपराधी होने का विश्वास हो। न्याय की मांग पूर्ण रूप में पूरी न हो, तो भी दंड का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

नीति इस दृष्टिकोण को अपना नहीं सकती। इससे साधारण मनुष्य के हृदय पर भी ठेस लगती है। न्याय पद्धति बनाने वाले अब अपराध करने वाले की ओर अधिक ध्यान देते हैं। वह अपने मानव स्तर से गिर गया है; उसे फिर उसी स्तर पर पहुँचाने का यत्न करना चाहिए। अपराधी का संशोधन दंड का उद्देश्य है। जो हानि उसके अपराध से हुई है, उसमें सबसे अधिक तो उसकी अपनी हानि है। सुकरात ने कहा था—'हानि करने की अपेक्षा हानि का शिकार होना अच्छा है।' जो पुरुष किसी सौदे में ग्राहक से एक रुपया ठग लेता है, वह ग्राहक का एक रुपया का नुकसान करता है; अपने चरित्र को दूषित कर लेता है। वह नहीं समझता, परन्तु उसके चरित्र का मूल्य एक रुपये से तो अधिक है। इसीलिये कहा गया है कि छली पुरुष मूर्ख भी होता है।

अपराधी के संशोधन के लिये, केवल अपराध को ही नहीं, अपितु उसकी स्थिति को भी देखना होता है। जो उपाय एक अपराधी के संशोधन के लिए उपयोगी है, वह संभवतः किसी अन्य अपराधी के लिये उपयोगी नहीं। इस विचार में केन्द्रीय ख्याल यह है कि न्याय का सम्बन्ध अपराध से नहीं, अपराधी से है। पहले विचार के अनुसार, न्याय को अत्याचार से कष्ट उठाने वाले की चिन्ता होती है; दूसरे विचार के अनुसार, उसे सामाजिक व्यवस्था की विशेष चिन्ता होती है; तीसरे विचार के अनुसार, अपराध करने वाले की चिन्ता होती है।

इन विचारों में कौन सा विचार मान्य है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वास्तव में इनमें कोई विचार भी ऐसा नहीं, जिसमें सत्य का अंश विद्यमान नहीं। दंड में हमें तीनों बातों का ध्यान रखना होता है। यह आवश्यक है कि व्यवस्था के महत्व की बाबत दृढ़ विश्वास बना रहे। इसके लिये प्रत्येक को समझना चाहिये कि भौतिक जगत की भाँति, नैतिक जगत में भी, कारण-कार्य का नियम काम करता है। जब तक अपराध का फल अपराधी पर पहुँच नहीं जाता, उसका कर्म अपूर्ण रहता है। यह चक्कर पूरा लगना ही चाहिये। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि अपराधी और आक्रान्त पुरुष को हीं नहीं, अपितु अन्य पुरुषों को भी पता लग जाय कि यह चक्कर पूरा हो गया है। अपराधी के संशोधन की भी आवश्यकता है : एक तो इसलिये कि वह साध्य मूल्य रखता है; दूसरा इसलिये कि समाज उसके भावी आक्रमणों से बचा रहे। यह संशोधन उसी हालत में हो सकता है, जब उसे विश्वास हो कि जो कर्म उसने किया था, वह अनुचित था, और जो दंड उसे मिला है, वह उसके कर्म का उचित फल है।

नैतिक दृष्टिकोण से पहला समाधान ठीक प्रतीत होता है। यह समाधान कर्त्ता की स्वाधीनता की घोषणा करता है। जो कुछ उसने स्वाधीनता में किया है, उसका फल उसका अधिकार बन गया है। अच्छा फल हो, तो भी कर्त्ता का अधिकार है; बुरा फल हो, तो भी उसका अधिकार है। कोई अन्य पुरुष उसे इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकता। इसी पर तो उसका संशोधन निर्भर है; इसी से वह फिर पाशव स्तर से उठकर मानव स्तर पर पहुँच सकता है। नैतिक नियम का महत्व और गौरव बनाए रखना दंड का उद्देश्य है।

६. दंड की मात्रा

इसी प्रश्न के साथ दंड की मात्रा का प्रश्न भी गठित है। अप्रत्यक्ष रूप में इसकी ओर संकेत हो ही चुका है।

दंड की मात्रा के निश्चित करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ? इस प्रश्न का प्रथम उत्तर तो यह था कि यह निश्चय करते हुए अपराध को देखना चाहिये। इस बात का कोई महत्व नहीं कि अपराध करने वाला कौन है। 'राज-नियम की दृष्टि में सारे मनुष्य एक बराबर हैं।' कोई दंड पद्धति इस नियम को पूर्णरूप में स्वीकार नहीं करती। जहाँ दंड निश्चित किया जाता है, वहाँ न्यायकर्त्ता के लिए सीमाएं नियत की जाती हैं, और उन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सीमाओं के बीच उसे अपनी समझ वर्त्तने का अधिकार दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि अपराध के अतिरिक्त कुछ और देखना भी आवश्यक होता है। एक और विचार के अनुसार, अपराध को नहीं, अपितु अपराधी के दोष को देखना चाहिये। अपराधी की योग्यता क्या थी? अपराध करते समय, उसकी मानसिक अवस्था क्या थी? क्या उसने स्थिति से विवश होकर, अपराध किया है, वा उसके सामने कोई विशष प्रलोभन न था? इन बातों का ध्यान करके ही न्यायकर्त्ता अपना निश्चय करता है। जब कोई स्त्री अपने पति के साथ अपराध में सम्मिलित होती है, तो बहुधा यही समझा जाता है कि अपराध पुरुष का है; उसकी पत्नी तो करण की स्थिति में ही थी।

राज-नीति प्राय: यह देखती है कि ऐसे कामों के लिये जनता में कितना आकर्षण है, और उसका मुकाबला करने के लिये क्या करना चाहिये। इसी-लिये, जब कोई बुरा कर्म किसी विशेष स्थिति में आम होने लगता है, तो उसका दंड कठोर कर दिया जाता है। यदि कोई कर्म बहुत आम हो जाय, और लोकाचार का भाग सा ही बन जाय, तो समझा जाता है कि जनता की ज़मीर इसका विरोध नहीं करती। ऐसी स्थिति में इसे अपराधों की सूची से निकाल दिया जाता है।

७. दंड के प्रमुख रूप

अपराध नागरिकों के अधिकारों पर छापा है। दंड का स्वाभाविक रूप यही होना चाहिये कि अपराधी से उसके अधिकार कुछ समय के लिये छीन लिये जायें, जिससे दूसरे उसके आक्रमण से बचे रहें, और उसे भी पता लग जाय कि उसके आक्रमण से दूसरों को दुख पहुँचता है। इससे पहले हम मनुष्य के अधिकारों का वर्णन कर चुके हैं। प्रमुख अधिकार तीन हैं— (१) जीवन, (२) स्वाधीनता, (३) स्वाधीन श्रम के फल, सम्पत्ति, का भोग। अपराधी इनमें से किसी अधिकार पर प्रहार करता है। दंड में उसे भी किसी अधिकार से वंचित किया जाता है। सबसे बड़ा दंड जो उसे दिया जा सकता है, मृत्यु दंड है। यह उसे सारे अधिकारों से, और सदा के लिये, वंचित कर देता है। दंड इतनी दूर बहुत कम जाता है। प्राय: यही पर्याप्त समझा जाता है कि कुछ समय के लिये उसकी स्वाधीनता छीन ली जाय। उसे बन्दीगृह में डाल दिया जाता है, और उसकी दुनिया को बन्दी-घर तक सीमित कर दिया जाता है। इसके साथ वा इसके स्थान में, उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसकी पिछली कमाई के भाग से भी वंचित किया जाता है। यह दंड नर्म दंड समझा जाता है। मृत्यु दंड और कैद की बाबत कुछ विचार करना उपयोगी होगा।

मृत्यु दंड

मृत्युदंड के सम्बन्ध में चार प्रश्न विवाद और विचार का विषय बने रहे हैं:–

(१) मृत्यु दंड का अधिकार राज्य को है, वा नहीं ?

(२) यदि अधिकार है, तो इसका प्रयोग करना उचित है, वा नहीं ?

(३) यदि इसका प्रयोग किया जाय, तो किन अपराधों के लिय इसका प्रयोग होना चाहिये ?

(४) मृत्युदंड की विधि क्या हो ?

इन चारों प्रश्नों पर कुछ विचार करें।

(१) मृत्युदंड का अधिकार

यदि राष्ट्र को किसी प्रकार का दंड देने का अधिकार है, तो उस अधिकार में मृत्युदंड क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जो अधिकार राष्ट्र देता है, उन्हें ही वापस ले सकता ह। जीवन का अधिकार जीवन के साथ आता है, और जीवन राष्ट्र की देन नहीं। मृत्युदंड भी हत्या ही है। भेद केवल इतना है कि यहाँ हत्या करने वाला व्यक्ति नहीं, अपितु सारा समाज है। इस भेद के कारण, मृत्युदंड हत्या से विभिन्न कुछ नहीं बन जाता।

मृत्युदंड पर यह आक्षेप निर्मूल है। दंड में स्वाधीनता छीनी जाती है। स्वाधीनता वा योग्यता का प्रयोग राष्ट्र की देन नहीं। राष्ट्र का निर्माण भी स्वाधीनता के प्रयोग का फल है। स्वाधीनता के दुरुपयोग को रोकने के लिये, स्वाधीन पुरुषों ने व्यवस्था स्थापित की। सम्पत्ति व्यक्ति के श्रम का फल है। इसके विभाजन की बाबत राष्ट्र नियम बनाता है, परन्तु राष्ट्र इस अधिकार का जन्मदाता नहीं। यह अधिकार जीवन और स्वाधीनता की भाँति प्राकृत है। कैद और जुर्माने में राष्ट्र अपने दिये हुए अधिकार वापस नहीं लेता; व्यक्ति विशेष के अधिकारों पर रोक लगाता है, क्योंकि वह अन्य मनुष्यों के अधिकारों का मान नहीं करता। यदि राष्ट्र व्यक्ति को उसके अन्य अधिकारों से वंचित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर सकता है, तो विशेष स्थिति में जीवन के अधिकार से भी वंचित कर सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि मानव जीवन असीम मूल्य की वस्तु है; इसे, किसी अवस्था में भी, विनष्ट नहीं करना चाहिये। मानव जीवन असीम मूल्य की चीज़ है, परन्तु सारे मनुष्यों का जीवन ऐसा मूल्य रखता है। मृत्युदंड तो दिया ही इसलिये जाता है कि अपराधी दूसरों के जीवन को मूल्यवान नहीं समझता। प्रायः यह दंड जीवन की रक्षा के लिये ही दिया जाता है।

अपराधी व्यक्तियों को छोड़ कर एक गंभीर स्थिति युद्ध में प्रस्तुत हो जाती है। युद्ध का आरम्भ व्यक्तियों के विवाद से नहीं, अपितु राज्यों के विवाद से होता है। जो लोग मारे जाते हैं, वह वैयक्तिक अपराध के लिये मारे नहीं जाते। इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जो सैनिक युद्ध-क्षेत्र में आता है, वह दूसरों को मारने के उद्देश्य से आता है। यदि वह आप मारा जाता है, तो यह हत्या नहीं। इस धारणा में कुछ गुरुत्व है; परन्तु यह फ़र्ज़ कर लिया गया है कि सैनिक अपनी इच्छा से क्षेत्र में आया है। आज-कल सारे राष्ट्र अनिवार्य भरती भी करते हैं। जो युद्ध देश के बचाव के लिये लड़ा जाता है, उसमें तो सम्मानित जीवन के नाम पर ही भरती होती है। जो देश दूसरे पर आक्रमण करता है, वह भी अपने निश्चय के पक्ष में कोई हेतु निकाल ही लेता है। नवीन काल में एक और कठिनाई पैदा हो गई है, और वह यह कि अब युद्ध सेनाओं में नहीं होता; समस्त राष्ट्रों में होता है। सैनिक और असैनिक का भेद उड़ गया है। शत्रु देश के सारे नागरिक शत्रु हैं, और उनके कोई मानव वा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार स्वीकार नहीं होते। करुणा का अंश कुछ होता है, परन्तु न्याय की माँग सुनी नहीं जाती।

(२) मृत्युदंड की उचितता

कुछ लोग कहते हैं कि राष्ट्र को मृत्युदंड का अधिकार तो है, परन्तु इस अधिकार का प्रयोग अनुचित है। कुछ देशों में इस दंड को वैधानिक रूप में समाप्त कर दिया गया है; कुछ देशों में राज–नियम इसकी आज्ञा देता है, परन्तु इसका प्रयोग नहीं होता। कुछ देश ऐसे हैं, जिनमें यह दण्ड वैधानिक रूप में बन्द हुआ, और फिर जारी कर दिया गया। बहुसंख्यक देशों में यह जारी है। जो लोग, इस दंड को राष्ट्र का अधिकार स्वीकार करने पर भी, इसे अनुचित बताते हैं, वे अपने पक्ष में यह हेतु देते हैं—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) यह दंड अत्याचार की पराकाष्ठा है। व्यक्ति के लिये यह हत्या बुरी है; राष्ट्र के लिये तो और भी बुरी है। यह नागरिकों में पाशव वृत्ति को बढ़ाती है।

(२) इस दंड से कोई पर्याप्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। व्यक्ति का उद्धार तो क्या होगा, इसकी संभावना ही समाप्त हो जाती है। अन्य मनुष्यों को रोकने में भी यह दंड सफल नहीं हुआ। जिन अपराधों के लिये इतना घोर दंड दिया जाता है, वह रुकते तो नहीं, होते ही जाते हैं। अपराधी जब घोर अपराध करता है, तो या तो उसे सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता, या इष्ट फल को हर कीमत पर प्राप्त करना चाहता है। जो कुछ अन्य अपराधियों पर बीती है, उसका ज्ञान तो पुराना हो चुका है।

(३) यह दंड फर्ज़ कर लेता है कि अभियुक्त पुरुष को दोषी ठहराने में कोई भूल नहीं हुई। यदि पीछे भूल का पता लग जाय, तो उसके फल को मिटाना सम्भव ही नहीं। यही निर्णय ऐसा है, जिसे अमल होने के बाद बदला नहीं जा सकता।

इंग्लैंड में संसद ने एक कमीशन बनाया, और उसे आदेश दिया कि सारे मामले की वास्तविक जांच करे, और परामर्श दे। कमीशन ने जांच के बाद रिपोर्ट दी कि यह बात सिद्ध नहीं होती कि जब मृत्युदंड बन्द हुआ, तो हत्या के अपराध बढ़ गये; और न यह सिद्ध होता है कि जब इसे फिर चालू किया गया, तो इन अपराधों में कमी हुई। संसद में अभी अभी (१९५५) विरोधी दल ने प्रस्ताव पेश किया कि तजुर्बे के तौर पर, पाँच वर्षों के लिये मृत्युदंड के स्थान में हत्यारों को आजीवन कारावास का दंड दिया जाय। शासक दल ने इसका विरोध किया, और वर्त्तमान स्थिति को जारी रखने का पक्ष लिया। विरोधी दल का प्रस्ताव बहुमत से गिर गया। गृहमंत्री ने प्रस्ताव के विरोध में ये हेतु दिये—

(१) इसमें तो मतभेद हो सकता है कि मृत्युदंड आम लोगों को भयभीत करके हत्या से रोकता है, वा नहीं; परन्तु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि यह दंड पेशावर अपराधियों के लिये अपूर्व रोक है।

(२) कुछ हत्यारों की हालत में, उन्हें साधारण वा विशेष कारागारों में दीर्घ काल के लिये बन्दी रखना जटिल स्थिति को उत्पन्न कर देगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) राज्य वर्त्तमान प्रथा को तभी बदल सकता है, जब इसे विश्वास हो जाय कि नागरिकों का बहुमत ऐसे परिवर्तन की मांग करता है। यह स्थिति विद्यमान नहीं।

मृत्युदंड को उसी दशा में बन्द किया जा सकता है जब कोई ऐसा बदल मिल जाय, जो हत्या को रोक सके, और जनता की कान्शेन्स को हत्या का पर्याप्त दंड स्वीकृत हो।

(३) घोर अपराध

मृत्युदंड सबसे बड़ा दंड है जो किसी अपराधी को दिया जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जिन अपराधों को इस दंड के योग्य समझा जाता है, वे बहुत घोर होते हैं। वे अपराध कौन से हैं? इस प्रश्न का उत्तर देश, काल और स्थिति को ध्यान में रखकर ही दिया जा सकता है। १७६४ ई० में इंग्लैंड की राज-पद्धति में १६० अपराध ऐसे थे, जिनके लिये मृत्युदंड की व्यवस्था थी। १७७० में इस व्यवस्था में संशोधन के लिये यत्न आरंभ हुआ। संशोधन–ऐक्ट के पास होने के बाद, ५ वर्षों में ही इस सूची में ३७ अपराध रह गये। पीछे यह संख्या चार तक आगयी–राष्ट्र के जहाज़-घाटों औद बारूद-खाने को आग लगाना, समुद्र में हिंसायुक्त डाका डालना, राजद्रोह, और हत्या। अब तीसरा और चौथा अपराध ही मृत्युदंड के योग्य समझे जाते हैं। अन्य देशों में अवस्था ऐसी ही है, वा हो रही है। वास्तव में यह दोनों अपराध एक ही प्रकार के हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का अधिकार है। जो कोई उसे इस अधिकार से वंचित करता है, वह अपना जीवन-अधिकार खो देता है। राष्ट्र भी जीवन का अधिकार रखता है। राजद्रोही राज्य को समाप्त करना चाहता है। उसे भी जीवित रहने का अधिकार नहीं। हत्या की अपेक्षा राजद्रोह का परिणाम बहुत भयंकर होता है। जो लोग हत्या के लिये मृत्युदंड को समाप्त करने के पक्ष में हैं, वह भी राजद्रोही को जीवित रखने के इच्छुक नहीं होते।

(४) मृत्युदंड की विधि

जब यह निश्चय हो जाय कि किसी व्यक्ति को मृत्युदंड दिया जाय, तो अन्तिम प्रश्न यह होता है कि दंड की रीति क्या हो। इस में बहुत मतभेद रहा है, और अमल में भी भिन्न भिन्न रीतियाँ प्रयुक्त हुई हैं। पुराना विचार तो यह था कि मृत्यु के साथ असह्य पीड़ा और घृणा भी मिला दी जायें।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपराधी के शरीर को आरे से चीरा जाता था, उसके शरीर के टुकड़े किये जाते थे, वा उसे घातक पशुओं के आगे डाल दिया जाता था। कहीं यह भी होता था कि अपराधी के पेट को चीर कर उसमें जीवित बिल्ली को डाला जाता था, और पेट को सी दिया जाता था। जितनी पीड़ा दी जा सकती थी, दी जाती थी। यह प्रथा बदली, और तलवार वा कुल्हाड़े से सिर काटा जाने लगा। कहीं कहीं, अन्य रीति से जीवन समाप्त करने के बाद, सिर काटने की प्रथा जारी रही। अब सभ्य देशों में फांसी पर लटकाने की प्रथा ही आम है। सेना में गोली मार देनें की प्रथा भी है। अब आम ख्याल यह है कि दंड मृत्यु है; इसके साथ पीड़ा वा घृणा को मिलाना अनावश्यक है। कुछ लोग यह सुझाव भी देते हैं कि बिजली की कुर्सी का प्रयोग करना चाहिये, ताकि जीवन तुरन्त समाप्त हो सके।

एक और प्रश्न जिस पर कुछ मतभेद रहा है, यह है कि फाँसी कारावास में दी जाय, वा किसी खुले स्थान पर, जहाँ लोग हत्या के इस परिणाम को देख सकें। अनुभव ने बताया है कि दूसरी हालत में, लोग भयभीत नहीं होते, अपितु उत्तेजित होने के लिये झुंडों में जाते हैं। इसलिये अब यह क्रिया कारावास में ही होती है।

कैद दंड

मृत्युदंड मिलने पर भी, राज्य इसे आजीवन कारावास में बदल सकता है, और बहुतेरी हालतों में बदल देता है। दंड प्रायः कारावास का रूप ही धारण करता है। बन्दीघर एक अलग दुनिया है। साधारण नागरिक को इसकी बाबत बहुत कम ज्ञान होता है। कैदियों के प्रति घृणा भी होती है। इस लिये आम लोगों में कारावास के वास्तविक स्वरूप को बाबत दिलचस्पी नहीं होती। नवीन काल में स्थिति कुछ बदल गयी है। राज-नीतिक आन्दोलन ने बन्दियों की एक नयी श्रेणी पैदा कर दी है। ऊंचे स्तर के पुरुष स्त्रियाँ कोई राज-नियम तोड़ते हैं, और बन्दीघर में जा पहुंचते हैं। इंग्लैंड में बराबरी के अधिकार के लिये, सहस्रों पढ़ी–लिखी स्त्रियाँ कैद हुईं। भारत में स्वाधीनता-आन्दोलन में हज़ारों पुरुष-स्त्रियाँ बन्दीगृह में जा पहुँचे। इस स्थिति के कारण अब बन्दीगृह का जीवन कोई बन्द पुस्तक नहीं रहा। लोगों में कारावास की बाबत जानने की इच्छा पैदा हो गयी है, और वे इसमें उचित परिवर्तन करना चाहते हैं। कुछ लोग तो कहते हैं कि कारावास की वर्त्तमान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रथा हानिकारक है, और जहाँ तक बन पड़े, इसे समाप्त कर देना चाहिये। बर्नार्ड शा* ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम 'कारावास का अपराध' रखा है। साधारण विचार के अनुसार, कारावास अपराध का परिणाम होता है। बर्नार्ड शा कहता है कि अपने वर्त्तमान रूप में, कारावास स्वयं एक अपराध है, और राज्य यह अपराध करता है। कहा जाता है कि दंड के तीन उद्देश्य हैं—(१) अपराध का बदला लेना, (२) अन्य मनुष्यों को भयभीत करके अपराध से रोकना, और (३) अपराधी का संशोधन करना। शा कहता है कि पहला उद्देश्य पूरा हो जाता है, परन्तु यह उद्देश्य ही अमानुषी और अनैतिक है। दूसरा उद्देश्य पूरा नहीं होता। कोई अपराध भी ऐसा नहीं, जो दंड के कारण समाप्त हो गया हो। आये दिन बन्दियों की संख्या बढ़ती जाती है, और नए बन्दीघर बनते हैं। तीसरे उद्देश्य के सम्बन्ध में अनुभव यही बताता है कि बन्दी कारागार से निकलने के समय, वहाँ पहुंचने के समय से अच्छा नहीं होता, बुरा ही होता है। इसके कई कारण हैं:—

(१) बन्दीघर में उसे इतनी पीड़ा दी जाती है कि समाज के प्रति उसके मन में शत्रुता का प्रबल भाव पैदा हो जाता है। वह समाज को अपना शत्रु समझता है, और आप समाज का शत्रु बन जाता है।

(२) बन्दीघर में उसे अपनी दृष्टि और दूसरों की दृष्टि में गिराया जाता है। जो थोड़ा आत्मसम्मान उसमें था, उसे भी समाप्त कर दिया जाता है। इस तरह, नैतिक जीवन का एक बड़ा सहारा उससे छीन लिया जाता है।

(३) बन्दीघर में उसकी संगत ऊंचा करने वाली नहीं होती, अपितु पतित करने वाली होती है। चोरों, डाकुओं, गुण्डों, कपटियों में रह कर वह उनसे भिन्न नहीं बन सकता।

(४) उसमें किसी सम्मानपूर्ण काम करने की योग्यता पहले ही कम थी; बन्दीघर में और कम हो जाती है। वहां उसका सारा समय नष्ट ही होता है।

(५) जब वह दण्ड भुगत कर बाहर आता है, तो कोई नहीं समझता कि उसका ऋण चुकाया जा चुका है। उसे अभी भी दोषी ही समझा

---

* Bernard Shaw: *The Crime of Imprisonment.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है, और उसे सम्मानपूर्ण कमाई करने का अवसर नहीं मिलता। एक ही पेशा उसके लिये विद्यमान है, और यह फिर अपराध करना है। वह फिर कारागार में पहुंच जाता है।

८. दंड प्रणाली का संशोधन

दंड प्रणाली में संशोधन करने के लिये कई सुझाव दिये गये हैं। उनमें से कुछ ये हैं—

(१) बर्नार्ड शा का ख़्याल है कि दंड के योग्य अपराधों की संख्या कम कर देनी चाहिये। अपराध को रोकने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। मृत्युदंड का क्षेत्र विस्तृत करना चाहिये। जो पुरुष अपराध को अपना पेशा बना चुका है, जो कारागार में भी दूसरों के लिये ख़तरा है, उसे बचाए रखने में लाभ नहीं, हानि ही है। ऐसे अपराधियों को समाप्त कर देना चाहिये।

(२) छोटी आयु के अपराधियों को अलग रख कर, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये। यह प्रथा अब मान्य हो रही है।

(३) पहली बार अपराध करने वाले का दंड उसके हिसाब में लिख लेना चाहिये। यदि वह कुछ नियत समय तक ठीक रहे, तो दंड से छूट दी जाय।

(४) दंड दिया जाय, परन्तु कारावास की अवधि नियत न हो। उसे बताया जाय कि जब उसकी हालत ठीक दिखाई देगी, उसे छोड़ दिया जायगा।

(५) कारावास के समय में उसे किसी अच्छे काम पर लगाना चाहिये। निरर्थक पीड़ा का ख़्याल बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। यत्न यह होना चाहिये कि वह बन्दीघर में अपना खर्च अपने काम से निकाल सके, और बाहर जाने पर अपना निर्वाह कर सके। दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है।

सारे संशोधन-सुझावों का तत्व यह है कि जो सुधर सकते हैं, उन्हें सुधारा जाय; जो सुधर नहीं सकते, उन्हें समाप्त कर दिया जाय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८. प्रगति और नैतिक उन्नति

१. गति और प्रगति

पिछले अध्याय में कहा गया है कि पतन का फल नियम का उल्लंघन होता है। जहां व्यवस्था स्वस्थ अवस्था में हो, नियम उल्लंघन करने वाले को उचित दंड मिलता है, और यह संशोधन उसे फिर अपने मानव स्तर पर पहुंचा देता है। कुछ विचारकों के ख्याल में, साधारण अवस्था में वृत्त के उदय का यही मार्ग है। आरम्भ में बच्चा निर्दोष होता है। यह निर्दोषता वृत्त नहीं होती; इसमें तो अभी भले-बुरे के भेद का बोध ही नहीं होता। मनुष्य गिरते गिरते ही सवार बनता है। पतन और पतन के बाद संशोधन होने पर ही हम कह सकते हैं कि किसी मनुष्य ने अधम वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है। ऐसी विजय का नाम ही वृत्त है।

कुछ विचारक कहते हैं कि उन्नति की चेष्टा हमारी प्रकृति का भाग है। यह प्रवृत्ति ही हमें आगे धकेले जाती है। इसी के प्रभाव में व्यक्ति आगे बढ़ता है; इसी के प्रभाव में जन–समूह प्रगति करते हैं। प्रगति, विशेष-कर नैतिक प्रगति, पर कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

जब हम बाह्य जगत पर दृष्टि डालते हैं, तो हम इसमें दो चिन्हों को विशेष रूप में देखते हैं—(१) नानात्व, (२) परिवर्तन। चारों ओर हमें अनेक पदार्थ दिखाई देते हैं, और उनमें कुछ न कुछ भेद होता है। इन सब पदार्थों में परिवर्तन भी होता रहता है। निरपेक्ष स्थिरता कहीं दिखाई नहीं देती। जब दार्शनिक विचार का उदय होता है, तो हम इन दोनों की बाबत विवेचन करते हैं। नानात्व की बाबत हम पूछते हैं कि यह सत्ता का अन्तिम स्वरूप है, वा परिवर्तन का फल है। परिवर्तन के सम्बन्ध में भी हम पूछते हैं कि यह अन्तिम तथ्य है, वा भासता ही है। एक और अनेक, स्थिर और अस्थिर का विवाद बहुत पुराना विवाद है। गति परिवर्तन का एक रूप है। साधारण अर्थ में गति देश-परिवर्तन का नाम है। यदि यह गति किसी विशेष गंतव्य की ओर हो, तो इसे प्रगति कहते हैं। आगे की ओर बढ़ने का अर्थ यह है कि गंतव्य स्थान और वर्त्तमान स्थिति का अन्तर कम होता जाता है। यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आवश्यक नहीं कि प्रत्येक पग पर ऐसा होता हो। यात्रा में कहीं कहीं हमें पीछे भी हटना होता है, परन्तु सब मिलाकर हम आगे ही बढ़ते हैं।

२. इतिहास की रूप-रेखा

व्यक्ति कभी आगे बढ़ता है, कभी पीछे हटता है। जन समूहों की हालत में भी ऐसा होता है। यह अनुभव व्यापक है। कवि, दार्शनिक और साधारण पुरुष सब अस्थिरता को देखते हैं। एक नया प्रश्न नवीन काल में विशेष विचार का विषय बन गया है—'क्या सारी मनुष्य जाति भी यात्री-मंडल है, जो किसी गंतव्य स्थान की ओर जा रहा है? वा इसकी गति में कोई नियम नहीं?'

कुछ लोग कहते हैं कि सारी मनुष्य जाति कोई गठित यात्री-मंडल नहीं। मनुष्य एक असीम स्थल में पड़े हैं। कोई बठा है, कोई चलता है। जो चलते हैं, उनमें प्रत्येक अपनी इच्छा के अनुसार घूमता है। वह भी किसी निश्चित गंतव्य की ओर नहीं जाता। सारी जाति को देखें, तो गति तो है, प्रगति दिखाई नहीं देती। इतिहास वास्तविक घटनाओं की कथा है; इसमें तत्व-ज्ञान की खोज करना समय का खोना है। मानव की गति का जो बोध हमें है, वह इतना अल्प है कि उसकी नींव पर किसी मान्य सिद्धान्त को खड़ा नहीं कर सकते।

इस विचार के विपरीत, कुछ लोग कहते हैं कि हम मानव के इतिहास में उसकी गति की दिशा को देख सकते हैं, और हमारी बुद्धि भी इसमें हमारी सहायता कर सकती है। जब हम इनसे पूछते हैं कि गति किस दिशा में होती रही है, और आगे की बाबत क्या सम्भावना है, तो यह लोग एक ही उत्तर नहीं देते। जो उत्तर दिये जाते हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—

(१) एक विचार के अनुसार, मानव जाति की गति प्रगति है। हम आगे बढ़ते रहे हैं, और आगे बढ़ते जायेंगे। प्रगति मानव प्रकृति का स्वाभाविक गुण है, और सांसारिक शक्तियाँ भी इसमें पूरा सहयोग देती हैं। यह 'आशावाद' है।

(२) दूसरे विचार के अनुसार, सारी गति अधोगति है। 'सुवर्ण-युग' वा 'सत्य-युग' देर हुई बीत चुका है; अब तो पतन का युग है। प्रत्येक पग मानव जाति को नीचे ही लिये जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(३) तीसरे विचार के अनुसार हमारी गति कोल्हू के बैल की गति के समान है। बैल चलता रहता है, परन्तु एक संकुचित चक्कर ही काटता है। मानव की गति में सभ्यताएं उदय होती हैं, प्रफुल्लित होती हैं, जराग्रसित होती हैं, और फिर समाप्त हो जाती हैं। यह खेल कभी यहाँ होता है, कभी वहाँ होता है। समस्त इतिहास गति तो है, परन्तु चक्कर ही है। जहाँ से चलते हैं, कुछ समय बाद फिर वहीं आ पहुँचते हैं।

यह विचार बहुत दिलचस्प हैं। इन्हें इनके ऐतिहासिक विकास में देखें।

३. प्रगति का प्रत्यय

(१) प्राचीन यूनान में मानव जाति की प्रगति पर अधिक विचार नहीं हुआ। इसके दो कारण थे:—

(क) यूनान के नगर-राष्ट्रों का इतिहास बहुत संकुचित था, और वह उसके आधार पर कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर सकते थे।

(ख) यूनान में आम विचार यह था कि अस्थिरता की अपेक्षा स्थिरता अधिक मूल्यवान है। अस्थिरता त्रुटि है। प्रगति का तो तत्व ही अस्थिरता है। यूनानियों के लिये यह विशेष अध्ययन का विषय बन ही नहीं सकता था।

(२) मध्यकाल में स्वीकृत धार्मिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को स्वर्ग से निकाल कर पृथिवी पर फेंक दिया गया है। मानव इतिहास पतन से आरंभ हुआ है, और उसी दिशा में बढ़ता गया है। इस दृष्टिकोण का स्वाभाविक फल यह था कि जो लोग आत्मिक उन्नति की चिन्ता करते थे, वह फिर स्वर्ग प्राप्ति के लिये उत्सुक थे; इस लोक की चिन्ता उन्हें बहुत कम थी।

इन लोगों के साथ, कुछ विचारक भी शामिल हो गये, जिन्हें प्रतीत होता था कि मानव जाति की सरल अवस्था वर्त्तमान अवस्था से बहुत अच्छी थी। सभ्यता ने मनुष्यों को दुखी और दुराचारी बना दिया है। इन विचारकों में हम रूसो को लेते हैं। रूसो ने एक निबन्ध में यह बताने का यत्न किया कि सभ्यता बखेड़ों का कारण साबित हुई है। एक और पुस्तक में, मनुष्यों के बड़ा छोटा होने पर लिखा, और इसे सभ्यता का भयानक परिणाम बताया। रूसो के विचार में आरंभिक दशा में मनुष्य अकेले अकेले जंगलों में रहते थे। विकास की दूसरी मंजिल में परिवारों के समूह मिल कर रहने लगे, परन्तु उस अवस्था में न कोई नियम था, न कोई राष्ट्र वा नियन्त्रण था। तीसरी मंजिल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में सभ्यता का उदय हुआ। संगठन विद्यमान हुआ, नियम बने, और बुद्धि के विकास ने मनुष्यों में भेद पैदा कर दिया। कुछ बहुत आगे निकल गये; बहुत से पीछे रह गये। स्वार्थ, भोगवृत्ति, भय, अत्याचार हर ओर प्रकट हुए। इस स्थिति ने रूसो के हृदय पर चोट लगाई।

रूसो दूसरी अवस्था को आदर्श अवस्था समझता था। इसमें न तो पहली अवस्था की निष्क्रियता थी, न तीसरी अवस्था का संघर्ष और असंतोष था। इस स्थिति में रूसो क्या करना चाहता था ? उसने सभ्यता को मिटाने का सुझाव नहीं दिया। उसने इसे एक दुखद तथ्य के रूप में स्वीकार किया, और जो कुछ इस भद्दी स्थिति में हो सकता था, उसे इष्ट बनाया। उसकी सम्मति में बराबरी और लोकतंत्र राज्य मनुष्यों की कुछ सहायता कर सकते हैं। सभ्यता ने मनुष्यों में जो भेद पैदा कर दिया है, उसका प्रमुख कारण बुद्धि है। यही एक मनुष्य को दूसरों से अधिक शक्ति देती है; यही सारे विवाद का मूल है। यदि मनुष्यों को बराबर समझा जाय, और बुद्धि की प्रतिष्ठा को समाप्त कर दिया जाय, तो सभ्यता की ख़राबी कुछ दूर हो सकती है।

(३) नवीन काल में विचारकों की अधिक संख्या प्रगति को वास्तविक तथ्य स्वीकार करती है। उनके विचार में सुवर्ण-युग वा सत्य-युग बीत नहीं चुका, अभी आने वाला है। अब इनकी ओर ध्यान करें।

कांट ने 'नैतिक आदेश' के वर्णन में कहा था कि मानवता, किसी रूप में भी प्रकट हो, साध्य है; और व्यक्ति को साध्यों के राष्ट्र के सदस्य की स्थिति में व्यवहार करना चाहिये। यह उद्दश्य इतना महान है कि कोई मनुष्य अपने अल्प जीवन में इसे पूर्णतया सिद्ध नहीं कर सकता। परन्तु पूर्णता जगत की गति का उद्देश्य भी दीखती है; इसलिये मानव जाति इस गंतव्य की ओर बढ़ ही रही है। बुद्धि का अधिकार बढ़ता जाता है, और बढ़ता ही रहेगा। कांट यह तो नहीं कहता कि मानव की प्रगति अनिवार्य है, परन्तु इतना तो कहता ही है कि यह अधिक संभव है।

कांट के पीछे, फिख़्टे ने स्वतन्त्रता को प्रगति का तत्व बयान किया। स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि नैसर्गिक उत्तेजन के स्थान में बुद्धि का शासन हो। जो कर्म नैसर्गिक उत्तेजन के प्रभाव में होता है, वह बुद्धि के अनुकूल हो, तो भी स्वाधीन कर्म नहीं होता। स्वाधीनता के लिये आवश्यक है कि कर्म

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धि के आदेश का परिणाम हो। स्वाधीनता की पूर्ण सिद्धि ही बुद्धि है। यह आदर्श है ; हम इसके निकट पहुँचते जाते हैं, परन्तु संपूर्ण रूप में इसे प्राप्त नहीं कर सकते। कांट ने कहा था कि प्रगति अधिक संभव है ; फ़िख़्टे इसे असंदिग्ध समझता था। एक और भेद इन दोनों के दृष्टिकोण में यह था कि कांट व्यक्ति की पूर्णता को अन्तिम उद्देश्य बताता था ; फ़िख़्टे मानव जाति के विकास को नैतिक आदर्श समझता था।

फ़िख़्टे के विचारानुसार आरंभ में प्रगति में बोध का अंश नहीं होता ; अर्थात प्रगति होती है, परन्तु बुद्धि के शासन का प्रत्यक्ष फल नहीं होती। इसके बाद बुद्धि अपनी स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करती है। अन्त में बुद्धि का शासन स्थापित हो जाता है। फ़िख़्टे के विचारानुसार, इस समय हम यात्रा के मध्य में है। अबोध प्रगति का युग बीत चुका है, और बुद्धि के शासन का युग अभी नहीं आया। फ़िख़्टे की तरह हेगल भी समझता था कि मानव जाति प्रगति के मार्ग पर चलती रही है। परन्तु जहाँ फ़िख़्टे समझता था कि हम गंतव्य के निकट होते जायेंगे, पर वहाँ पहुँच नहीं पाएंगे, हेगल का ख़्याल था कि मानवजाति गंतव्य तक पहुँच ही गई है। हेगल भी प्रगति को स्वाधीनता के रूप में ही देखता था। उसके विचार में, मानव जाति के उत्थान में तीन मंज़िलें स्पष्ट दीखती है। सभ्यता का पहला युग पूर्व का उत्थान-युग था। चीन में इसका आरंभ हुआ ; चीन के बाद भारत की बारी आई, और भारत से पश्चिमी एशिया में पहुँची। दूसरे युग में यूनान और उसके बाद रोम सभ्यता का केन्द्र बने। तीसरे और अन्तिम युग में जर्मनी को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। स्वाधीनता प्रगति का तत्व है। पहली मंज़िल में राष्ट्र में एक पुरुष ही पूर्णतया स्वाधीन था, और वह सर्वाधिकारी राजपति था। पूर्व में राज्य व्यवस्था ऐसी ही थी। दूसरे युग में, कुछ लोगों को स्वाधीनता प्राप्त हुई—यूनान में अल्पसंख्यक उत्कृष्ट श्रेणियों, और रोम में बहुसंख्यक नागरिकों को। तीसरे युग में, सारे नागरिकों को, जर्मनी के राज्य में, राज-पति के अधीन यह स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। इससे आगे कुछ करने को नहीं रहा।

४. विकासवाद और प्रगति

फ़िख़्टे और हेगल ने कहा था कि प्रगति अटल है। जगत की गति गंतव्य की ओर ही होती रही है। इसी प्रकार का विचार विकासवादियों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। विकासवाद का तत्व, जैसा डार्विन ने कहा, संघर्ष है। इस संघर्ष में जो बच रहने के योग्य है, बच रहता है; जो बचा रहने के योग्य नहीं, वह समाप्त हो जाता है, वा कर दिया जाता है। प्रकृति का चुनाव व्यक्तियों की हालत में ही नहीं होता, विचारों और आदर्शों की हालत में भी होता है। इस तरह विश्व की गति अनिवार्य रूप में प्रगति ही है। हमारी दृष्टि संकुचित सीमाओं में ही देखती है, इससे हमें कभी कभी गति का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं देता; परन्तु प्राकृत नियम ही इसे प्रगति का रूप दे रहा है।

विकासवाद प्राणात्मक प्रगति और नैतिक प्रगति में भेद नहीं करता। इसमें यह उचित सीमाओं से परे चला जाता है। जैसा हम देख चुके ह, प्राणात्मक योग्यता का तो चिन्ह ही बच रहना है; इसके अतिरिक्त हम इसकी बाबत कुछ कह नहीं सकते। नीति की हालत में ऐसा नहीं। विकास में कभी अच्छे गुण बचते हैं, कभी बुरे गुण। प्लेग पड़ती है, तो जो लोग बच रहते हैं, वे शारीरिक योग्यता वा अच्छे इलाज के कारण बच रहते हैं; उन के आचार-अनाचार का उनके बचाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रगति आगे बढ़ना है; इसमें गंतव्य से अन्तर कम होता जाता है। परन्तु अभी हमने इस बात को तो सोचा ही नहीं कि दोनों स्थितियों में कौन सी स्थिति उत्तम वा उत्कृष्ट है। तथ्य यह है कि विकासवाद के कोश में 'उत्तम और अधम,' 'उत्कृष्ट और निकृष्ट' शब्द मौजूद ही नहीं। इसका प्रमुख प्रत्यय आन्तरिक और बाह्य सम्बन्धों की अनुकूलता है। इस अनुकूलता का मूल्य सारी स्थितियों में एक ही नहीं होता। इसके नैतिक मूल्य की जाँच करना विकासवाद का काम ही नहीं। उन्नति का प्रत्यय मानव के आदर्शों के साथ गठित है। इन आदर्शों की बाबत विकासवाद कुछ नहीं कहता।

५. प्रगति का नियम

जो लोग कहते हैं कि संसार की गति, जिसमें मानव की गति भी सम्मिलित है, अनिवार्य रूप में प्रगति है, वह स्वभावतः इस प्रगति के नियम की खोज भी करते हैं। प्रगति के नियम का विवरण भी एक से अधिक रूपों में दिया गया है। हम कुछ रूपों की ओर संकेत करते हैं।

(१) पहले विचार के अनुसार, प्रगति में भोगने वालों की संख्या बढ़ती है, भोग की सामग्री बढ़ती है, और भोग भी बढ़ता है। मनुष्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाति की संख्या पिछली कुछ शतियों में बहुत बढ़ी है। इसके पहले, उन्नति में एक अंश यह था कि भोग के सामान के उत्पादन के लिये पर्याप्त संख्या काम करने वालों की हो। अब मनुष्यों की तो कमी नहीं; उत्पादन के स्थान में विभाजन पर अधिक बल दिया जाता है। अब हम कहते हैं कि भोग-सामग्री पर अधिक से अधिक संख्या का अधिकार हो। भोग-सामग्री की मात्रा और इसके विविध रूपों में वृद्धि होनी चाहिये। भोगने वाले हों, भोग के सामान हों, फिर भी इस बात की आवश्यकता रहती है कि वह भली प्रकार भोग सके। सभ्यता का एक चिन्ह यह है कि काम-काज के बाद पर्याप्त मात्रा में अवकाश मिले। अवकाश मिलने के साथ, उसे उचित रूप में व्यय करना भी बहुत सुगम नहीं। उच्च शिक्षा का एक बड़ा लाभ तो यही है कि यह हमें अवकाश का अच्छा प्रयोग करने के योग्य बनाती है।

(२) पहले विचार में प्राकृत सभ्यता को प्रमुख रूप में ध्यान में रखा गया है। आगस्ट काम्ट ने बौद्धिक दृष्टिकोण के विकास पर विशेष ध्यान दिया। उसके विचार में प्रगति का प्रमुख चिन्ह यह है कि मनुष्य सांसारिक घटनाओं को नये दृष्टिकोण से देखने लगता है। आरंभ में इन घटनाओं में अप्राकृतिक चेतन शक्तियों का हाथ दीखता है। इसके बाद चेतन शक्तियों का ख़्याल छोड़ दिया जाता है, और उनका स्थान नियमों को दिया जाता है: जो कुछ हो रहा है, वह नियम के अधीन हो रहा है। तीसरी और अन्तिम मंज़िल में केवल घटनाओं को देखा जाता है, और उन्हें शृंखलित किया जाता है। 'नियम' हमारी रचना है। घटनाएं नियमों के अधीन नहीं होतीं; हम उन्हें नियमित रूप में देखते हैं। हमारे देखने से अलग उन नियमों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। इन तीनों मंज़िलों को काम्ट 'धार्मिक', 'दार्शनिक' और 'वास्तविक' का नाम देता है।

काम्ट ने कहा है कि विचार पर ही मनुष्यों के व्यवहार का आधार होता है। मानव जाति की गति पर दृष्टिकोण के परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है। इस नियम के अतिरिक्त, एक और प्रवृत्ति भी मनुष्यों में पाई जाती है: वह अपने सामुदायिक जीवन को निर्विरोध बनाना चाहते हैं; और इसलिये उन्नति सारे अंशों में होने लगती है। काम्ट ने इस तथ्य की ओर से आँख बन्द नहीं की कि यह उन्नति सीधी रेखा में नहीं होती, और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न ही इसकी गति सदा एक सी रहती है। जातिभेद, जल-वायु आदि प्राकृत स्थिति का भेद, और राज-नीतिक निर्णय भी प्रभाव डालते ह ।

(३) तीसरा विचार स्वाधीनता के उत्थान को प्रगति का तत्व समझता है। इस विचार के अनुसार, मानव जाति का इतिहास स्वतन्त्रता के संघर्ष की कथा ही है । हेगल ने इसी पर बल दिया । उसके विचार में जिस नियम के अनुसार हमारे चिन्तन में प्रगति होती है, उसी के अनुसार सामूहिक जीवन में भी होती है । यह गति तीन मंजिलों से गुज़रती है । हम कोई 'धारणा' करते हैं। इसमें आन्तरिक विरोध दीखता है, और हम इस 'धारणा' के स्थान में 'प्रतिधारणा' को अपनाते हैं । इसमें भी आन्तरिक विरोध दीखने लगता है। अन्त में हम 'धारणा' और 'प्रतिधारणा' दोनों का 'समन्वय' करते हैं। यह क्रम जारी रहता है । इस विचार की ओर पहले भी संकेत कर चुके हैं ।

६. नैतिक उन्नति

बहुतेरे लोग प्रगति और नैतिक उन्नति में भेद नहीं करते । वह इस उन्नति को सामाजिक प्रगति के अन्तर्गत ही देखते हैं । यह ठीक नहीं । प्रगति में हम आगे बढ़ते हैं; वर्त्तमान स्थिति और गंतव्य के अन्तर को कम करते जाते हैं। परन्तु यह प्रश्न कि हमारा गंतव्य श्रेष्ठ है वा अश्रेष्ठ है, एक ओर रह जाता है। नैतिक गति आगे बढ़ना नहीं, ऊपर उठना है। इसमें निकट और दूर का नहीं; ऊँच और नीच का प्रश्न प्रधान होता है। नैतिक उन्नति के सम्बन्ध में दो प्रश्न विचार के योग्य हैं—

(१) नैतिक उन्नति का स्वरूप क्या है ?

(२) क्या हम कह सकते हैं कि ऐसी उन्नति होती रही है, और इसके जारी रहने की अच्छी संभावना है ?

एक कथन के अनुसार, 'भला पुरुष सदा अधिक भला होने का यत्न करता रहता है ।' उन्नति की यात्रा में कहीं ठहर जाने का कोई अर्थ नहीं। जैसा कांट ने कहा, हमारा काम अनन्त है, और इसके लिये यत्न भी निस्सीम ही होना चाहिये। उन्नति आदर्श की ओर उठना है। पहली आवश्यकता तो यह है कि आदर्श निःश्रेयस हो। इससे कम जो कुछ हम इष्ट बनाते हैं, उसकी कीमत साधन की हो सकती है; अन्तिम साध्य की नहीं । इसके सम्बन्ध में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कांट ने अच्छा पथप्रदर्शन किया है। हमें मानवता की अनन्त कीमत को समझना चाहिये। नैतिक व्यक्तित्व के महत्व को समझ लें, तो कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) आत्मा अनात्मा से उत्कृष्ट है। हमारा स्थान प्रकृति के स्वामी का स्थान है; इसके सेवक का स्थान नहीं। सारे मूल्यों में आध्यात्मिक मूल्य सर्वोपरि हैं।

(२) मनुष्य के जीवन में आचरण की अपेक्षा आचार का महत्व अधिक है। आचरण दृष्ट है। इसके मूल्य में सफलता को मापक वा कसौटी स्वीकार किया जाता है। नीति में सफलता को गौण समझा जाता है। देखने की बात यह है कि मनुष्य करना क्या चाहता है। राबर्ट ब्राउनिंग ने एक कविता में कहा है—'लोग व्यक्ति का मूल्य उसके दृष्ट कार्यों से जाँचते हैं; परमात्मा की दृष्टि में उसका मूल्य उसके प्रयोजनों और उद्देश्यों पर निर्भर है, जिनका पूरा ज्ञान शायद स्वयं उसे भी न था, और जो शब्द में बन्द नहीं हो सकते।'

(३) सामाजिक उन्नति में प्रत्येक बुद्धिवंत मनुष्य का भाग है। प्रत्येक को इस उन्नति में, अपनी योग्यता के अनुसार, सहयोग देना चाहिये, और प्रत्येक को इसके भोग में उचित भाग मिलता चाहिये। जिन भेदों ने मनुष्यों की बड़ी संख्या को मानव के अधिकारों से वंचित रखा है, वे सब नैतिक दृष्टि से निर्मूल हैं।

स्वीकृत आदर्श को व्यक्ति के समक्ष रखने के लिये, समाज संस्थाओं और व्यवस्थाओं से सहायता लेता है। संस्था और व्यवस्था में भेद करना चाहिये। संस्था मनुष्यों का विशेष समूह है; व्यवस्था एक क्रम है। परिवार संस्था है; विवाह एक व्यवस्था है। राष्ट्र संस्था है; सम्पत्ति और इसका स्वामित्व एक व्यवस्था है। संस्थाओं और व्यवस्थाओं का काम यह है कि वह आदर्श की सिद्धि को सुगम बनायें। इसके लिये आवश्यक है कि वह आदर्श के तत्व को अपनी दृष्टि में रखें, और समय की स्थिति के साथ अपने ढांचे को बदलते जायें। वह जीवित व्यक्ति रहें, हड्डियों का पिंजर न बन जायें। उनमें आपस का विरोध भी नहीं होना चाहिये। व्यक्ति को नियम में रखने के लिये, उन सब का प्रभाव सम्मिलित होना चाहिये।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन्नति में केन्द्रीय बात तो व्यक्ति का अपना यत्न है। व्यक्ति की क्रिया ऐसी हो कि वह उसे आदर्श की ओर ले जाय।

व्यक्ति के आदर्श के सम्बन्ध में बहुत कुछ पहले कहा जा चुका है। यहाँ फिर कहने की आवश्यकता नहीं।

नैतिक उन्नति के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में मानव समाज की हालत में नैतिक उन्नति हुई है।

तथ्य तो यह है कि नैतिक उन्नति का प्रत्यय केवल व्यक्ति के सम्बन्ध में ही सार्थक है। नैतिक क्रिया व्यक्तियों की क्रिया है। जो कुछ समाज के नाम पर होता है, वह भी व्यक्ति ही करते हैं। कोई समाज, समाज की स्थिति में, सदाचारी वा दुराचारी नहीं होता। सामूहिक काम नये हालात पैदा कर देता है; इससे आगे नहीं जाता। आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में तो सन्देह का अवकाश ही नहीं। अब पहले की अपेक्षा भोग और सुख के सामान बहुत अधिक हैं। जो कुछ पहले किसी किसी को प्राप्त होता था, वह अब बड़ी संख्या की पहुँच में है। धन की मात्रा बढ़ गयी है; धनवानों की संख्या भी बढ़ गई है। परन्तु संभवतः निर्धनों की संख्या भी बढ़ गयी है। यह कौन कह सकता है कि मानव जाति वा इसका कोई बड़ा भाग १५ वीं शती की अपेक्षा अब अधिक सुखी है? और सुखी हो भी, तो भी हमारा प्रश्न तो यह है कि नैतिक उन्नति हुई है, वा नहीं। इसकी बाबत हम निश्चय से कुछ नहीं कह सकते। पहले भी कुछ मनुष्य अच्छे थे, कुछ बुरे थे; अब भी यही स्थिति है। क्या आज के अच्छे पुरुष पहले के अच्छे पुरुषों की अपेक्षा ऊँचे स्तर पर हैं? इसकी बाबत बहुत संदेह है। यदि हम वृत्त को बुद्धिमत्ता के साथ मिला दें, तो भी हमें समस्या के हल करने में कोई सहायता नहीं मिलती। यह बात भी असंदिग्ध नहीं कि मनुष्य बुद्धिमत्ता में आगे बढ़ रहा है। बुद्धिमत्ता नहीं, हमारा ज्ञान पूर्वजों के ज्ञान से अधिक है। प्रत्येक नसल इसमें कुछ वृद्धि करती जाती है। परन्तु ज्ञान की वृद्धि बुद्धिमत्ता की उन्नति से भिन्न है। हम यह नहीं कह सकते कि नैतिक लिहाज से मानव समाज पहले से ऊंचे स्तर पर है, न ही यह कह सकते हैं कि पहले से गिर गया है। व्यक्ति की बाबत भी यह नहीं कह सकते कि उसकी मानसिक बनावट में नैतिक अंश पहले से अधिक है, वा नैतिक गुण उत्तम पद के हैं।

यह निश्चय नैतिक आशावाद को प्रोत्साहन नहीं देता। कुछ विचारक इसी परिणाम पर एक अन्य ओर से पहुँचते हैं। वह कहते हैं कि उन्नति का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्व संघर्ष है। संघर्ष का फल यह होता है कि जिन कठिनाइयों से हम लड़ रहे हैं, वह कम होती जाती हैं। ऐसा होने पर, संघर्ष की आवश्यकता कम हो जाती है, और हमारा उत्साह भी कम हो जाता है। परिणाम यह होता है कि नैतिक प्रयत्न अपने उद्देश्य के ही विपरीत जाता है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि इस प्रयत्न के लिये, कठिनाइयों को कम नहीं, अपितु अधिक करना चाहिये। हमारा उद्देश्य विजय प्राप्त करना नहीं, लड़ना है।

यह धारणा भी संतोषजनक नहीं। यात्रा निरी गति नहीं; किसी गंतव्य स्थान पर पहुँचने के लिये होती है।

इस विवेचन का फल यह है कि नैतिक उन्नति प्रत्येक मनुष्य का अपना काम है। वातावरण बदलता जाता है, परन्तु किसी वातावरण में भी निश्चय से यह नहीं कह सकते कि व्यक्ति इसमें ऊपर ही उठेगा, न यह कि वह नीचे ही गिरेगा। हम बीसवीं शती में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हम नैतिक दृष्टि से न अपने आपको भाग्यवान कह सकते है, न अभागे कि हम १५ वीं शती में पैदा नहीं हुए। समय के भेद से, भलाई-बुराई का रूप कुछ बदल जाता है; नैतिक प्रयत्न का तत्व एक सा ही रहता है। कर्त्तव्यनिष्ठता का भाव देश और काल से स्वतन्त्र है।

७. तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण

भारत में भी उन्नति को विकास के रूप में देखा गया है। इस विकास में केन्द्रीय प्रत्यय 'संगठन' का है। इस प्रकार का विकास जड़ पदार्थों में भी पाया जाता है। मिट्टी का ढेर सामग्री की एक मात्रा है। ढेर में आकृति अवश्य होती है, परन्तु सामग्री की अपेक्षा इसका महत्व बहुत थोड़ा होता है। बालक ढेर पर चलें वा आँधी आये, तो इसका आकार बदल जाता है। जब इस मिट्टी से ईंटें बनती हैं, तो प्रत्येक ईंट एक स्थाई आकृति को ग्रहण करती है। इसे एक व्यक्तितत्व प्राप्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि मिट्टी का यह अंश एकाई के रूप में कार्य करता है, और एकाई के रूप में ही इस पर कार्य होता है। ईंट बनने के पूर्व इसे कुछ और रूप दिया जा सकता था; अब यह संभावना नहीं रही। पहली स्थिति में मिट्टी में मात्रा का चिन्ह प्रधान चिन्ह था; अब संख्या का चिन्ह प्रधान चिन्ह हो गया है। ईंट में मिट्टी के अणु एक दूसरे से बंध गये हैं, और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्य अणुओं से अलग हो गए हैं। जब भवन बनता है, तो ईंटे भी एक दूसरे के साथ बंध जाती हैं, और अन्य ईंटों से अलग हो जाती हैं।

व्यक्ति के जीवन में भी हम इसी प्रकार का विकास देखते हैं। आरंभ में बाह्य जगत उसके लिए एक भेद–रहित परिमाण होता है। इसके पीछे वह इस परिमाण को विशेष पदार्थों में विभक्त करता है। उसके ज्ञान में, एकता के स्थान में नानात्व और बहुत्व प्रधान हो जाते हैं। तीसरी मंजिल में, वह इन पदार्थों के आपस के संबन्धों को देखता है । क्रिया में, पहले प्रायः नियम का अभाव सा ही होता है ; जो उत्तेजन समर्थ होता है, वह क्रिया को निश्चित करता है। दूसरी मंज़िल में व्यक्ति के कार्यों में संगठन प्रविष्ट होता है; उसके कार्य आचरण का रूप धारण करते हैं। स्वार्थ वा स्वप्रेम इन्हें गठित करता है। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति अपनी ओर खींचता है। इसका फल यह होता है कि संघर्ष, कलह, और दुख बढ़ने लगते हैं। अन्तिम मंज़िल में, व्यक्तियों में भी उसी प्रकार के सामंजस्य की माँग होने लगती है, जैसी दूसरी मंज़िल में उत्तेजनों में हुई थी। इन तीनों अवस्थाओं को तामस, राजस और सात्विक अवस्थाएँ कहते हैं। तामस अवस्था में अभी चरित्र का निर्माण हुआ ही नहीं ; प्रत्येक उत्तेजन अपना अवसर लेता है ; राजस अवस्था में प्रत्येक अपनी क्रिया को संगठित करता है, परन्तु अपने से परे नहीं देखता ; सात्विक अवस्था में वह समाज हित को प्रमुख स्थान देता है, और दूसरों की भलाई में ही अपनी भलाई को देखता है। उन्नति का नियम तमोगुण से निकल कर, रजोगुण से गुज़र कर, सतोगुण को प्राप्त करना है। व्यक्तियों की तरह, जातियों में भी यही क्रम दीखता है। कई सदियों से पूर्व के देश तामस अवस्था में थ। अब राजस अवस्था की ओर चलने लगे हैं। पश्चिम के देश राजस अवस्था में रहे हैं, और हैं। कुछ आशावादियों के ख्याल में अब समय है कि मनुष्य जाति सात्विक अवस्था की ओर चलना आरंभ करे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिशिष्ट

६. निराधीनता, पराधीनता, और स्वाधीनता

१. विचार का विषय

इससे पहले हम कह चुके हैं कि नीति भी अन्य विद्याओं की तरह कुछ धारणाओं के साथ आरम्भ करती है। ये धारणाएं तीन हैं—

(१) भद्र और अभद्र का भेद वास्तविक है; कल्पना मात्र नहीं।

(२) इस भेद का ज्ञान हमारी पहुंच से बाहर नहीं; हम इसे जान सकते हैं।

(३) भद्र का उत्पादन करने में हम समर्थ हैं।

यह धारणाएं एक क्रम से चलती हैं। पहली धारणा तो इतना ही कहती है कि मूल्य सत्ता का अंश है। ऐसा हो भी, तो सम्भव है कि जो शक्तियां हमें मिली हैं, उनकी सहायता से हम इसे जानने में असमर्थ हों। दूसरी धारणा इस संदेह को दूर कर देती है, और कहती है कि यह ज्ञान हमारी पहुंच में है। तीसरी स्थिति यह हो सकती है कि भद्र और अभद्र का भेद वास्तविक हो; और हम उसे देखते हों; परन्तु भद्र के उत्पादन और अभद्र के विनष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हों। प्राचीन यूनान की गाथा में टैंटेलस का वर्णन आता है। उसे देवताओं के साथ भोजन करने का वर मिला, परन्तु, उनके भेदों को व्यक्त करने पर, उसे इस अधिकार से वंचित किया गया, और एक झील में रख दिया गया। जब वह पानी पीना चाहता, तो पानी उसके होंटों से परे हट जाता; जब निकट लटके हुए फलों की ओर हाथ बढ़ाता, तो वह परे हट जाते। तीसरी धारणा कहती है कि हमारी दशा ऐसी शोचनीय नहीं। हम भला कर्म कर सकते हैं। अरस्तु ने तो अपनी पुस्तक के पहले वाक्य में ही कहा है कि हम जो कुछ भी करते हैं, भद्र के उत्पादन के ख़याल से ही करते हैं।

तत्वज्ञान इन धारणाओं की जांच करता है। तीसरी धारणा विवाद का विशेष विषय बनी रही है; अब भी है। इसकी बाबत यहां कुछ विचार करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण अपनाए गये हैं—

(१) निराधीनतावाद

इसके अनुसार, हम निश्चय कर सकते हैं कि कुछ करें वा न करें; और यदि करें, तो एक से अधिक संभावनाओं में से किसे कार्य रूप दें।

(२) पराधीनतावाद

इसके अनुसार हम कुछ करते नहीं। जो कुछ होता है, प्राकृत नियम के अधीन होता है। हम कहते हैं—'चाकू सेव को काटता है।' चाकू केवल करण है; काटने वाला तो मनुष्य है। पराधीनतावाद कहता है कि दूसरा वाक्य भी पहले की भांति निराधार है। चाकू के समान हमारा शरीर भी करण ही है। कुदरत की शक्तियां चाकू और हमारे शरीर में से अपनी गति में गुज़र जाती हैं।

(३) स्वाधीनतावाद (स्व-अधीनतावाद)

इसके अनुसार हम अपने कर्मों में विवश होते हैं, परन्तु बाह्य शक्तियों वा वातावरण के वशीभूत नहीं होते। हमारा चरित्र, जो वर्त्तमान क्षण तक बन चुका है, हमारे कर्म को निश्चित करता है। हमारा वर्त्तमान हमारे भूत का अनिवार्य फल है।

निराधीनतावाद साधारण मनुष्य का मत है; पराधीनतावाद वैज्ञानिकों का प्रिय सिद्धान्त है; स्वाधीनतावाद नैतिक विचारकों को संतोषजनक प्रतीत होता है।

हम यह देखने का यत्न करेंगे कि इन तीनों विचारों के पक्ष में क्या कहा जाता है; और नीति के लिये इनका सार वा महत्व क्या है। ऐसा करने से पहले यह देख लें कि स्वतन्त्रता का प्रत्यय किन अर्थों में समझा जाता है।

२. स्वतन्त्रता

संसार में जो कुछ हो रहा है, उसे दो भागों में बांटा जाता है–प्राकृत घटनाएं और कर्म। बिजली की कड़क, नदी का समुद्र की ओर बहना, अग्नि में कोयले का जलना, नीचे गिरने पर शीशे का टूटना प्राकृत घटनाएं हैं। मेरा लिखना–पढ़ना, खाना–पीना, खेलना आदि कर्म हैं: इनमें चेतना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और संकल्प विद्यमान हैं। कुछ लोग इस भेद को स्वीकार नहीं करते। उनमें कुछ ऐसे हैं जो प्राकृत घटनाओं को कर्म के रूप में देखते हैं; कुछ कर्मों को घटनाओं के रूप में देखते हैं। बहुसंख्या दोनों में भेद करती है। कर्म का तत्व, उनकी दृष्टि में, एक से अधिक संभावनाओं में चुनाव करना है। जब मैंने यह लेख लिखना आरम्भ किया, मेरे लिये यह भी सम्भव था कि छड़ी लेकर घूमने चला जाता।

कुछ लोग कहते हैं कि ऐसे कर्मों में तो वातावरण का भी बहुत दख़ल होता है। अब जब कि वह समय बीत चुका है, मैं निश्चय से कैसे कह सकता हूं कि मैं ऐसा कर सकता था? सम्भव है उस समय प्राकृत जगत का शेष भाग छड़ी को अपने स्थान से हिलने न देता। यह भी सम्भव है कि मुझे भी अपनी बैठक के साथ जकड़ दिया जाता। भूत काल में ऐसा नहीं हुआ; मुझे आशा है कि आगे भी ऐसा नहीं होगा; परन्तु भूत का सीमित अनुभव और मेरी आशा तो निश्चय करने में पर्याप्त नहीं। स्वतन्त्रता की बाबत विवेचन करते हुए हमें वातावरण को परे रखने का यत्न करना चाहिये। हमें मानसिक जीवन की ओर ही ध्यान देना चाहिये। विल्यम जेम्स ने कहा है कि जब मैं लिखने का संकल्प करते ही लिखने लगता हूं, तो मेरी स्वाधीनता मेरे संकल्प तक ही होती है; मेरी अंगुलियों का कलम को पकड़ना और लिखना असंगत है; यह न भी हो, तो भी स्वाधीन क्रिया तो हो चुकी है। दार्शनिकों में बहुतेरे कहते हैं कि संयम स्वतन्त्रता का अखण्ड प्रमाण है। प्रश्न यह है कि क्या हम प्राकृत उत्तेजन वा उद्वेग को रोक सकते हैं? नैतिक यत्न का बड़ा उद्देश्य तो ऐसा संयम ही है। संयम ही स्वतन्त्रता है।

३. निराधीनतावाद

पिछले कुछ अध्यायों में हमने नैतिक विचार को इसके ऐतिहासिक विकास में देखा है। अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी हम विकास का अध्ययन करते हैं। यदि विश्व की सारी घटनाओं को एकत्र करें, तो यह विश्व का इतिहास है। यह इतिहास बनता कैसे है? हम इतिहास का अध्ययन ही कर सकते हैं, वा इतिहास को किसी अंश में बनाते भी हैं? वास्तव में इतिहास का अध्ययन करना भी इतिहास का बनाना है। मेरे अध्ययन के पूर्व इस अध्ययन का घटनात्मक अस्तित्व नहीं था; मैंने इसे उत्पन्न किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेख इससे भी अधिक स्पष्ट उत्पादन है। जो कुछ मैं अब लिख रहा हूं, वह, ठीक इसी रूप में, इससे पहले विद्यमान नहीं था। प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक धारणा यह है कि वह भी विश्व का इतिहास बनाने में भाग ले रहा है। कार्य कारण के बिना हो नहीं सकता। इसमें तो सारे सहमत हैं; जब कारण के स्वरूप की बाबत पूछते हैं, तो अनेक उत्तर मिलते हैं। हमें प्रतीत होता है कि हम शक्ति का प्रयोग करते हैं। जब दो खिलाड़ी कुशती लड़ते है, तो वह दोनों अनुभव करते हैं कि वह कुछ कर रहे हैं; खेल देखने वालों की भांति देखते ही नहीं। हम कोई बुरी ख़बर सुनते हैं। हमारा जी भर आता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि आंसू आँखों में आ रहे हैं। परन्तु हम शोक को इस रूप में व्यक्त होने नहीं देते। यह भी शक्ति के प्रयोग का एक रूप है। इससे भी बढ़ कर शक्ति का प्रकटन अपने विचारों को नियम में रखना है। चित्त की एकाग्रता मानसिक शक्ति का प्रयोग है। हम किसी विषय पर विचार कर रहे हैं। हमारे निकट ही अन्य मनुष्य बातें करते हैं, परन्तु हम या तो उन्हें सुनते ही नहीं, या उनके शब्द ध्वनि-मात्र होते हैं, सार्थक शब्द नहीं होते।

ह्यूम कहता है कि इन सब स्थितियों में हमारा ज्ञान तो घटनाओं के पूर्वापर क्रम तक सीमित है; शक्ति का प्रत्यय हम अपनी ओर से प्रविष्ट कर देते हैं। जब हम कई बार एक घटना को दूसरी घटना के पीछे आता देखते हैं, और विपरीत अवस्था में ऐसा नहीं देखते, तो हम उनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध देखने लगते हैं। इस सम्बन्ध का हमारी कल्पना के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं।

अंग्रेज दार्शनिकों में ह्यूम का स्तर बहुत ऊंचा है। यह ख़्याल करना बहुत कठिन है कि जो पुस्तकें उसने लिखीं, वह उसकी क्रिया का फल नहीं; वातावरण में जैसे अन्य अगणित घटनाएं होती हैं, वैसे ही, किसी यत्न के अभाव में, उसके हाथ में कलम जा पहुंची; कुछ शब्द लिखे जाने लगे; और, हमारी तरह, उसे भी इनके लिखे जाने के बाद पता लगा कि क्या लिखा गया है। कालिदास और शक्सपीयर के नाटक उनकी रचना नहीं, उनकी अंगुलियां और मस्तिष्क भी, कलम और कागज़ की तरह, करण मात्र थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम अपने आप को प्रकटनों का समूह नहीं समझ सकते । यह बात तो स्पष्ट ही है कि यदि हम कुछ कर नहीं सकते, तो नैतिक उत्तरदायित्व का कोई अर्थ ही नहीं । हमारा भूतकाल तो अब बदल नहीं सकता । भविष्य की बाबत हमारी धारणा होती है कि हमारे समक्ष एक से अधिक मार्ग पड़े हैं, और हम उनमें से किसी को चुन सकते हैं । कोई पुरुष कह नहीं सकता कि हम किस मार्ग पर चलने लगेंगे । हम यह जान सकते हैं कि २००० ई० के बाद पहला सूर्यग्रहण कब लगेगा ; अपनी बाबत हम कल के संबन्ध में भी निश्चय से नहीं कहते । सूर्य, चांद, और पृथ्वी पराधीन है ; हमारी क्रिया हमारी निराधीनता को व्यक्त करती है ।

४. निराधीनता के पक्ष में हेतु

साधारण मनुष्य निराधीनता में स्वाभाविक विश्वास रखता है । हम विवेचन कर रहे हैं । विवेचन निराधीनता के पक्ष में क्या कह सकता है ? मनोविज्ञान, नीति, और तत्व-ज्ञान तीनों से पूछें ।

यह तो हमारे वश में नहीं कि हम छलांग लगा कर फिर भूतकाल में जा पहुंचें, और जो कुछ हमने किया था, उससे कुछ भिन्न करके दिखा दें । इस प्रकार का प्रमाण संभव ही नहीं । इसे ध्यान में रखते हुए, कुछ लोग कहते हैं कि मनोविज्ञान इस विषय में कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सकता । इस पर भी यह तो स्पष्ट ही है कि मानसिक क्रिया का बड़ा भाग स्वतन्त्रता पर आधारित है । एक पूर्व अध्याय में हमने संकलिपत कर्म का विश्लेषण किया है । क्रिया का कुछ समय के लिये रोकना, विभिन्न संभावनाओं की जाँच करना, उनमें चुनाव करना, चुनी हुई संभावना को क्रिया रूप देने का प्रयत्न करना— ये सब स्वतन्त्रता के प्रकटन हैं । ज्ञान की ओर देखें, तो प्रत्यक्षीकरण में, स्मरण में, अनुमान में स्वतन्त्र क्रिया विद्यमान है । जब हम अपने पिछले कर्मों की बाबत सोचते हैं, तो किसी कर्म के संबन्ध में अभिमान करते हैं ; किसी के संबन्ध में लज्जित होते हैं । वृष्टि से हमें लाभ वा हानि पहुंचती है, तो हमें हर्ष वा शोक होता है ; अभिमान वा लज्जा का कोई अवसर नहीं दीखता । ये सारे अनुभव स्वतन्त्रता को स्वीकार करने पर स्पष्ट दिखाई देते हैं ; विपरीत दशा में, पहेलियाँ बन जाते हैं ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नीति में तो आधारशिला ही कर्त्तव्य की भावना है । यह भावना हमारे जीवन में ऐसा तथ्य है, जिसमें संदेह हो ही नहीं सकता । इस भावना के साथ स्वतन्त्रता गठित है । यदि हम कुछ कर ही नहीं सकते, तो यह कहना निरर्थक है कि हमें यह करना चाहिये, वह नहीं करना चाहिये । चन्द्रमा पृथ्वी के गिर्द घूमता है, और उसी दिशा में घूमता है, जिसमें घड़ी की सुइयाँ चलती हैं । कौन इस विवाद में पड़ता है कि यह गति ठीक है वा नहीं ; और इसी दिशा में होनी चाहिये, वा विपरीत दिशा में ? हम अपने कर्मों की बाबत विवाद में पड़ते हैं । स्वयं यह क्रिया ही स्वतन्त्रता का प्रदर्शन है ।

इतना तो स्पष्ट ही है कि स्वतन्त्रता के अभाव में नैतिक जीवन अर्थहीन प्रत्यय हो जाता है । कांट के शब्दों में, 'तुम्हें करना चाहिये ; इसलिए तुम कर सकते हो ।' 'तुम्हें करना चाहिए' : यह तुम्हारे मनुष्यत्व की माँग है ; इसे पूरा करने पर ही तुम मानव-स्तर पर रह सकते हो । व्यक्ति की स्वतन्त्रता अपने साथ उसका दायित्व लाती है । हम यह भी कह सकते हैं— 'तुम कर सकते हो ; इस लिये तुम्हें करना चाहिये ।'

तत्व-ज्ञान की दृष्टि में मुख्य प्रश्न यह है कि विश्व में मनुष्य का स्थान क्या है । प्रकृतिवाद मनुष्य को प्राकृत जगत का एक अंश समझता है, और उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता । पश्चिम में नवीन दर्शन ने पुरुष और प्रकृति के भेद से आरंभ किया । जान लाक ने पुरुष वा आत्मा को तख़्ती से उपमा दी । प्रकृति इस तख़्ती पर अनेक अनुभवों को अंकित करती है । जिस तरह कैमेरा किसी प्रकार की क्रिया के बिना प्रकाश पड़ने पर बाहर के चित्रों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेता है, उसी तरह, लाक के विचार में, आत्मा भी, बिना कुछ किये, बाह्य अनुभवों को ग्रहण करता है । कांट ने इस सारी विचारधारा को बदल दिया । उसने आत्मा की कर्मण्यता पर विशेष बल दिया । उसके विचार में, हमारा ज्ञान निष्क्रिय आत्मा पर बाह्य जगत की छाप नहीं, अपितु आत्मा की क्रिया का फल है । आत्मा ही सारे प्रकटनों को देश और काल में देखता है ; आत्मा ही उन्हें कारण-कार्य के सम्बन्ध में बाँधता है । आत्मा अनुभवों को ग्रहण नहीं करता ; उन्हें बनाता है । यह सब कुछ स्वतन्त्रता के प्रयोग से ही हो सकता है । जैसा हम देख चुके हैं, कांट ने प्रकटनों के जगत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और स्वयं-सत्ताओं में भेद किया, और कहा कि स्वयं-सत्य होने की स्थिति में आत्मा स्वतन्त्र है ।

५. पराधीनतावाद

निराधीनतावाद के दावे को पराधीनतावाद अस्वीकार करता है। पराधीनतावाद का आक्रमण दो रूप ग्रहण करता है। एक रूप में, मनुष्य के सारे कर्मों को आदि से निश्चित बयान किया जाता है ; दूसरे रूप में, मानसिक क्रिया को वातावरण के आक्रमण का फल बताया जाता ह।

इन दोनों की बाबत कुछ विचार करें।

भाग्यवाद की धारणा के अनुसार हम जो कुछ भी करते हैं, पहले से पूर्णतया निश्चित है। सारी क्रिया वास्तव में एक ही शक्ति की है, और वह शक्ति हमारी नहीं। अद्वैतवाद का पक्ष यह है। अद्वैतवाद का स्वीकृत सूत्र यह है—

ब्रह्म=विश्व

जब इसका स्पष्टीकरण किया जाता है, तो यह दो भिन्न रूप ग्रहण करता है। एक रूप में, 'ब्रह्म ही सब कुछ है'; दूसरे रूप में, 'जो कुछ है, वह ब्रह्म है'। स्पीनोजा के सिद्धान्त को इन दोनों रूपों में समझा गया है। कुछ लोगों के विचार में वह विश्व के अस्तित्व को अस्वीकार करता था ; कुछ लोगों के विचार में वह परमात्मा की सत्ता को नहीं मानता था।

जो लोग ब्रह्म को ही अकेली सत्ता मानते हैं, वह जीव को प्रकटन का पद ही देते हैं, और प्रकटन की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नहीं।

स्पीनोजा के सिद्धान्त में तीन प्रत्यय—द्रव्य, गुण, और रूप प्रमुख हैं। द्रव्य एक ही हो सकता है। इसी को ब्रह्म भी कह सकते हैं। द्रव्य में असंख्य गुण हैं। इनमें दो गुणों की बाबत ही हम जान सकते हैं। ये दो गुण 'चिन्तन' और 'विस्तार' हैं। प्रत्येक गुण अनेक रूपों में व्यक्त होता है। 'चिन्तन' के किसी विशेष रूप को 'जीव' कहते हैं ; 'विस्तार' के विशेष 'रूप' को प्राकृत पदार्थ कहते हैं। गुणों और उनके रूपों में कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। सारी क्रिया अकेले द्रव्य की है। हमें पुरुष और प्रकृति में कारण-कार्य का सम्बन्ध भासता है। तथ्य यह है कि 'चिन्तन' और 'विस्तार' एक ही 'द्रव्य' के आन्तरिक और बाह्य पक्ष हैं, और इसलिये संबद्ध प्रतीत होते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसे अद्वैतवाद में मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं। परन्तु स्पीनोज़ा अन्य मनुष्यों में जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन एक सांचे में ढला था, और वह दूसरों के लिये भी उचित और अनुचित व्यवहार में भेद करता था। उसने भी एक विशेष अर्थ में स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। उसकी सम्मति में जो कुछ असंभव है, उसके लिये भटकना, और जो कुछ टल नहीं सकता, उसके सम्बन्ध में बड़बड़ाना, दोनों बेसमझी की बातें हैं। जो मनुष्य इन दोनों से बचा रहता है, वह स्वाधीन है। स्पीनोज़ा ने होनहार की प्रसन्नमुख स्वीकृति को ही स्वतन्त्रता समझा। ऐसी स्वीकृति बहुमूल्य भावना हो सकती है, परन्तु इसे स्वाधीनता कहना तो ठीक नहीं।

धर्म के नाम पर भी निराधीनतावाद पर प्रहार होता है। कुछ आस्तिक कहते हैं कि सर्वशक्तिमान परमात्मा के साथ किसी अन्य शक्तिवंत के लिये स्थान नहीं। जीवात्मा भी अन्य पदार्थों की भांति एक रचना है। जो स्वभाव उसे दिया गया है, उसके अनुसार ही वह क्रिया कर सकता है। कुछ लोग इससे आगे जाते हैं, और कहते हैं कि विधाता ने प्रत्येक मनुष्य का भाग्य आरंभ में ही निश्चित कर दिया है। कुछ आस्तिक कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, और जानता है कि व्यक्ति जीवन भर में क्या करेगा। जब मेरे सारे कर्म पहले ही उसके ज्ञान में है, तो मेरे लिये स्वाधीन कर्म करने का अवसर ही नहीं।

निराधीनतावाद पर दूसरा आक्रमण विज्ञान की ओर से होता है। बहुतेरे वैज्ञानिक मनोविज्ञान को शारीरिक विज्ञान का भाग समझते हैं, और शारीरिक विज्ञान को भौतिकविज्ञान का भाग बताते हैं। भौतिकविज्ञान का मौलिक सिद्धान्त यह है कि शक्ति की मात्रा स्थायी है; न घटती है, न बढ़ती है। यह सिद्धान्त स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है, क्योंकि स्वतन्त्र क्रिया का अर्थ ही यह है कि मानसिक प्रयत्न प्राकृत गति को जन्म दे सकता है। शारीरिक विज्ञान कहता है कि मानसिक क्रिया शारीरिक क्रिया पर आधारित है। जहां कहीं मानसिक क्रिया होती है, उससे पूर्व तन्तुजाल वा दिमाग़ में कोई गति हो चुकी होती है। मन का विकास, स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य शरीर के विकास, स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य के साथ चलते हैं। नवीन रसायन विद्या शारीरिक विज्ञान का समर्थन करती है। मनुष्य की ग्रन्थियों से कुछ रस निकल कर उसके रक्त में प्रविष्ट होते हैं, और इसका परिणाम उसके चरित्र में प्रकट होता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ह। किसी ग्रन्थि की अवस्था में परिवर्तन होने पर, कायर पुरुष साहसी बन जाता है; साहसी पुरुष कायर बन जाता है। इसी प्रकार के परिवर्तन से कामुक पुरुष संयमी बन जाता है, और संयमी पुरुष कामासक्त हो जाता है।

आँकड़ों की विद्या भी इस आक्रमण में सम्मिलित हो जाती है। जो कुछ प्रभाव वातावरण व्यक्ति पर डालता है, उसकी बाबत तो सन्देह होता है, परन्तु जनसमूह पर जो प्रभाव पड़ता है, वह तो स्पष्ट दीखता है। किसी विशेष समाज में आत्म-हत्या जैसी क्रिया भी निश्चित सी होती है, क्योंकि मनुष्यों का वातावरण उन्हें इस पर बाधित करता है।

विज्ञान के आक्रमण अबाध प्रतीत होते हैं, परन्तु क्या वे वास्तव में ऐसे ही हैं?

भौतिक विज्ञान कहता है कि जगत में प्राकृत शक्ति की मात्रा निश्चित है, और घट बढ़ नहीं सकती। कोई पुरुष यह नहीं कह सकता कि यह दावा प्रमाणित तथ्य है। यह वैज्ञानिकों का मत है, परन्तु व्यापक मत भी तथ्य तो नहीं होता। यदि यह मान भी लें कि प्राकृत शक्ति की मात्रा निश्चित है, तो भी स्वतन्त्रता के लिये कुछ काम रहता ही है। शक्ति की रचना मेरे वश में न हो, तो भी उसकी दिशा को निश्चित करना तो सम्भव ही है। जब कोई नहर खोदी जाती है, तो अभिप्राय यह नहीं होता कि जल की गति के लिये कोई नया नियम बनाया जाय। जल तो आकर्षण के नियम के अधीन ही नीचे की ओर बहेगा; परन्तु हम यह तो कर सकते हैं कि अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे किसी विशेष दिशा में बहा दें। प्रकृति पर मन का नियन्त्रण भी इसी प्रकार का हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि 'शक्ति की निश्चितता' का नियम स्वतन्त्रता के विरुद्ध नहीं।

शारीरिक विज्ञान ठीक कहता है कि शारीरिक अवस्था का प्रभाव मानसिक अवस्था पर पड़ता है। परन्तु यह आधा सत्य है। मन का प्रभाव भी शरीर पर पड़ता है। जहाँ शारीरिक स्वास्थ्य मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव डालता है, वहाँ मानसिक स्वास्थ्य भी शरीर के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालता है। रोगी इसे अच्छी तरह जानते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आँकड़ों की विद्या का तो जन्म ही इसलिये होता है कि सारे व्यक्तियों की हालत में कोई निश्चित नियम काम करता दिखाई नहीं देता। यह बात कि समाज में १०,००० मनुष्यों में प्रतिवर्ष २ मनुष्य आत्म-हत्या करते हैं, महत्व की बात नहीं। मेरे लिये सोचने की बात यह है कि क्या मैं, अपने यत्न से, अपने आपको ९९९८ में रख सकता हूँ, वा, बाह्य दबाव से विवश, दो हत्या करने वालों में धकेला जाता हूँ। आँकड़ों की विद्या इसकी बाबत कुछ नहीं बताती।

विज्ञान का झुकाव पराधीनतावाद की ओर है, परन्तु जो हेतु विज्ञान की विविध शाखाएं देती हैं, वे बहुत सशक्त नहीं।

६. स्वाधीनतावाद

निराधीनतावाद पर बाहर से ही आक्रमण नहीं होते, अन्दर से भी आक्रमण होता है। स्व-अधीनतावाद कहता है कि स्वत्व अधीन तो है, परन्तु यह अधीनता किसी बाह्य शक्ति की क्रिया का फल नहीं। हम किसी स्थिति में अपने बने हुए चरित्र के वशीभूत होते हैं। प्रत्येक कर्म किसी प्रेरक का फल होता है। यह प्रेरक न आकाश मंडल से गिरता है, न क्रिया के समय ही कर्त्ता इसे जन्म देता है। कर्त्ता के चरित्र ने जो आकार कर्म करने के समय तक ग्रहण किया है, वह वर्त्तमान क्रिया के रूप को निश्चित करता है। व्यक्ति स्वाधीन है, परन्तु इस अथ में कि उसका अपना चरित्र उसके कर्म का पूर्ण कारण है। इस विचार पर भी विवे-चन की आवश्यकता है।

विवेचन की सुविधा के लिए हम कल्पना करते हैं कि किसी व्यक्ति की क्रियाएं एक मिनट के अन्तर से होती हैं। अब चार बजे हैं। जो कुछ वह इस समय करता है, उसका सम्पूर्ण कारण उसकी ३-५९ की अवस्था में निहित है। वह अवस्था कैसे बनी थी? उसका सम्पूर्ण कारण ३-५८ की अवस्था में निहित था। पीछे चलते जायें, तो हम उसके जन्म काल तक पहुंच जाते हैं। वातावरण के प्रभाव की ओर ध्यान न दें, तो वही अंश रह जाता है जो माता पिता के द्वारा उसे वंश से मिला है। यदि माता-पिता और उनके पूर्वजों की बाबत पूछें, तो यही कथा जारी रहेगी। परिणाम यह है कि स्व-अधीनतावाद का आकार देखने में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रोचक है, परन्तु यह अनिवार्यवाद से भिन्न कुछ नहीं ।

यदि स्वतन्त्रता का अस्तित्व है, तो यह भी तथ्य है कि हम वर्त्तमान में अबाध क्रिया कर सकते हैं ।

स्वतन्त्रता के समर्थक यह नहीं कहते कि क्रिया में प्रेरक की आवश्यकता नहीं ; न यह कहते हैं कि हमारी प्रत्येक क्रिया स्वतन्त्र क्रिया है । वह प्रेरक की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, परन्तु यह भी कहते हैं कि प्रेरक न बदलने वाले रूप में कहीं पड़े नहीं, जहाँ से किसी निश्चत क्रम में, वा बिना क्रम के, कोई प्रेरक निकल आता है, और वह क्रिया को जन्म देता है । जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रेरक वह चेष्टा है जो किसी स्थिति में कार्य-रूप में प्रकट होती है । कहा जाता है कि यह चेष्टा अन्य विद्यमान चेष्टाओं से अधिक बलवान होती है । इसका बल बाहर से ही नहीं आता ; अन्दर से भी आता है । हम इसे चेतना-केन्द्र में रख कर, इसे बलिष्ठ बनाते हैं ।

हमारे सारे कर्म स्वतन्त्र कर्म नहीं होते । स्वाधीनता के लिये इतना ही पर्याप्त है कि कोई कर्म तो स्वतन्त्र कर्म होता है ; कुछ कर्मों में स्वतन्त्रता का अंश विद्यमान है । मेरा बोझ मुझे पृथ्वी से जकड़े रखता है, परन्तु पृथ्वी पर तो मैं चल फिर सकता हूँ । मेरा मन अपने चिन्तन में चिन्तन के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता, परन्तु उनकी निश्चित सीमाओं में तो चिन्तन करता ही है । घोड़ा चारण-भूमि में खूँटी से बँधा है । रस्सी की लंबाई उन सीमाओं को निश्चित करती है, जिनसे परे वह जा नहीं सकता ; परन्तु उन सीमाओं के अन्दर घूमने में तो वह स्वतन्त्र है । 'सीमित स्वतन्त्रता' मनुष्य की क्रिया में पाई जाती है ।

जिन तीन प्रत्ययों पर इस अध्याय में विचार हुआ है, वे सब भ्रान्ति का कारण हो सकते हैं । निराधीनतावाद यह सुझाव दे सकता है कि हमारी स्वतन्त्रता निस्सीम है ; पराधीनतावाद यह कहता है कि हमारी क्रिया में सारा प्रभाव वातावरण का है, हमारा अपना कोई भाग नहीं; स्व-अधीनतावाद अन्त में हमें वंशगत चिन्हों से अलग कुछ नहीं दिखाता । यह तीनों विचार संतोष जनक नहीं । 'सीमित स्वतन्त्रता' असंदिग्ध तथ्य है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नैतिक क्रिया के लिए यह पर्याप्त है । नैतिक दायित्व जो हमारे अनुभव में प्रमुख तथ्य है, ऐसी स्वतन्त्रता से पक्की नीवों पर स्थिर हो जाता है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिचय

'नीति विवेचन' में कई विचारकों का नाम बार बार आया है। मानव-सभ्यता के उत्थान में इन लोगों का भाग बहुत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक मनुष्य जो अपने आप को शिक्षित वर्ग में गिनता है, उनका आभारी है। उनके विचारों का उल्लेख इस पुस्तक में हुआ है। इस ख्याल से कि पाठक के लिये ये नाम-मात्र ही न रहें, इनका कुछ परिचय अनुचित न होगा।

जिन लोगों के विचारों का उल्लेख किया गया है, उनका सम्बन्ध प्रायः तीन देशों से है—यूनान, जर्मनी, और इंग्लैंड। पश्चिमी सभ्यता का जन्म यूनान में हुआ। दार्शनिक विचार वहां से रोम में पहुंचे। नवीन काल में जर्मनी में कुछ विचारकों ने शिक्षित वर्ग का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इंग्लैंड में अधिक विवेचन १८ वीं और १९ वीं शतियों में हुआ। इन विचारकों की बाबत अब कुछ शब्द कहेंगे।

(१) यूनान और रोम

साफ़िस्ट दृष्टिकोण

दार्शनिक विचार में नीति को प्रमुख स्थान देने का श्रेय साफ़िस्टों को है। जिस प्रकार के स्कूल कालेज आज कल विद्यमान हैं, वैसे यूनान में मौजूद न थे। सब से पहले साफ़िस्टों ने शिक्षण को पेशा बनाया। यूनान में वकीलों का कोई स्थान न था। प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता पड़ने पर अपनी सफाई आप करनी होती थी। साफ़िस्टों ने युवकों को युक्ति की विधि सिखाने का काम अपने हाथ में लिया। उनका अपना मन्तव्य यही था कि ज्ञान और नीति में 'सामान्य' का कोई स्थान नहीं: जो कुछ किसी को दीखता है, वही उस के लिये सत्य है; जो कुछ किसी को प्रिय लगता है, वही उसके लिये भद्र है।

सुकरात

सुकरात (४६९–३९९ बी० सी०) ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया। उसने कोई पुस्तक नहीं लिखी। उसका काम विवेचनात्मक वार्तालाप में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्य की खोज था। ऐसी खोज में प्रमुख बात यह है कि मनुष्य अपने अज्ञान से आरंभ करे—उसका भाव 'नचिकेता' का भाव हो। जो पुरुष जिज्ञासु भाव से आरंभ नहीं करता, वह कुछ जान नहीं सकता। 'साफ़िस्ट' शब्द का अर्थ 'ज्ञानवान' है। सुकरात ने अपने आप को 'फ़िलासोफ़र,' अर्थात् 'ज्ञान का प्रेमी', कहा। जिज्ञासु के लिये आत्म-ज्ञान प्रमुख ज्ञान है; उसे जानना चाहिये कि कौन से विषय उसे पतन की ओर ले जाने वाले हैं, और उनको शासन में कैसे रखा जा सकता है।

अफ़लातूं

अफ़लातूं (४२७–३४७ बी० सी०) सुकरात के शिष्यों में सबसे प्रसिद्ध था। उसने एथन्स में एक विद्यापीठ की स्थापना की, और उसे 'अकैडेमी' का नाम दिया। उसने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें कल्पित वार्त्तालापों का वर्णन है। इनमें प्रमुख वक्ता सुकरात है। अफ़लातूं ने अपनी गुरुभक्ति के प्रभाव में ऐसा किया। इस क्रम को अपनाने का फल यह हुआ है कि उसकी पुस्तकों से यह पता लगाना कठिन है कि कौन से विचार सुकरात के हैं, और कौन से अफ़लातूं के अपने विचार हैं।

अरस्तु

अरस्तु (३८४–३२२ बी० सी०) सुकरात की मृत्यु के १५ वर्ष पीछे पैदा हुआ। वह अफ़लातूं का सबसे बड़ा शिष्य था। अफ़लातूं ने तो अपनी गुरु-भक्ति में अपनी शिक्षा को सुकरात के मुख से कहलवाया; अरस्तु ने गुरु-भक्ति को अफ़लातूं के सिद्धान्त की समालोचना का रूप दिया, और, इस तरह, अपने गुरु के काम को आगे बढ़ाया। अफ़लातूं और अरस्तु के दृष्टिकोण में मौलिक भेद था। एक चित्रकार ने इस भेद को उनके चित्रों में व्यक्त किया है। अफ़लातूं की दोनों आंखें ऊपर आसमान की ओर उठी हैं; अरस्तु की एक आंख आसमान की ओर उठी है, और दूसरी पृथ्वी पर जमी है। अफ़लातूं प्रत्ययों की दुनिया का वासी था; अरस्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक एक साथ था। उसने विशेष विषयों पर अलग पुस्तकें लिखीं, जो आज भी आदर के साथ पढ़ी जाती हैं।

सुकरात, अफ़लातूं, और अरस्तु ने जो छाप पश्चिमी सभ्यता पर लगा दी है, उसकी उपमा कहीं और, एक दूसरे के पीछे आनेवाले तीन मनुष्यों की हालत में, नहीं मिलती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एपिक्युरस

अरस्तु के पीछे यूनान के दार्शनिकों में एपिक्युरस (३४२–२७० बी सी०) का नाम प्रसिद्ध है। उसका सिद्धान्त रोम में बहुत प्रिय हुआ। नीति में वह भोगवाद का समर्थक था। उसके विचार में जीवन में कल्याण ही अन्तिम साध्य है। ज्ञान का स्थान केवल साधन का है। जिस ज्ञान का प्रभाव इस कल्याण की वृद्धि पर नहीं पड़ता, वह बेकीमत है। ज्ञान में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। कल्याण का तत्व सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति है। यह सुख वर्तमान क्षण की तृप्ति नहीं, अपितु जीवन की तुष्टि है। मानसिक सुख शारीरिक सुख से अधिक मूल्य रखता है, क्योंकि इसमें स्मृति और आशा के सुख भी सम्मिलित हैं। एपिक्युरस ने अंग्रेज़ी शब्द-कोश को भी एक शब्द प्रदान किया है। 'एपिक्युर' का अर्थ—'खाने पीने और मौज करने वाला पुरुष,' है। वास्तव में एपिक्युरस की शिक्षा यह न थी।

(२) जर्मनी के दार्शनिक

नीति के सम्बन्ध में तीन नाम प्रमुख हैं—कांट, हेगल, और नीटशे। तीनों प्रोफ़ेसर थे, और तीनों ने कई पुस्तकें लिखीं।

कांट

कांट (१७२४–१८०४) का स्थान आधुनिक दर्शन में बहुत ऊँचा है। फलों में कुछ शीघ्र पकते हैं, कुछ पकन में बहुत समय लेते हैं। ऐसा ही भेद मानसिक विकास में होता है। कांट के मन का विकास बहुत आहिस्ता हुआ। उसने अपनी पहली बड़ी पुस्तक को ५० वर्ष की आयु के बाद लिखना आरम्भ किया। इससे कई वर्ष पूर्व उसने तत्व-ज्ञान को ठंडी पवन से, जो ऊपर वायुमण्डल में चलती है, उपमा दी थी। उसे मालूम न था कि स्वयं उसके विचार दर्शन में एक आंधी का रूप धारण करेंगे। मनुष्य के मन और प्रकृति की दुनिया के आपस के सम्बन्ध को उसने एक नए रूप में पेश किया। साधारण विचार के अनुसार, बाह्य पदार्थ 'देश' में हैं, घटनाएं 'काल' में होती हैं, और घटनाओं में 'कारण-कार्य' का सम्बन्ध है, जिसे समझना हमारा प्रमुख काम है। कांट ने कहा कि देश, काल, और कारण-कार्य की अमावनी सत्ता ही नहीं। ये अंश तो हम अपनी ओर से बाह्य जगत में प्रविष्ट करते हैं। इस तरह कांट ने प्रथम स्थान मन को दिया। नीति में इस दृष्टिकोण का फल यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुआ कि कांट ने नैतिक नियम का नियन्ता वा विधायक भी मानस को बनाया।

हेगल

हेगल (१७७०–१८३१) ४६ वर्ष की आयु में प्रोफ़ेसर नियुक्त हुआ, और १५ वर्ष यह कार्य करता रहा। उसका सिद्धान्त कठिन है, और उसकी भाषा भी कठिन है। एक प्रचलित कथन के अनुसार, मृत्यु से पूर्व उसने कहा— 'मेरे एक शिष्य ने ही मुझे समझा है, और उसने भी ग़लत समझा है।' उसके सिद्धान्त की बाबत बहुत मतभेद है। शापनहावर ने तो कहा कि जर्मनी के लोगों की बेसमझी का एक प्रमाण यह है कि वह हेगल जैसे अबोध पुरुष को दार्शनिक समझते हैं।

नीटशे

फ्रेड्रिक नीटशे (१८४४-१९००) की आयु के पहले २५ वर्ष पढ़ने सीखने में लगे। शेष भाग के पहले दस वर्ष पढ़ाने में, दूसरे आठ-दस वर्ष पुस्तकें लिखने में, और अन्तिम ग्यारह वर्ष पागलपन में गुज़रे। नीटशे क्षात्रधर्म का भक्त था। उसके विचारों ने जर्मनी को क्षात्रधर्म का भक्त बना दिया। नवीन काल में शायद ही किसी विचारक का प्रभाव, अपने देश में, इतना व्यापक और इतना गहरा हुआ हो।

(३) इंग्लैंड के विचारक

इंग्लैंड के विचारकों में हम यहाँ इन लोगों की ओर संकेत करेंगे—

(क) हाब्स और उसके आलोचक

(ख) भोगवाद के समर्थक

(ग) विकासवाद का समर्थक, स्पेन्सर

(क) हाब्स और उसके आलोचक

हाब्स (१५८८–१६७९) की प्रमुख पुस्तक राजनीति पर है। राजनीति में व्यक्ति का कल्याण इसी में है कि राज-नियम को चूंचरा किये बिना माने। समस्त राज्यों में सर्वाधिकारी शासक का शासन उत्तम है। हाब्स के विचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में नीति राजनीति का अंश ही है। इसकी नींव अन्त में व्यक्ति के स्वार्थ पर है; परन्तु इसका रंग-रूप बहुमत वा समझौते से निश्चित होता है।

हाब्स के आलोचकों का प्रमुख काम नीति को राज-नीति से स्वतन्त्र करना था। उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि शुभ और अशुभ का भेद प्राकृत है। इसके साथ यह भी बताया कि इस भेद को कैसे जान सकते हैं।

इन आलोचकों में, जैसा हम आशा कर सकते हैं, पादरियों और प्रोफ़ेसरों ने विशेष भाग लिया। कडवर्थ (१६१७–१६८८) और बटलर (१६९२–१७५२) पादरी थे; हचिसन (१६९४–१७४४) और ऐडम स्मिथ (१७२३–१७९०) नीति के प्रोफेसर थे। क्लार्क (१६७५–१७२९) ने धर्म और दर्शन पर पुस्तकें लिखीं। शैफ्ट्सबरी (१६७१–१७१३) उच्चवर्ग से सम्बन्ध रखता था। उसका नाम एन्थोनी ऐश्ले कूपर था। पीछे वह शैफ्ट्सबरी का तीसरा अर्ल बना, और लार्ड शैफ्टसबरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने दर्शन और नीति पर कई पुस्तकें लिखीं।

(ख) भोगवादी विचारक

भोगवाद पर लिखने वालों में बैन्थम और मिल के नाम बहुत विख्यात हैं। बैन्थम (१७४८–१८३२) ने राज–नीति, विधान, और नीति पर बहुत सी पुस्तकें लिखीं। फ्रांसीसी भाषा में इनका अनुवाद हुआ, और इससे उसके विचार यूरोप में अभिव्यक्त हो गये। इंग्लैंड में जेम्स मिल ने और उसके विख्यात पुत्र जान स्टूअर्ट मिल ने उनका प्रसार किया।

जान स्टूअर्ट मिल (१८०६–१८७३) की शिक्षा घर में ही उसके पिता की देखरेख में हुई। उसने बहुत सी पुस्तकें लिखीं। इन सब में अधिक विख्यात दो पुस्तकें हैं, जिनसे उसने आरम्भ किया; 'न्याय शास्त्र' १८४३ में, और 'अर्थशास्त्र' १८४८ में प्रकाशित हुई। अब भी ये दोनों अपने विषयों में प्रामाणिक पाठ–पुस्तकें हैं। एक बार वह पार्लिमेन्ट का सदस्य चुना गया। वहाँ उसे समझने वाले कितने होंगे? असफल रहना था; असफल ही रहा।

हेनरी सिजविक (१८३८–१९००) नीति और अर्थशास्त्र दोनों विषयों में निपुण था। वह अपने समय के अति विख्यात और सफल प्रोफेसरों में था। उसका शान्त स्वभाव और उच्च आचार भी आकर्षण का केन्द्र थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ग) हर्बर्ट स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३) एक लिहाज से एक विशेष श्रेणी में था। सात वर्ष एक पत्र का उप-सम्पादक रहा। १८५० में विकासवाद पर एक पुस्तक लिखी। १८६० में अपनी प्रमुख पुस्तक 'सिन्थेटिक फ़िलासोफी' का लिखना आरम्भ किया, और १० जिल्दों में उसे समाप्त किया। इस पुस्तक में उसने यह बताने का यत्न किया कि विकास का प्रत्यय प्राकृत जगत, जीवन, मन, और मानव समाज में हर कहीं लागू होता है। एक ही प्रत्यय के अध्ययन और चिन्तन में सर्वथा विलीन हो जाने का यह एक अनुपम उदाहरण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Glossary

English—Hindi

Absolute	निरपेक्ष
Abstraction	कल्पना
Action	कर्म, क्रिया
,, Automatic	अनायास क्रिया
,, Reflex	सहज क्रिया
,, Instinctive	मूल-प्रवृत्ति
,, Ideomotor	विचार-जन्य क्रिया
,, Voluntary	संकल्पित क्रिया
Aesthetic Sense	रसेन्द्रिय
Altruism	सर्वार्थवाद
Analysis	विश्लेषण
A Posteriori	अनुभव-अपर
Appetite	तृषा
A Priori	अनुभव-पूर्व
Art	कला
Anti-thesis	प्रति-धारणा
Asceticism	निरोधवाद
Biology	प्राण-विद्या
Character	चरित्र, आचार
Communism	साम्यवाद
Concept	प्रत्यय
Conduct	आचरण
Consciousness, State of	चेतनावस्था
Conscience	जमीर
Contract	इक़रार, मुआयदा
Convention	मर्य्यादा, स्वीकृत प्रथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Determinism	पराधीनतावाद
Dualism	द्वन्द्व
Egoism	स्वार्थवाद
Emotion	उद्वेग
End	साध्य, उद्देश्य
Ethics	नीति
,, Jural	वैधानिक नीति
,, Teleological	लक्ष्यात्मक नीति
Evil	अभद्र, अशुभ
Evolution	विकास
,, Theory of	विकासवाद
Fact	तथ्य
Fallacy	तार्किक दोष
,, of Composition	संग्रह-दोष
,, of Division	विग्रह-दोष
Fatalism	भाग्यवाद
General (Universal)	सामान्य
Good	भद्र, शुभ
,, Highest	नि:श्रेयस, सर्वश्रेष्ठ भद्र
,, Extrinsic	साधन-भद्र
,, Intrinsic	साध्य-भद्र
Happiness	तुष्टि, सुख
Harmony	सामंजस्य, संतुलन
Hedonism	भोगवाद
,, Ethical	नैतिक भोगवाद
,, Psychological	मनोवैज्ञानिक भोगवाद
,, Egoistic	वैयक्तिक भोगवाद, स्वार्थवाद
,, Universalistic	सर्वजनीन भोगवाद
,, Extreme	अतीत भोगवाद
,, Moderate	मध्यवर्ती भोगवाद
,, Empirical	अनुभूत भोगवाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Hedonism, Scientific (Evolutionary)	वैज्ञानिक भोगवाद
Ideal	आदर्श
Idealism	आदर्शवाद
Indeterminism	निराधीनतावाद
Institution	व्यवस्था
Intention	प्रयोजन
Intuition	आन्तरिक-बोध
Intuitionism	आन्तरिक-बोधवाद
Judgment	निर्णय
Logic	तर्क शास्त्र, न्याय
Metaphysics (Philosophy)	तत्व-ज्ञान, दर्शन
Moral Sense	नैतिक इन्द्रिय, नैतिक बोध
Motive	प्रेरक
Necessitarianism	अनिवार्यवाद
Need (Organic)	कायिक आवश्यकता
Normative Science	नियामक विद्या
Obligation	बाध्यता
Organization	संस्था
Particular	विशेष
Pleasure	तृप्ति
Perfectionism	संपूर्णतावाद
Pluralism	अनेकवाद
Rational Being	बुद्धि-वंत, बुधान जीव
Reality	सत्ता
Reason	बुद्धि
,, Practical	व्यावहारिक बुद्धि
,, Pure	विशुद्ध बुद्धि
Relative (Conditional)	सापेक्ष
Responsibility	दायित्व
Right	अधिकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Sanction	दबाव
Scepticism	शंकावाद
Self	स्वत्व
Self-determinism	स्वाधीनतावाद
Self-love	स्वप्रेम
Self-realization	आत्म–सिद्धि
Self-suppression (theory of)	निरोधवाद
Sentiment	भावना
Standard	कसौटी
State	राष्ट्र
Summum Bonum	निःश्रेयस
Superman	शुभ्र मनुष्य
Synthesis	समन्वय
Tendency	प्रवृत्ति
Thesis	धारणा
Tradition	परम्परा
Utilitarianism	उपयोगितावाद
,, Rational	बौद्धिक उपयोगितावाद
,, Ideal	आदर्श उपयोगितावाद
Value	मूल्य
Vice	नैतिक पतन
Virtue	वृत्त
Want	मांग
Will	संकल्प
,, General	सामान्य-संकल्प

BVB Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
301

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai